हिन्दी के
सात युगान्तरकारी उपन्यास

(सेवासदन, गबन, त्याग-पत्र, चित्रलेखा, गोदान,
शेखर : एक जीवनी, दिव्या)

लेखक
रामप्रकाश कपूर
एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स
वाराणसी।

[मूल्य ४)

स्वर्गीय माँ की पावन स्मृति में

मातृ-स्नेह वंचित अभागा पुत्र,

प्रकाश

अपनी ओर से

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी के उन सात विशिष्ट उपन्यासों का विवेचन किया गया है जो हमारे उपन्यास साहित्य की प्रगति की विभिन्न स्थितियों के स्मारक हैं।

यह मेरा प्रथम प्रयास है। इसके सम्बन्ध में क्या कहूँ, सहृदय विद्वान और आलोचक इसका विचार स्वयं करेंगे। हाँ, इतना कह देना आवश्यक समझता हूँ कि इसमें मैंने एकेडिमिक आलोचना की की गुरु गंभीर शुष्क वर्णन प्रणाली से बचने का प्रयास किया है। ऐसा करने में यदि कहीं मेरे कहानीकार का रंग आ गया हो तो उसे मेरी विवशता जान पाठकगण क्षमा करें।

इस आलोचना पुस्तक को लिखने में मेरा प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि जिज्ञासुओं को विवेच्य उपन्यासों की विविध विशेषताओं का सीधा और विशद परिचय मिल जाय। इस उद्देश्य में मुझे कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय पाठकगण करेंगे। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने इसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है।

आदरणीय प्रोफेसर डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद जी शर्मा ने 'परिचय' लिखकर तथा गुरुदेव श्रद्धेय डाक्टर हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने अपना शुभाशीर्वाद प्रदान कर मेरा उत्साह-संवर्धन किया है, जिसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रोफेसर विजयशंकरजी मल्ल के प्रति कृतज्ञता मैं किन शब्दों में प्रकट करूँ, पूरी पुस्तक उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन का फल है!

इस पुस्तक में जो भी विशेषताएँ हैं वे मेरे गुरुजनों की कृपा का परिणाम है। त्रुटियाँ भी होंगी जिनका पूरा उत्तरदायित्व मुझ पर है। विद्वानों और पाठकों के रचनात्मक सुझावों का मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वागत करूँगा।

वाराणसी
१४ मई '५८

रामप्रकाश कपूर

आशीर्वाद

मेरे प्रिय शिष्य रामप्रकाशजी कपूर ने हिंदी के सात अच्छे और महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की यह आलोचना लिखी है। कपूरजी नवयुवक साहित्यकार हैं, उनकी विवेचनात्मक दृष्टि बहुत भेदक है। आशा है उनका यह प्रथम प्रयास सहृदयों को पसंद आएगा। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि वे स्वस्थ और प्रसन्न और दीर्घायु हों और नित्य नवीन उत्साह के साथ साहित्य-सेवा करते रहें।

काशी विश्वविद्यालय
१३–५–'५८

हजारी प्रसाद द्विवेदी

परिचय

गत तीन दशकों के भीतर हिन्दी-आलोचना की विशेष अभिवृद्धि हुई है। चिंतन की सूक्ष्मताओं के साथ-साथ विविध प्रकार की समीक्षात्मक शैलियों का भी उद्भव और विकास होता गया है। छोटे मुँह बड़ी बात यदि इसे न कहा जाय तो इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है इतने लघु काल के भीतर जैसी समृद्धि हिन्दी के इस पक्ष की हुई है वह अभूतपूर्व है। यों तो सामान्यत: सभी प्रकार और कोटियों की रचनाएँ समीक्षा जगत् में आती गई है पर हिन्दी साहित्य को जिस क्रम से अध्ययन-अध्यापन के क्षेत्र में प्रवेश मिलता गया है उसी क्रम से निरंतर तात्विक अथवा विश्लेषण-परक शैलियों को अधिकाधिक सम्मान मिलता गया है। यही कारण है कि इधर आकर निरंतर ऐसी कृतियों की ओर लोग अधिक प्रवृत्त हो रहे हैं जिनमें विभिन्न तत्वों की पृथक् पृथक् विवेचना और साथ ही उनके सामूहिक संगठन-प्रभाव का आकलन अधिक दिखाई पड़ता है। इस ढंग अथवा शैली की समीक्षाओं की यदि संज्ञा का निर्धारण आवश्यक हो तो हम इसे तात्विक-विश्लेषण (Elemental desection), औपचारिक परीक्षा (Formal criticism) अथवा शास्त्रीय समीक्षा (Acadamic treatment) कह सकते हैं।

इस शैली की आलोचना में मुख्य बात यह होती है कि समीक्षक इसके पूर्व कि वह किसी कृति का औपचारिक विश्लेषण उपस्थित करे उसके आधारिक तत्वों का अस्तित्व स्वीकार कर लेता है और उन तत्वों का अलग अलग उस कृति के साथ क्या लगाव है इसका स्वरूप समझा देता है; तदनंतर उस कृति के भीतर उन तत्वों की कैसी सामूहिकता दृष्टिगोचर होती है इसका विचार उपस्थित करता है। किसी कृति का निर्माण कुछ तत्वों के सामूहिक योग पर आश्रित रहता है और जब तक विवेचक उन तत्वों के दृष्टिकोण से उस कृति विशेष की परीक्षा नहीं कर लेता तब तक उस कृति की समग्रता का ठीक ठीक स्वरूप वह निर्धारित नहीं कर पाता। इसीलिए सच्चे प्राध्यापक की भाँति शास्त्रीय समीक्षक भी किसी रचना, ग्रंथ अथवा कृति की परीक्षा करते समय उसके संयोजक विभिन्न तत्वों का सर्वेक्षण, अथवा अनुशीलन करना आवश्यक समझता है। इस पद्धति से चलकर जब वह अपनी परीक्षा अथवा समीक्षा पूरी करता है तब उसकी समस्त उपलब्धि में एक प्रकार का बौद्धिक संतुलन उत्पन्न हो जाता है। यही संतुलन शास्त्रीय आलोचना का प्राण होता है। कुछ लोग इस कोटि की समालोचना में बौद्धिक रुक्षता अथवा एकांगिता का आरोप

अवश्य उपस्थित करते हैं पर सहृदयता ऐसी तरल वस्तु है कि पानी की तरह सर्वत्र अपने लिए कोई न कोई मार्ग ढूँढ़ ही लेती है। यही कारण है कि शास्त्रीय चिंतन में अनुरक्त समीक्षक भी कहीं न कहीं अवसर पाकर प्रभावाभिव्यंजकता के चक्कर में पड़ ही जाता है।

प्रस्तुत रचना में श्री रामप्रकाश कपूर की विवेचना-पद्धति कुछ इसी कोटि की दिखाई पड़ती है—भले ही स्थान स्थान पर उसकी भावुकता भी अपना आग्रह उपस्थित करती मिले। विषय के भीतर मनोयोगपूर्वक प्रवेश कर समस्त आभ्यंतरिक सूक्ष्मताओं के आकलन की स्वच्छ शक्ति उसमें दिखाई पड़ती है। मुझे इस कृति के भीतर जो अनपन दिखाई पड़ता है वह मेरे लिए संतोष और सुख का विषय है। इसी प्रकार यदि स्वस्थ बुद्धि का योग लेकर और सर्वांगीण परीक्षाविधि को अपनाकर यह कृतिकार सरस्वती के प्रांगण में विचरता रहा तो मुझे विश्वास है कि वाणी का प्रसाद उसे अवश्य प्राप्त होगा।

औरंगाबाद, काशी
१४-५-'५८

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

विषय-सूची

सेवासदन

हिन्दी में 'सेवासदन' का प्रकाशन एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना है। यह हिन्दी का पहला युगान्तरकारी सामाजिक उपन्यास है। प्रेमचन्द ने अपने लिये जीवन का विशाल पट चुना। अपनी रचनाओं में उन्होंने जीवन की नानाविध परिस्थितियों का प्रभावपूर्ण अंकन किया। प्रेमचन्द का साहित्य अपने समय की राष्ट्रीय जागृति, संघर्ष और समाज की विपन्न अवस्था का जीता-जागता इतिहास उपस्थित करता है। अपनी रचनाओं में समाज के निम्नवर्ग, किसानों तथा पराधीन स्त्रियों की दयनीय स्थिति का उन्होंने जैसा विस्तृत और बहुविधि चित्रण किया है, वैसा भारत का संभवत: कोई कथाकार नहीं कर पाया है। यथार्थ चित्रण की इस प्रवृत्ति के कारण प्रेमचन्द एक अर्थ में 'यथार्थवादी' कहे जा सकते हैं। 'मोपासाँ' के अनुसार—"यथार्थवादी, यदि वह कलाकार है तो, हमारे सामने जीवन और जगत् की फोटो मात्र नहीं खींचेगा वरन् एक ऐसी जीवन दृष्टि (vision) भी देगा, जो स्वयं यथार्थता से अधिक पूर्ण, अधिक तेज और अधिक विश्वसनीय होगी!"[1]

प्रेमचन्द में इसी जीवन-दृष्टि को 'आदर्श' के रूप में हम प्रतिष्ठित पाते हैं। वह साहित्य को जीवन का स्थूल दर्पण न मानकर, 'दीपक' मानते हैं, जिसके प्रकाश में हमारा जीवन आगे बढ़ता है। इसीको 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' भी कहते हैं। 'सेवासदन' में लेखक अपने इसी दर्शन से प्रभावित है। सुमन को पुनः वेश्या से ऊपर उठाने की चेष्टा एवं 'सेवासदन' को स्थापना—इसी 'आदर्श' या सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रेरित है। कदाचित् इसी कारण कुछ 'नीर-क्षीर विवेकी' समीक्षक, 'सेवासदन' के अन्तिम अंश को अस्वाभाविक एवं प्रभावान्विति में बाधक मानते हैं। परन्तु 'सेवासदन' के महत्त्व का सही मूल्यांकन तभी किया जा सकता है, जब हम 'सेवासदन' के प्रकाशन से पूर्व के हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक युग को भी अपनी दृष्टि से ओझल न होने दें। सन् १८८२ से सन् १९१५ तक हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक संक्रान्ति काल या प्रयोग-काल था। उस युग में 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलस्म-होशरूबा' के पाठक लाखों थे। १९१६ के लगभग 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। यह एक ऐतिहासिक घटना कही जा सकती है। प्रेमचन्द का युगान्तरकारी कार्य 'चन्द्र-कान्ता' के लाखों पाठकों को 'सेवासदन' पढ़ने को प्रेरित करने में लक्षित होता है। उन्होंने हिन्दी उपन्यास को तिलस्म और ऐय्यारी के मायालोक एवं उपदेश तथा

---

[1] मोपासाँ के अनुसार—"The realist, if he is an artist will seek not to give us banal photography of the world but a vision o it, that is fuller, sharper, more convincing than reality itself!"

नैतिकता के स्थूल आग्रह वाले संकीर्ण घेरे से मुक्त कर, वास्तविक सामाजिक समस्याओं की स्वस्थ पीठिका प्रदान की। काल्पनिक, अवास्तविक, विस्मयपूर्ण अलौकिक घटनाओं का बहिष्कार कर 'सेवासदन' में उन्होंने यथार्थ जीवन का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया। 'सेवासदन' में पहली बार यथार्थ जीवन का दुःखदर्द विश्वसनीय ढंग से चित्रित मिलता है। इसके कथानक का सुसंगठन भी अपूर्व है। यही इसकी मौलिकता का मूल कारण भी है।

कथा

'सेवासदन' इस वाक्य से प्रारम्भ होता है—'पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दरोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।'[1]

पहले ही वाक्य में पुलिस-विभाग पर मार्मिक छींटाकशी मिलती है। पचीस वर्ष की लम्बी अवधि तक दरोगा कृष्णचंद्र अपनी ईमानदारी के कारण एक पैसा भी अतिरिक्त नहीं कमा पाये। पुलिस-विभाग में यह अपवाद-स्वरूप ईमानदार दरोगा थे। इनकी सती-सध्वी पत्नी गङ्गाजली ने सदैव उन्हें कुमार्ग पर जाने से बचाया। इनकी दो सुन्दरी पुत्रियाँ थीं, सुमन और शान्ता। दरोगाजी को षोडशी सुमन के विवाह की चिन्ता सवार हुई। युवा पुत्री के हाथ पीले करने के लिये उन्होंने प्रयत्न प्रारम्भ किया। दहेज के विकराल राक्षस के भयंकर मुख ने, उनके जीवन की सारी ईमानदारी के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा दिया। प्रेमचन्दजी ने सुमन के पिता कृष्णचन्द्र की कठिनाइयों का जिक्र बहुत ही मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत किया है।

'इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षित सज्जनों को उनसे सहानुभूति थी, पर वह एक न एक ऐसी पख निकाल देते थे कि दरोगाजी को निरुत्तर हो जाना पड़ता। एक सज्जन ने कहा, महाशय, मैं स्वयं इस कुप्रथा का जानी दुश्मन हूँ, लेकिन करूँ क्या! अभी पिछले साल लड़की का विवाह किया, दो हजार रुपये केवल दहेज में देने पड़े, दो हजार और खाने-पीने में खर्च पड़े, आप ही कहिये यह कमी कैसे पूरी हो?'

'दूसरे महाशय इनसे अधिक नीतिकुशल थे। बोले, दरोगाजी, मैंने लड़के को पाला है, सहस्रों रुपये उसकी पढ़ाई में खर्च किये हैं। आपकी लड़की को इससे उतना ही लाभ होगा जितना मेरे लड़के को। तो आप ही न्याय कीजिए कि यह सारा भार मैं अकेले कैसे उठा सकता हूँ।'[2]

प्रेमचन्द ने इस प्रकार अत्यंत कलात्मक ढंग से समाज के तथाकथित शिक्षित लोगों की पोल खोलकर रख दी है। धन के आगे मनुष्यता का लोप हो गया था। भारत में अँग्रेजी राज्य के शिक्षित नौजवानों की शिक्षा का आदर्श कितना ऊँचा था—जितनी ऊँची डिग्री प्राप्त हो, उतनी अधिक रकम दहेज में माँगो। समाज की

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ३, २. वही—पृष्ठ ५-६

इस विषमता से व्यथित दरोगा कृष्णचन्द्र भी यह सोचने को मजबूर हो जाते हैं, उनके चिरसंचित विश्वासों की जड़ हिल उठती है—"धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख लिया, अब लोगों के खूब गले दबाऊँगा, खूब रिश्वत लूँगा !!"[1]

दरोगाजी के इलाके में एक महन्त रामदास रहते थे। धर्म के नाम पर उनका सारा व्यापार चलता था। धर्म की 'रामनामी' चादर ने महन्त रामदास के सारे पाखंड एवं शोषण पर एक आकर्षक पर्दा डाल दिया था। हल पीछे जो पाँच रुपया चन्दा माँगा जा रहा था, उसे देने से इन्कार करने पर चेतू अहीर की हत्या कर दी जाती है। संभव है 'बाँकेबिहारी' का शाप उस अहीर को दूसरे लोक में भी चैन से न रहने दे, और 'नरक' ही उसके भाग्य में बदा हो ! लेकिन इस लोक में तो खून से रँगे अपने हाथ छिपाने के लिये महन्त रामदास को चाँदी की चादर आगे फैलाने की सख्त जरूरत थी। दरोगा कृष्णचन्द्र भी अपनी परिस्थिति से बँधे थे। तीन हजार में सौदा तय हुआ। इधर विवश कृष्णचन्द्र भी घूस लेने को जीवन में पहली बार तैयार हुए।

कृष्णचन्द्र की निष्पाप आत्मा काँप उठी। प्रेमचन्द ने अत्यंत कुशलतापूर्वक उस स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। दरोगाजी ने अपनी स्त्री गङ्गाजली के भी विचार जानने चाहे। खुलकर कहने का साहस न हुआ। बात को लपेटकर, प्रतीकों के सहारे कहना ही उचित समझा।

'अन्त में कृष्णचन्द्र बोले—यदि तुम नदी के किनारे खड़ी हो और पीछे से एक शेर तुम्हारे ऊपर झपटे तो क्या करोगी ?

गङ्गाजली इस प्रश्न का अभिप्राय समझ गई। बोली, नदी में चली जाऊँगी।

कृष्ण०—चाहे डूब हो जाओ ?

गंगा०—हाँ, डूब जाना शेर के मुँह में पड़ने से अच्छा है।

कृष्ण०—अच्छा, यदि तुम्हारे घर में आग लगी हो और दरवाजों से निकलने का रास्ता न हो तो क्या करोगी ?

गंगा०—छत पर चढ़ जाऊँगी और नीचे कूद पड़ूँगी !'[2]

दरोगाजी साहस कर कूद तो पड़े, लेकिन हाथ-पैर चलाना नहीं जानते थे। उन्हें डूबना पड़ा। पाँच वर्ष कैद हो गयी, जो हाइकोर्ट से अपील द्वारा १ वर्ष घटा दी गई। जिस समय दरोगाजी की गिरफ्तारी होती है, प्रेमचन्द ने उस अवसर का अत्यंत करुण चित्र खींचा है। दरोगाजी जब बाहर जाने लगते हैं तो दोनों लड़कियाँ आकर उनके पाँवों से लिपट जाती हैं। पत्नी गंगाजली ने दोनों हाथों से उनकी कमर पकड़ ली और तीनों चिल्लाकर रोने लगीं। छः नाजुक कलाइयों का बंधन और हिचकियों का करुण स्वर भी, दरोगा जी को कानून के पंजे से मुक्त न करा सका। कातर कृष्णचन्द्र, इन अबलाओं को ईश्वर के सहारे ही छोड़कर चल देते हैं। और 'गंगाजली ने उन्हें पकड़ने

---

1. 'सेवासदन'—पृष्ठ ६, २. वही—पृष्ठ ११

को हाथ फैलाये, पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गये, जैसे गोली खाकर गिरनेवाली किसी चिड़िया के दोनों पंख खुले रह जाते हैं !'[१]

गंगाजली के भाई पंडित उमानाथ इन अबलाओं को अपने यहाँ ले जाकर आश्रय देते हैं। उनकी धर्मपत्नी जाह्नवी को यह अनुचित लगा। उसकी दोनों लड़कियाँ भी अब इन 'अबलाओं' से दूर-दूर रहतीं। लेकिन उमानाथ इतने कठोर न थे। सुमन के विवाह की चिन्ता उन्हें कम न थी। वर की तलाश में देहातों की धूल छाननी उन्होंने शुरू की। फिर शहर की ओर आँखें फेरीं, वहाँ की हवा ही दूसरी थी। दफ्तरों के मुसद्दी और क्लर्क भी हजारों का राग अलापते। उमानाथ की दशा 'औषधियों के विज्ञापन बाँटनेवाले उस मनुष्य की-सी हो गयी जो दिन-भर बाबू-सम्प्रदाय को विज्ञापन देने के बाद संध्या को अपने पास विज्ञापनों का एक भारी पुलिन्दा पड़ा हुआ पाता है और उस बोझ से मुक्त होने के लिये उन्हें सर्वसाधारण को देने लगता है। उन्होंने मान, विद्या, रूप और गुण की ओर से आँखें बन्द करके केवल कुलीनता को पकड़ा।'[२]

उमानाथ पंडित गजाधर प्रसाद को पसन्द करते हैं। इनकी पहली पत्नी मर चुकी है। अवस्था भी कम नहीं है, परन्तु बिना दहेज लिये एक कन्या का 'उद्धार' करने को तैयार हो जाते हैं—यही क्या कम है ! उमानाथ अपनी बहन को इस प्रकार समझाते हैं—'शहर में कोई बुड्ढा तो होता नहीं। जवान लड़के होते हैं और बुड्ढे जवान, उनकी जवानी सदा बहार होती है। वही हँसी-दिल्लगी, वही तेल-फुलेल का शौक। लोग जवान ही रहते हैं और जवान ही मर जाते हैं !'[३]

अपने 'सदाबहार' दामाद को देखकर गङ्गाजली बहुत रोई। उसे ऐसा दुःख हुआ 'मानों किसी ने सुमन को कुएँ में डाल दिया' हो। उपन्यास की वास्तविक समस्या यह है—लड़कियों को कुएँ में ढकेलना, फिर सामाजिक सदाचार और मर्यादा के तराज़ू पर उसके कर्मों को तौलना। सतीत्व और पातिव्रत धर्म के पालन की आकांक्षा उस बेजबान बलि-पशु से की जाती है, जिसे अपनी इच्छा के विरुद्ध इस 'यज्ञ' में अपने को 'होम' करना पड़ता है। सामाजिक सदाचार के तथाकथित ठेकेदार और प्रतिष्ठित व्यक्ति, लड़की में राशि-वर्ण ही नहीं ढूँढ़ते, साथ में एक बड़ी 'गठरी' भी चाहते हैं। चाँदी के तराज़ू पर जिस समाज में किसी के 'अरमान' तौले जाते हैं, सोने के तारों के सहारे जहाँ गठबन्धन किया जाता है, वहाँ 'कुण्डली' भले ही मिल जाय—'मन' नहीं मिल सकता। टूटे हुए मन के खँडहर पर, सतीत्व और धर्म का जलनेवाला दीपक, धुआँ भले ही छोड़े परन्तु प्रकाश नहीं दे सकता।

पन्द्रह रुपये माहवार के नौकर गरीब गजाधर प्रसाद की, तीन रुपये महीने वाली, सीलनभरी दो छोटी-छोटी अँधेरी कोठरी में पहुँचकर, सुमन व्यथित हो उठी। वहाँ प्रकाश की कोई किरण न थी। उसकी सारी आशाओं एवं भविष्य के तमाम सुन्दर सपनों पर पानी फिर गया। अभाव की गोद में पलनेवाली सुमन का स्वभाव

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ १६, २. वही—पृष्ठ १८, ३. वही—पृष्ठ १९

परिवर्तित हो गया। गृह-प्रबंध भी वह मनोयोगपूर्वक न कर पाती। एक गृह-वधू के अनुरूप उसमें पर्याप्त आत्माभिमान भी रहता है। परन्तु 'मौलूद' के उत्सव के दिन, अपने मकान के सामने रहनेवाली भोली नामक वेश्या के यहाँ समाज के कुलीन व्यक्तियों का जमावड़ा देखकर उसके परंपरागत संस्कारों को ठेस लगती है। नित्य गंगा-स्नान कर सुमन अपने को धर्म के क्षेत्र में भोली से श्रेष्ठ समझती है। परन्तु राम-जन्मोत्सव पर मंदिर के प्रांगण में वेश्या भोली का गायन और सम्मान देखकर उसकी धार्मिकता समूल हिल उठती है। अनेक अबूझ प्रश्न उसके मन की दीवारों पर तैर जाते हैं।

गजाधर प्रसाद की दशा उस मनुष्य की सी थी, जो चोरों के बीच में अशर्फियों की थैली लिये बैठा हो। सुमन का वह मुखकमल, जिस पर वह भौंरे की भाँति मँडराया करता था, अब उसकी आँखों में जलती हुई आग के समान था। उसे भय लगता था कि कहीं वह मुझे जला न दे। उसकी दृष्टि में पति-प्रेम ही स्त्रियों का सौन्दर्य था। वह उसे अपने कठोर अनुशासन में रखना चाहता था। सुमन का सुभद्रा एवं पद्मसिंह वकील से आकस्मिक परिचय होता है। शंकालु गजाधर इससे भी अप्रसन्न है।

पद्मसिंह वकील म्युनिस्पल मेम्बर बनते हैं। विजय के उल्लास में उनके यहाँ महफिल होती है। भोली बाई का गाना होता है। सुमन भी सुभद्रा के साथ ऊपर झरोखे से चिक की आड़ में वह दृश्य देखती है। आधी रात को महफिल समाप्त होने पर सुमन घर लौटती है। गजाधर हाथ में डंडा लेकर सो गया था। बड़ी कठिनाई से दरवाजा खुला। पति द्वारा लांछित एवं अपमानित सुमन, गहने की संदूकची के साथ घर से निर्वासित की जाती है। पद्मसिंह के यहाँ वह आश्रय लेती है। वेश्या का आदर करनेवाला पुरुष—औरत-मर्द में, केवल व्यभिचार की ही कल्पना कर सकता है। आदर्श की दुनिया में रहनेवाले विट्ठलदास भी पद्मसिंह पर अविश्वास करते हैं। वकील साहब अपने चरित्र पर कलंक की राख कैसे पुतने देते? वे भी कायर की भाँति, निराश्रय सुमन को नौकर द्वारा निकलवा देते हैं। ये धर्मरक्षक स्वयं ही सुमन को भोली के जीवन-पथ की ओर ठेल रहे थे। प्रेमचन्द ने इस प्रकार उन विषम परिस्थितियां का रहस्योद्घाटन किया है, जिनके बीच पड़कर नारी 'वेश्या' बनने को बाध्य होती है! समाज वेश्याओं का केवल पालन ही नहीं करता, उन्हें जन्म भी देता है।

चारों ओर से जब सुमन के लिये द्वार बन्द हो गये, तब केवल दो रास्ते सुमन को सुलभ जान पड़े। एक 'गंगा' की गोद में अनन्त निवास और दूसरा भोली के खुले द्वार में प्रवेश। सुमन भोली के यहाँ पहुँचती है। भोली इस परकटी चिड़िया को अपने जाल में फँसा लेती है। उसकी झिझक दूर करती हुई, वह कहती है—"मैं कसम खाकर कहती हूँ सुमन, तुम एक बार इस लोहे की जंजीर को तोड़ दो, फिर देखो लोग कैसे दीवानों की तरह दौड़ते हैं!"[1]

---

1. 'सेवासदन'—पृष्ठ ५७

सुमन भोली के घर पहुँच कर भी 'वेश्यावृत्ति' को नहीं अपनाना चाहती। वह सिलाई कर अपना गुजारा करना चाहती है। लेकिन भोली की शिक्षा के प्रभाव से वह भी उसी मार्ग की पथिक बन जाती है।

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। उन्होंने आटे-दाल की गठरी उठाकर भी पद्मसिंह की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया था। उनका बड़ा लड़का सदन था। जब वह अपने चचा के पास शहर में आया तो उसकी बड़ी आवभगत हुई। उसके पढ़ने-लिखने के लिये मास्टर रखे गये। उसकी हवाखोरी के लिये कठिनता से रुपये निकाल कर एक घोड़ा खरीदा गया। सदन को घूमते हुए, चौक-दालमण्डी का चस्का लग गया। घूमते-घामते वह सुमन बाई के यहाँ पहुँचता है। उनसे प्रेम करने लगता है।

प्रेमचंद के शब्दों में—'शराब की दुकानों को हम बस्ती से दूर रखने का यत्न करते हैं, जुएखाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दूकानों को हम सुसज्जित कोठों पर, चौक बाजारों में ठाट से सजाते हैं।······वह कौन सा हृदय है जो रूपराशि जैसे अमूल्य रत्न पर न मर मिटेगा ?······इसलिये आवश्यक है कि इन विष-भरी नागिनों को आबादी से दूर, किसी पृथक् स्थान में रखा जाय। तब उन निन्द्या स्थानों की ओर सैर करने को जाते हुए हमें संकोच होगा !'[१]···

सदन सुमन को एक रेशमी साड़ी भेंट करता है। उसे प्रसन्न करने के लिये वह चाची का एक कंगन चुराकर उसे भेंट करता है। सुमन उससे स्नेह अवश्य करती थी, परन्तु वह 'उपहारों' की भूखी न थी।

विट्ठलदास पद्मसिंह के मित्रों में से थे। वे प्रसिद्ध समाज-सुधारक थे। पद्मसिंह के यहाँ 'मुजरा' उन्हें सह्य न था। वेश्याओं के प्रबल विरोधी थे। सुमन को जब पद्मसिंह ने अपने यहाँ आश्रय दिया, विट्ठलदास ने गजाधर द्वारा इसकी सूचना प्राप्त कर, मित्रता की चिंता न कर, वकील साहब की चारों ओर खूब निन्दा की। सुमन के वेश्या बन जाने पर पद्मसिंह ने विट्ठलदास को एक पत्र द्वारा इसकी सूचना दी। उन्होंने यह भी लिखा—'अब आपको भलीभाँति ज्ञात हो जायगा कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन है ?' शर्माजी का पत्र उन्हें एक थप्पड़-सा मुँह पर लगा।[२]

उन्होंने अपना कर्त्तव्य स्थिर किया। सुमन के पास दालमण्डी जा पहुँचे। उस ब्राह्मण महिला को कलंकित मार्ग पर देखकर वह क्षुब्ध होकर कहते हैं—'सुमन, तुमने हिन्दू जाति का सर नीचा कर दिया।'

सुमन उनकी हर बात का मार्मिक उत्तर देती है। अन्त में विट्ठलदास के समझाने पर सुमन 'कोठे' से उतरने का वचन देती है। विट्ठलदास भी उसे आत्म-निर्भर बनाने के लिये ५०) महावार की सहायता का वचन देते हैं। लेकिन इसके लिये उन्हें अनेक द्वार खटखटाने पड़ते हैं। कोई मौखिक सहानुभूति ही प्रदर्शित करता है, कोई इस बात का विश्वास दिलाता है कि इस बार कौंसिल की बैठक में गवर्नमेंट

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ८२-८३, २. वही—पृष्ठ ८८

का ध्यान आकर्षित करूँगा !'[1] विट्ठलदास को ऐसा लगा कि उनकी जाति में जातीयता का सर्वथा लोप हो गया है।

शर्माजी से सुमन की एक बाग में भेंट हो जाती है। वह सुभद्रा का 'कंगन' उन्हें बात बनाकर लौटा देती है। शर्माजी बहुत लज्जित होते हैं। चाची के हाथ में पुनः कंगन देखकर, सदन भय से सिहर उठता है। सुमन के पास फिर जाने का वह साहस नहीं करता। शर्माजी भी अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिये, अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कटौती कर भी सुमन को अकेले ५०) महावार की सहायता देने का वचन, विट्ठलदास को देते हैं। सुमन इस सम्वाद को सुनकर शर्माजी की उदारता के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती है।

सुमन विट्ठलदास के साथ हमेशा के लिये 'कोठे' से नीचे धरती पर उतर आती है। वह कहती भी है कि मेरा पुनर्जन्म हो रहा है।[2]

उधर सदन के घर पहुँचने पर उसके पिता मदनसिंह ने उसके विवाह की तैयारी प्रारम्भ कर दी। उसका विवाह शान्ता से तय होता है। शान्ता सुमन की बहन थी। इधर कृष्णचन्द्र भी जेल से सजा काट कर छूट गये थे। उनका अजीब हाल था। उनका शरीर क्षीण हो गया था। आधी रात को चारों ओर जब नीरवता छाई रहती, वे अपनी चारपाई पर करवटें बदल बदल कर यह गीत गाया करते थे—

'अगिया लागी सुन्दर बन जरि गयो।'

और—

'लकड़ी जल कोयला भयी, और कोयला जल भयी राख।
मैं पापिन ऐसी जली कि कोयला भयी न राख॥'[3]

दुःख के इस असह्य बोझ ने उन्हें अर्ध-विक्षिप्त बना दिया था।

सदन की बारात यथासमय शान्ता के यहाँ पहुँचती है। मदनसिंह को गाँव के कुबेर-पंडित से सुमन का रहस्य ज्ञात होता है। दालमंडी में कोठे पर बैठनेवाली सुमन की बहन को कैसे 'वधू' रूप में स्वीकार करते। बारात लौट जाती है। धन ही नहीं, धर्म की मर्यादा भी शान्ता के हाथ पीले होने में बाधा बन जाती है। एक बार कलंकित होने पर सुमन खुद ही मुसीबत नहीं उठाती, वह दूसरों की राह में भी काटें बिखेरती जाती है। फलतः शान्ता भी सुमन के पास 'विधवाश्रम' में पद्मसिंह शर्मा के उद्योग से पहुँच जाती है। यह भी तभी संभव हो सका, जब देहात में रहनेवाली शान्ता समस्त रूढ़ियों का विचार त्याग, पद्मसिंह को पत्र लिखने का साहस करती है। लेकिन समाज की मर्यादा के ठेकेदार इन 'पतिताओं' के सम्पर्क द्वारा विधवाओं के सतीत्व को बिगाड़ना नहीं चाहते थे। बाध्य होकर दोनों बहनों को आश्रम छोड़ना पड़ा।

शहर की म्युनिसिपैल्टी के सामने यह प्रस्ताव पेश होने वाला था कि वेश्याओं

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ १०९, २. वही—पृष्ठ १३४, ३. वही—पृष्ठ १६५

को नगर से बाहर निकाल दिया जाय। बैठक से पूर्व ही मुसलमानों की अलग सभा हुई। कुछ स्वार्थी लोगों ने इस प्रश्न को साम्प्रदायिक रंग दे दिया। अधिक सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने के लिये शर्मा जी एवं विट्ठलदास ने दौड़-धूप प्रारम्भ कर दी। डाक्टर श्यामाचरण को प्रस्ताव के प्रति पूरी सहानुभूति है, परंतु सरकार द्वारा नामजद सदस्य होने के नाते, वे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी सरकारी रुख के अनुकूल ही चलना चाहते थे। विट्ठलदास ऐसी विचार-पराधीनता के बदले इस्तीफा देने का सुझाव देते हैं। वहाँ उपस्थित तेगअली द्वारा, प्रेमचन्द जी ने अपने मार्मिक व्यंग द्वारा, अंग्रेजी सभ्यता के इन 'कठपुतली' बाबुओं की असलीयत का पर्दाफाश कर दिया है।

'इस्तीफा दे दें तो यह सम्मान कैसे हो? लाट साहब के बराबर कुरसी पर कैसे बैठें? आनरेबुल कैसे कहलायें? बड़े-बड़े अंगरेजों से हाथ मिलाने का सौभाग्य कैसे प्राप्त हो! सरकारी डिनर में बढ़-चढ़ कर हाथ मारने का गौरव कैसे मिले? नैनीताल की सैर कैसे करें? अपनी वक्तृता का चमत्कार कैसे दिखायें! यह भी तो सोचिए।'[1]

इधर सदन की दशा भी अजीब हो रही थी। वह सुमन के पास जाना चाहकर भी, जाने का साहस न बटोर पाया। सुमन की छोटी बहन के प्रति किये गये अत्याचार के कारण उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कार रही थी। वह किस मुँह से उसके पास जाए! इसी बीच सुधारवादी व्याख्यान आदि सुनते-सुनते वेश्याओं के प्रति उसमें बौद्धिक सहानुभूति उत्पन्न हुई। पद्मसिंह शर्मा के इन शब्दों ने उसके विचारों की जड़ें ही हिला दीं—"यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमण्डी हमारे ही जीवन का कलुषित प्रतिबिम्ब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें।......हमारे सामाजिक दुराचार अग्नि के समान हैं, और ये अभागिन रमणियाँ तृण के समान। अगर अग्नि को शांत करना चाहते हैं तो तृण को उससे दूर रखिये, तब अग्नि आप ही आप शान्त हो जायगी!...[2]"

सदन का बस चलता तो वह दालमण्डी की ईंट से ईंट बजा देता। एक दिन सुमन को गंगा-तट पर देखकर, उसके विचार और बदल गये। उसे ज्ञात हो गया कि सुमन अब विधवाश्रम में रहती है। एक बार फिर भेंट होती है। 'शान्ता' के उद्धार के लिये, सुमन स्वयं सदन को 'भैया' कहकर बातें करना प्रारम्भ करती है। वह उससे स्पष्ट रूप से कहती है—"क्या तुम्हें एक अबला बालिका का जीवन नष्ट करते हुए तनिक भी दया न आई?......अन्याय अन्याय ही है, चाहे कोई एक आदमी करे या सारी जाति करे। दूसरों के भय से किसी पर अन्याय नहीं करना चाहिये।"[3]

सदन को ऐसी ग्लानि हो रही थी, मानो उसने कोई बड़ा पाप किया हो। उसने अपने पैरों पर खड़े होने का दृढ़ संकल्प किया। उसने माता-पिता एवं चाचा

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ २०६, २. वही—पृष्ठ २१७, ३. वही—पृष्ठ २८२-८३

की रूढ़ि की जंजीरों से बँधी संकुचित दुनिया से अलग अपना एक झोपड़ा बनाने का संकल्प किया। अब वह काम से जी नहीं चुराता। 'नावों' का रोजगार मल्लाहों की सहायता से करना उसने प्रारम्भ कर दिया। उसे पर्याप्त लाभ भी हुआ। नदी के सुरम्य तट पर उसका अपना एक झोपड़ा भी तैयार हो गया। एक रात को पुनः सुमन और शान्ता से वहीं सदन की भेंट हो जाती है। शान्ता जो कभी सौन्दर्य की एक अविकसित कोमल कली थी, आज वसन्त में सूखी पीली पत्ती के सदृश इल्की वनभूमि पर बिछ गई थी। सदन इस दशा में शान्ता को देखकर अपने पापी मन को धिक्कारते हुए, ईश्वर से करुणा और दया की भीख माँगने लगा।

सुमन पुनः सदन को प्रताड़ित करते हुए कहती है—"और तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इसीलिए किया कि मैं उसकी बहन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने बरसों नाक रगडी है, जिसके तलुवे तुमने बरसों सुहलाये हैं··· । उस समय भी तुम अपने माँ-बाप के आज्ञाकारी पुत्र थे या कोई और थे? उस समय भी तो तुम वही उच्चकुल के ब्राह्मण थे या कोई और थे? तब तुम्हारे दुष्कर्मों से खानदान की नाक कटती थी? आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो! अंधेरे में जूठा खाने को तैयार, पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं! यह निरी धूर्तता है, दगाबाजी है।"[१]

सदन के स्वभाव में कायापलट हो गया। उसने शान्ता के साथ बिना माता-पिता के क्रोध की चिन्ता किये, सहर्ष विवाह कर लिया। पद्मसिंह का नैतिक समर्थन भी उसे प्राप्त था। लेकिन इस गृहस्थ-घर में कलंकिनी सुमन कैसे रहती? सुमन घर का सारा काम करती है। लेकिन धीरे-धीरे शान्ता और सदन उससे उदासीन हो गये। शान्ता भी उस पर अविश्वास करने लगी। उसके रूप-लावण्य से वह डरती। मल्लाहों को जब यह ज्ञात होता है कि सुमन कभी दालमंडी में बैठ चुकी है, तब वे इस घर का पानी भी नहीं ग्रहण करते? सदन और शान्ता अब सुमन को अलग कर देना चाहते हैं।

बहुत दिनों तक मदनसिंह लड़के पर नाराज रहे। अन्त में पुत्र-स्नेह के वशीभूत हो स्वयं ही उसके द्वार पर सपत्नीक उपस्थित हुए! इधर शान्ता को एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति होती है। सुमन बाहर ही से सुनती है, मामा—सदन की माँ उसके सम्बंध में कह रही है—"यहाँ मैं उसे सोने न दूँगी। वैसी स्त्री का क्या विश्वास?···सात घाट का पानी पीके आज नेमवाली बनी है। देवता की मूरत टूटकर फिर नहीं जुड़ती। अब वह देवी बन जाय तब भी मैं उसका विश्वास न करूँ!"[२]

सुमन गंगा की शरण ले, इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रहता। लेकिन आदर्शवादी प्रेमचन्द उसकी भेंट गजानन्द स्वामी से करा देते हैं, जो पहले सुमन का पति था। सुमन के पतन से गजाधर की बन्द आँखें खुलती हैं। उसे नव प्रकाश प्राप्त

---

२. 'सेवासदन'—पृष्ठ ३०१, २. वही—पृष्ठ ३४१

होता है। सन्यासी गजानन्द बनकर वह नारी-उद्धार एवं पतित-सेवा का व्रत ग्रहण कर लेता है। उसने सुमन को सेवाधर्म का उपदेश दिया। गजानन्द को ५० वेश्या-कन्याओं के अनाथाश्रम के लिए एक योग्य आत्मा की खोज थी, वैसी पवित्र आत्मा वाली वात्सल्यमयी नारी सुमन को 'रत्न' समझकर वह उससे सहायता की याचना करता है। सुमन प्रार्थना स्वीकार कर लेती है। उसी आश्रम का नाम 'सेवासदन' है, जिसका प्राण, सेवा की सजीव प्रतिमा सुमन बन जाती है। यही संक्षेप में उपन्यास का मूल-कथानक है।

वस्तु-कौशल

कथावस्तु के संघटन की दृष्टि से इस उपन्यास का प्रेमचन्द की रचनाओं में विशिष्ट स्थान है। इसकी कथा में जो एकसूत्रता और वस्तुचयन-कौशल दिखाई देता है वह प्रेमचंद के 'गबन' ऐसे प्रौढ़ और गठे हुए उपन्यास में भी सुलभ नहीं है। सुमन की कथा आधिकारिक कथा है। शांता, सदन और पद्मसिंह की कथा--प्रासंगिक है। यह प्रासंगिक कथा, मूलकथा से ही उद्भूत हुई है और उसे आगे बढ़ाने में सहायक है। 'सुमन' उपन्यास के आदि से अन्त तक प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में छाई हुई है। कहीं भी अनावश्यक विस्तार नहीं दिखाई देता। कथा समगति से आगे चलती है।

इसमें लेखक ने वकील, समाज-सुधारक, सु[illegible] स्त्रियाँ, वेश्या, म्युनिस्पैलिटी के सदस्यों आदि अनेक वर्गों के दोहरे चित्रों को प्रस्तुत किया है। 'परिस्थिति और पात्र' का अन्योन्याश्रित सम्बंध पूरे उपन्यास में दिखाई देता है। परिस्थितियाँ मानसिक और फिर बाह्य परिवर्तन उपस्थित करती हैं और इस परिवर्तन से पुनः नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार कथानक का स्वाभाविक विकास होता है। 'सेवासदन' के वस्तु-कौशल का उत्कृष्ट रूप हमें 'एलिमेंट आफ सस्पेंस' में मिलता है। प्रारम्भ से जो हमारी उत्सुकता उत्पन्न होती है वह अन्त तक बनी रहती है। उपन्यास पढ़ते समय कहीं नहीं पता चलता कि अब आगे क्या होगा!

इसी प्रकार कथा को कलात्मक ढंग से नियोजित किया है। प्रत्येक घटना चरित्र को प्रभावित करती है एवं कथा में एक नया मोड़ उत्पन्न करती है। कथा कहने का ढंग भी सुन्दर है। पाठक कहीं भी ऊबता नहीं।

इस उपन्यास का सबसे दुर्बल, शिथिल एवं असम्बद्ध भाग वह है जिसमें म्युनिस्पैलिटी के सदस्य तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं के विभिन्न विषयों पर तर्क वर्णित है। यह भाग कुछ आरोपित सा, मुख्य-कथानक से अपरिहार्य रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होता है और बीच-बीच में कहीं उखड़ता सा भी ज्ञात होता है। प्रेमचन्द कहीं-कहीं स्थूल-चित्रण का लोभ संवरण नहीं कर पाये हैं। फिर भी उनका व्यंग अत्यंत पैना है। 'वेश्याओं की आवश्यकता देवताओं की स्तुति के लिये है—इस

तर्क में कितना प्रच्छन्न सामाजिक व्यंग है। इसी प्रकार ऐसे अनेक अनावश्यक अंशों में प्रेमचन्द की अपूर्व वर्णनात्मकशैली के कारण सजीवता भी मिलती है।

एक स्थल पर लेखक अपने पात्रों की जीवन-क्रियाओं में इतना निमग्न हो उठता है कि स्वयं कथानक के बीच, तटस्थता को छोड़कर समालोचना करने को उपस्थित हो जाता है। सदन और सुभद्रा के वार्तालाप के बीच, सुभद्रा के ईर्ष्यालु स्वभाव की आलोचना के लिये प्रेमचन्द स्वयं एक पात्र के सदृश कह उठते हैं—

"सुभद्रा यही बातें यदि तुमने पवित्र भाव से कहीं होती तो हम तुम्हारा कितना आदर करते! किन्तु तुम इस समय ईर्ष्या-द्वेष के वश में हो, तुम सदन को उभारकर अपनी जेठानी को नीचा दिखाना चाहती हो, तुम एक माता के पवित्र हृदय पर आघात कर उसका आनन्द उठा रही हो!"[१]

परन्तु इन दुर्बलताओं के होते हुए भी, 'सेवासदन' के कथानक में ऐसी मौलिकता है, जो उसकी अपनी विशेषता है। 'वेश्या-जीवन' पर हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे गये, लेकिन किसी भी उपन्यास-लेखक ने सामाजिक वास्तविकता का ऐसा सजीव एवं मार्मिक चित्र नहीं प्रस्तुत किया है। इसी लिये 'सेवासदन' हिन्दी में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है!

चरित्र-चित्रण

प्रेमचन्द के पात्रों के सम्बन्ध में तीन बातें प्रायः बड़े विश्वास से कही जाती हैं। उनके पात्र 'वर्गीय' (Typical) अधिक होते हैं, उनमें वैयक्तिक स्पन्दनों का नितान्त अभाव रहता है। उनके अधिकांश चरित्र वर्गगत, जातिगत या प्रतीकात्मक हैं। पर वस्तुतः रस-संचार के लिये एवं हृदय को अधिक मार्मिकता से स्पर्श करने के लिये—वर्गीय-चरित्र चित्रण आवश्यक होता है। जैसे प्राचीन महाकाव्यों में पात्रों के चरित्र-चित्रण में वर्गीय विशेषताओं को सदैव प्रमुखता दी जाती थी।[२]

यही बात हम 'सेवासदन' के सभी मुख्य चरित्रों के सम्बन्ध में कह सकते हैं। 'सुमन' से लेकर 'सुभद्रा' तक, कृष्णचन्द्र से लेकर गजाधर तक सभी पात्रों में वर्गीय विशेषताएँ प्रमुख रूप से मिलती हैं, पर साथ ही उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ भी हैं। यह भी प्रेमचन्दजी के यथार्थ का सबल पक्ष है। पात्र के वैयक्तिक स्पन्दनों को भी लेखक ने पूरी ईमानदारी से व्यक्त किया है। 'सुमन' भारत की परम्परानुरूप एक बेजबान और अत्याचारदलित पतिव्रता नारी मात्र न होकर, बहुत कुछ एक स्वतंत्रचेता व्यक्तित्व लेकर—हिन्दी कथा-साहित्य में अवतरित होती है।

प्रेमचन्द के पात्रों के सम्बन्ध में दूसरी बात, जो बार-बार दोहराई जाती है—वह है उनकी आदर्शवादिता एवं ध्येयोन्मुखता! 'सेवासदन' में सुमन और गजाधर

---

१. सेवासदन—पृष्ठ ३११-१२

२. एंगेल्स (Angils) के अनुसार—"The realism to mind implies besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances!"

का जो चरित्र सुधारा गया है, एवं आश्रम की स्थापना द्वारा उनके चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को दिखाने की चेष्टा की गई है—यही प्रेमचन्द का आदर्शवाद या उद्देश्यवाद है।

तीसरी और अन्तिम बात यह कही जाती है कि प्रेमचन्द पात्रों के निर्माण करने में जितने कुशल हैं, उतने उनका निर्वाह करने में नहीं। कई पात्रों की बीच ही में अस्वाभाविक अकाल-मृत्यु खटकती है। उनके अन्य उपन्यासों की भाँति 'सेवासदन' भी पात्र-बहुल है। यद्यपि समस्या को उभारने में एवं समाधान देने में सभी का अपना अलग महत्त्व है, परन्तु यह निर्विवाद है कि उनसे कथानक कहीं-कहीं बोझिल हो उठा है। सम्पादक, म्युनिसपल मेम्बर, समाज-सुधारक, वकील, डाक्टर, हिन्दू-मुसलमान सभी हैं, वातावरण को सजीव बनाते हैं, परन्तु कथानक को जटिलता एवं अनावश्यक विस्तार भी प्रदान करते हैं। कथानक की 'एकरसता' एवं एकसूत्रता मे बाधा पड़ती है। उपन्यास में अनेक प्रासंगिक घटनाएँ वर्णित हैं, जिनके लिये अनेक पात्रों को उपस्थित करना अनिवार्य बन गया है। यह एक 'दोष' माना जा सकता है।

एलिजाबेथ बोवेन के अनुसार—"...पात्र कोई बना नहीं सकता, केवल कठपुतली ही बनायी जा सकती है।...यह कहना कि पात्रों का निर्माण किया जाता है, मिथ्या है। पात्र तो पहले से रहते हैं। वे ग्रहण किये जाते हैं। उपन्यासकार की चेतना में धीरे-धीरे वे प्रकट होते हैं--जैसे किसी रेल के डब्बे के धूमिल प्रकाश में सामने बैठा हुआ यात्री धीरे-धीरे हमारे सम्मुख स्पष्ट होता है!"[1]

प्रेमचन्द जब अपने किसी पात्र को सर्वप्रथम उपस्थित करते हैं, उसी समय उसका सांकेतिक एवं व्यंजक परिचय दे देते हैं। पात्रों का वार्तालाप उनके चरित्र की रेखाओं को स्पष्ट करता है। इस प्रकार 'फोकस' द्वारा सीधे प्रकाश न देकर, धीरे-धीरे पर्दे की ओट से प्रकाश-किरणें पड़ती हैं—जिससे चरित्र के सम्बन्ध में पाठक की उत्सुकता सदैव बनी रहती है।

'सेवासदन' के पूरे कथानक पर 'सुमन' छाई हुई है। उसके द्वारा लगभग सभी प्रमुख पात्र किसी न किसी रूप में प्रभावित होते हैं। अतएव 'सुमन' के चरित्र का परिचय प्राप्त कर हम सरलता से प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रण की अनोखी प्रतिभा का सहज परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

सुमन

डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—"हिन्दी कथा-साहित्य की वह पहली नारी है जो आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये संघर्ष की डगर पर पाँव उठाती है। उसके संघर्ष एवं दुखों की गाथा कम रोमांचकारी नहीं है। बचपन में वह सीधी और निस्सहाय है। उसकी इच्छाओं को आसानी से कुचलकर उसे एक अवांछित पुरुष के

---

1. 'उपन्यास की रचना'—अनु० श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़।

हवाले किया जा सकता है। लेकिन उसके भीतर कहीं वीर नारी का दर्प सो रहा था, वह दर्प जो भारतीय नारी की विशेषता है, और ठोकर खाकर वह जाग उठता है।··· केवल होरी से सुमन की तुलना की जा सकती है। वह नारी है, इसीलिये उसके कष्ट, उसका संघर्ष होरी से दूसरी तरह के हैं।······प्रेमचंद ने सुमन को एक साँचे में ढली हुई सुन्दर मूर्त्ति की तरह पाठक के सामने नहीं रख दिया है। वह एक लड़ने-मरने वाली स्वावलम्बी नारी है जो अपने ही नहीं, दूसरों के प्रति भी अन्याय सहन नहीं कर सकती!···"[१]

सुमन सुन्दर, चंचल और अभिमानिनी लड़की थी। उसका पालन एक मध्य-वित्त वर्ग की लडकी की भाँति हुआ। उसमें न उपार्जन की क्षमता है न स्वावलम्बी बन अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता! 'दहेज की बाधा'—सुमन के जीवन की प्रारम्भिक बाधा है। इसी कारण वह गजाधर पांडेय ऐसे सामान्य स्थितिवाले प्रौढ़ वर के गले बाँध दी जाती है। पति-गृह में भी उसे अपमानित एवं लांछित होना पड़ता है। पति-पत्नी में प्रेम न होने का मुख्य कारण आर्थिक है। भूखा-व्यक्ति क्या स्नेह प्रदर्शन कर सकता है। सुमन ने गृहिणी बनने की नहीं, इन्द्रियों के आनन्द-भोग की शिक्षा पाई थी। उसका पति जो केवल १५) माहवार पाता था, स्वभाव से अत्यन्त कृपण था। अत-एव यह स्वाभाविक ही था यदि गजाधर को 'जलपान की जलेबियाँ विष के समान लगती! दाल में घी देखकर उसके हृदय में शूल होने लगता। वह भोजन करता तो बटुली की ओर देखता कि कहीं अधिक तो नहीं बना है। दरवाजे पर दाल-चावल फेंका देखकर उसके शरीर में ज्वाला-सी लग जाती थी, पर सुमन की मोहिनी सूरत ने उसे वशीभूत कर लिया था।'[२] लेकिन केवल सूरत देखकर कोई जी नहीं सकता! अतएव पति-पत्नी में वैमनस्य का बीज-वपन हो जाता है।

सुमन को पितृ-गृह में अच्छा खाने-पहिनने की आदत थी। अतएव द्वार पर खोमचेवालों की आवाज सुनकर उससे रहा न जाता। जिह्वा रसभोग के लिये वह अपने कृपण पति से कपट करने लगी। उसका धीरे-धीरे मुहल्ले की अन्य स्त्रियों से सम्पर्क बढ़ता है। उसके रूप की छाप सबके हृदय पर पड़ती है। सुमन आत्म-प्रदर्शन से न चूकती, अपने भाग्य को उनके समक्ष सराहती। 'वह उनके समक्ष रेशमी साड़ी पहनकर बैठती, जो वह मौके से लायी थी। रेशमी जाकट खूँटी पर लटका देती।'[२] गृहस्थ जीवन से बेसुध सुमन को लक्ष्य करते हुए, प्रेमचन्द ने हमारे समाज की व्यवस्था पर मार्मिक व्यंग किया है—

"गुड़ियाँ खेलनेवाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करनेवाली युवती, गृहिणी बनने योग्य समझी जाती है। अल्हड़ बछड़ों के कन्धे पर भारी जुआ रख दिया जाता है। ऐसी दशा में यदि हमारा गार्हस्थ जीवन आनन्दमय न हो तो कोई आश्चर्य नहीं।'[३]

---

१. '{

३. वही—पृष्ठ

सुमन के घर के सामने भोली नामक वेश्या रहती है। वही लोग जो औरत को पैर की जूती कहते-समझते थे, भोली को तलवे सहलाने में अपने को धन्य मानते हैं। 'मौलूद' का उत्सव होता है। मौलाना, सेठ और गजाधर सभी उसमें सम्मिलित होते हैं। सुमन के विश्वास काँप उठते हैं। वह पति से प्रश्न करती है—'तुम्हें तो वहाँ जाते हुए संकोच हुआ होगा?' पति उत्तर देता है—'जब इतने भले मानुस बैठे हुए थे तो मुझे क्यों संकोच होने लगा। वह सेठजी भी आये हुए थे जिनके यहाँ मैं शाम को काम करने जाया करता हूँ।'[१]

अपनी इज्जत और अस्मत बेचनेवाली भोली के यहाँ जाने में किसीको संकोच नहीं! सुमन के बहकते विचारों को गजाधर धर्म की मदिरा द्वारा बस में करना चाहता है। सुमन पर धर्म का नशा छा गया। गंगा-स्नान, रामायण पाठ उसका नेम हो गया। उसे भोली से अपने को श्रेष्ठ समझने का एक आधार मिल गया। रामनौमी के दिन सुमन अपनी अन्य सहेलियों के साथ एक बड़े मन्दिर में जन्मोत्सव देखने गयी। बड़ी भीड़ थी, मन्दिर के आँगन में तिल रखने की जगह न थी। सुमन ने देखा—

'उसकी पड़ोसिन भोली बैठी हुई गा रही है। सभा में एक से एक बड़े आदमी बैठे हुए थे, कोई वैष्णव तिलक लगाये, कोई भस्म रमाये, कोई गले में कंठी माला डाले और राम नाम की चादर ओढ़े, कोई गेरुए वस्त्र पहने। ...वह उन्हें धर्मात्मा, विद्वान् समझती थी। वही लोग यहाँ इस भाँति तन्मय हो रहे थे, मानो स्वर्गलोक में पहुँच गये हैं! भोली जिसकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखती थी वह मुग्ध हो जाता था, मानो साक्षात् राधाकृष्ण के दर्शन हो गये।'[२]

इस दृश्य ने सुमन का अभिमान चूर-चूर कर दिया। उसके हृदय पर वज्र का सा कठोर आघात हुआ। उसने देखा कि भोली के सामने केवल धन ही नहीं सिर झुकाता धर्म भी उसका कृपाकांक्षी है।

पद्मसिंह वकील म्युनिसिपैलिटी के सदस्य निर्वाचित होते हैं। उल्लास को प्रकट करने का साधन है—भोली का मुजरा कराना! यह वही वकील महोदय हैं जो नाच-गाने के कट्टर शत्रु थे। इस कुप्रथा को मिटाने के लिए उन्होंने एक सुधारक-संस्था भी स्थापित की थी।

भोली का गाना पद्मसिंह की पत्नी सुभद्रा के साथ सुमन भी सुनती है। दोनों ही कुल-वधुएँ, सामाजिक सदाचार के ठेकेदार पुरुषों की एकाग्रता एवं भोली की ओर लगे हुए तृषित नेत्रों को लक्ष्य करती हैं। धीरे-धीरे गीत को दुहराते हुए सुमन सोचती है—'इस स्त्री में कौन-सा जादू है?'[३]

सुमन भी अपूर्व सुंदरी थी। उसका कंठ भी कोमल था। लेकिन उसका समाज में सम्मान तो दूर, घर में ही पति द्वारा पग-पग पर उसके आत्म-सम्मान को ठुकराया

१—पृष्ठ २९,

जाता था। मंत्रों का पवित्र जल एवं ब्राह्मणों की उपस्थिति में अग्नि को साक्षी देकर की गई प्रतिज्ञा का बल प्राप्त रहने पर भी, समाज में गृहस्थ नारी का अपमान क्यों होता है? इसका कारण है हमारी दोषपूर्ण समाज व्यवस्था; विवाह द्वारा शासक पुरुष को, शासित होने के लिये दासी रूप में स्त्री भेंट की जाती है। समाज में केवल वेश्याएँ स्वाधीन हैं, वे अपना तन भी चाँदी के कुछ टुकड़ों पर बेचने को स्वतंत्र हैं—इसीलिये पुरुष उन्हें सम्मानित करता है। सुमन ने समाज और परिस्थितियों का सही विश्लेषण किया है। अन्त में वह इसी नतीजे पर पहुँचती है—'वह (भोली) स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं! उसकी दुकान खुली है इसलिये ग्राहकों की भीड़ है, मेरी दुकान बन्द है, इसलिए कोई खड़ा नहीं होता। वह कुत्तों के भूकने की परवाह नहीं करती, मैं लोक-निन्दा से डरती हूँ। वह परदे से बाहर है, मैं परदे के अन्दर हूँ। वह डालियों पर स्वच्छन्दता से चहकती है, मैं उसे पकड़े हुए हूँ। इसी लज्जा ने, इसी उपहास के भय ने मुझे दूसरे की चेरी बना रखा है।'[१]

पद्मसिंह के यहाँ से सुमन रात में देर से लौटती है। उसने किवाड़ की दरारों से झाँका, डेबरी जल रही थी, उसके धुँए से कोठरी भरी हुई थी और गजाधर हाथ में डण्डा लिए चित पड़ा जोर से खर्राटे ले रहा था। सुमन को दरवाजा खटखटाने का साहस नहीं होता। वह अपने दुर्भाग्य के सम्बंध में सोचती है। 'एक वह स्त्रियाँ हैं जो आराम से तकिये लगाये सो रही हैं, लौंडियाँ पैर दबाती हैं। एक मैं हूँ कि यहाँ बैठी हुई अपने नसीब को रो रही हूँ। मैं यह सब दुःख क्यों झेलती हूँ? एक झोपड़ी में टूटी खाट पर सोती हूँ, रूखी रोटियाँ खाती हूँ, नित्य घुड़कियाँ सुनती हूँ, क्यों? मर्यादा-पालन के लिए ही न? लेकिन संसार मेरे इस मर्यादा-पालन को क्या समझता है? उसकी दृष्टि में इसका क्या मूल्य है?[२]

किसी प्रकार वह साहस कर दरवाजा खुलवाती है। गजाधर उस पर शक करता है एवं खरी-खोटी सुनाता है। इस लांछना से सुमन के हृदय में भी रोष उत्पन्न हो जाता है। उसकी नम्रता, क्रोध में परिवर्तित हो जाती है। गजाधर स्वामित्व के अहंकार से वशीभूत होकर आज्ञा देता है—'चली जा मेरे घर से, राँड़ कोसती है!' सुमन न पैरों पड़ती है, न गिड़गिड़ाती है। एक स्वाभिमानिनी नारी के दर्प के अनुकूल वह उत्तर देती है—'हाँ, यों कहो कि मुझे रखना नहीं चाहते। मेरे सिर पाप क्यों लगाते हो? क्या तुम्हीं मेरे अन्नदाता हो? जहाँ मजूरी करूँगी वहीं पेट पाल लूँगी!'[३]

यह है भारत का नव-जाग्रत नारीत्व? सुमन का चरित्र पाठकों के मन में एक नई स्फूर्ति, एक नया विश्वास और एक नया दर्प उत्पन्न करता है। बीसवीं शताब्दी में भारतीय नारी में धीरे-धीरे स्वाभिमान जाग्रत हो रहा था। प्रेमचन्द ने सुमन द्वारा समूचे भारतीय नारी-वर्ग की उस महती अभिलाषा को मूर्त्त कर दिया। वह स्वाधीनता के लिये संघर्ष-पथ की ओर बढ़ रही थी। वह जानती थी कि दो रोटियों के बदले में नारी पर सारी

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ४२, २. वही—पृष्ठ ४४, ३. वही—पृष्ठ ४७

नैतिकता और सदाचार का बोझ डाला जाता है। यह सदाचार क्या है ? इस लोक और परलोक में 'नारी' को आजन्म दासी बनाये रखने का पट्टा ! 'पुरुष परमेश्वर है' इस भाव से पूजा ग्रहण करनेवाला, अभिमानी पुरुष—'नारी को केवल पैर की जूती समझता है।' भला इस विषमता के होते, दोनों वर्गों में सद्भाव कैसे बना रह सकता था। इसीलिये सदियों के पुराने इस सम्बन्ध के बीच, जो दरार पड़ रही थी, उसे प्रेमचन्द ने अविजेय वाणी दी, उसे स्पष्ट किया। यही प्रेमचन्द का महान युगान्तरकारी कार्य था।

पति द्वारा तिरस्कृत सुमन पद्मसिंह के यहाँ आश्रय लेती है। गजाधर के अविश्वास को नया विश्वास प्राप्त होता है। वह पद्मसिंह के पाप का ढिंढोरा पीटना प्रारम्भ कर देता है। समाज-सुधारक विट्ठलदास भी इस 'पाप-कथा' पर विश्वास कर लेते हैं। फलतः शर्माजी अपने नाम की 'लाज' के लिये, अपने नौकर द्वारा सुमन को घर छोड़ने का आदेश देते हैं। आँखों में आँसू भरे वह उस चौखट से बाहर पाँव निकालती है। प्रेमचन्दजी ने सुमन द्वारा इज्जतदार 'शर्माजी' की पोल खोलकर रख दी है :—'उसने शर्माजी को दुरात्मा, भीरु, दयाशून्य तथा नीच ठहराया। तुम आज अपनी बदनामी को डरते हो, तुमको इज्जत बड़ी प्यारी है ! अभी कल एक वेश्या के साथ बैठे हुए फूले न समाते थे, उसके पैरों तले आँख बिछाते थे, तब इज्जत न जाती थी।'[१]

बेघर की सुमन के समक्ष 'आश्रय' की एक बड़ी समस्या थी। वह कहाँ जाय ! भोली के यहाँ आश्रय प्राप्त होता है। सुमन स्वावलम्बी बनने की आकांक्षा रखती है। सिलाई द्वारा अपना भरण-पोषण करना चाहती है। भोली उसे समाज के भेड़ियों से सचेत करती है—'अरी पगली, आँखों से देखकर अन्धी बनती है। भला अकेले घर में एक दिन भी तेरा निबाह होगा ? दिन-दहाड़े आबरू लुट जायगी ?'[२]

प्रेमचन्द यह दिखलाते हैं कि नारी की पराधीनता और वेश्यावृत्ति हिंदुओं और मुसलमानो दोनों में है। नारी की पराधीनता के बारे में सुमन की तरह भोली को भी कटु अनुभव हो चुका है। पद्मसिंह से खबर पाकर समाज-सुधारक विट्ठलदास सुमन को अपनी नई वृत्ति छोड़ने के लिये समझाते हैं—'तुम्हारा कितना आदर था, लोग तुम्हारी पद-रज माथे पर चढ़ाते थे, लेकिन आज तुम्हें देखना भी पाप समझा जाता है।'[३]

आदर्श के कल्पना-लोक में विचरण करनेवाले विट्ठलदास को सुमन यथार्थ से परिचित कराती है—'मेरा तो यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है, उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भींगती रही, किसी ने भीतर न जाने दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।'[४]

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ५३, २. वही—पृष्ठ ५८-५९, ३. वही—पृष्ठ ९०
४. वही—पृष्ठ ९१

सुमन अपने तर्कों से उन्हें परास्त कर देती है। वह उन्हें यह भी बताती है—'यद्यपि इस काजल की कोठरी में आकर पवित्र रहना अत्यंत कठिन है। पर मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि अपने सत्य की रक्षा करूँगी। गाऊँगी, नाचूँगी, पर अपने को भ्रष्ट न होने दूँगी।'[1]

यही प्रेमचन्द का आदर्शवाद है। सुमन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने यह दिखलाया है कि वह वेश्यालय में पहुँच कर भी अपने हाथ से भोजन बनाती है। यह 'पवित्रता' (Puritan) की भावना, स्वस्थ एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित भले ही हो, इसमें 'आदर्श' की छाप अधिक है। सुमन का महत्त्व 'विद्रोह' करने में निहित है। 'सुमन' हमें इसलिये प्रभावित नहीं करती कि वह कोठे से उतरने का साहस कर, सेवासदन का संचालन करती है। वरन् वह घर की दलहीज से बाहर कदम रखने का साहस करती है। वह 'निर्मला' की तरह सब कुछ सर झुकाकर मूक-भाव से नहीं सहती। वह अन्याय का विरोध करती है। यही उसके चरित्र का उज्ज्वल पक्ष है। यही उसके चरित्र की अपूर्व मौलिकता एवं विशेषता है।

सुमन एक कुशाग्रबुद्धि नारी है। उसने धार्मिक ढोंग की निस्सारता एवं आदर्शों का खोखलापन अच्छी तरह देख लिया था। 'निर्दय अपमान' एवं 'विलास की इच्छा' से प्रेरित होकर—वह 'वेश्या-जीवन' को अपनाती है। लेकिन उस वातावरण में भी वह सदन से निस्वार्थ और पवित्र प्रेम करती है, जिसके बदले वह कोई प्रतिदान नहीं चाहती। उसे दुःख होता है कि सदन उसे एक 'बाजारू औरत' समझकर साड़ी और कंगन का उपहार देता है। वह बाजार में बैठकर भी बाजारू औरत के आचरण से दूर रहती है। यह उसके चरित्र का दृढ पक्ष है।

वह अकृतज्ञ भी नहीं है। विट्ठलदास से जब उसे ज्ञात होता है कि शर्माजी उसे उबारने को अत्यंत उत्सुक एवं धन से भी सहायता करना चाहते हैं, तो वह रोम-रोम से उनके प्रति कृतज्ञता विज्ञापित करती है। सदन के प्रति भी उसका मन आकृष्ट है। लेकिन विवेकशील सुमन अपने किसी क्षुद्र स्वार्थ के लिये एक सरल हृदय युवक का जीवन नष्ट नहीं करना चाहती। वह इस पाप के मायाजाल से निकलना चाहती है। वह शर्माजी को सुभद्रा का कंगन भी लौटा देती है, लेकिन 'सदन' के लिये झूठ बोलने से भी नहीं हिचकती! वह शर्माजी से स्पष्ट कहती है—'आपने घर से निकालकर मुझ पर बड़ी कृपा की, मेरा जीवन सुधार दिया!'[2]

शर्माजी व्यंग से तिलमिला उठते हैं। सुमन स्पष्टवादी भी है। वह 'सत्य' को बिना हिचक स्वीकार कर लेती है—'आदर में वह संतोष है जो धन और भोग-विलास में भी नहीं है। मेरे मन में नित्य यही चिंता रहती थी कि यह आदर कैसे मिले। इसका उत्तर मुझे कितनी ही बार मिला, लेकिन आपके होलीवाले जलसे के दिन जो उत्तर मिला, उसने भ्रम दूर कर दिया, मुझे आदर और सम्मान का मार्ग दिखा दिया। यदि मैं उस जलसे में न आती तो आज मैं अपने झोपड़े में संतुष्ट होती!'[3]

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ९२, २. वही—पृष्ठ ११७, ३. वही—पृष्ठ ११७

लेकिन पाप की इस मंडी से उतर कर सुमन में पुनः एक बार क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। उसमें 'आत्म-परिष्कार' का भी भाव मिलता है। एक दिन सदन गंगा-तट पर सुमन को देखता है। उसका बदला हुआ रूप 'सदन' को प्रभावित करता है—'यह सुमन थी, पर कितनी बदली हुई। न वह लम्बे-लम्बे केश थे, न वह कोमल गति, न वह हँसते हुए गुलाब के से होंठ, न वह रत्नजटित आभूषणों की छटा, वह केवल सफेद साड़ी पहने हुए थी।...काव्य वही था, पर अलंकार विहीन, इसलिये सरल और मार्मिक !...'[1]

सुमन पश्चात्ताप की अग्नि में भी जलती है। वह अपना कलंकित मुख अपनी बहन शान्ता को भी नहीं दिखाना चाहती। वह वेदना की अग्नि में जलती हुई, नेत्र-जल द्वारा अपना असन्तोष प्रकट करती है। वह सोचती है—'मैंने विलास-तृष्णा की धुन में अपने कुल का सर्वनाश कर दिया। मैं अपने पिता की घातिका हूँ, मैंने शान्ता के गले पर छुरी चलाई है, मैं उसे यह कालिमापूर्ण मुँह कैसे दिखाऊँगी ?...'[2]

प्रेमचन्द आधुनिक 'प्रगतिवादी' लेखकों की भाँति समाज को तोड़ना नहीं चाहते। अनिदिष्ट विद्रोह भी उन्हें इष्ट नहीं था। समाज का मंगल और व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण आत्मविकास दिखाना, उनका लक्ष्य था। प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता एक गृहस्थ नारी का विद्रोह दिखाने में है। लेकिन 'वेश्या' उनका नारी का आदर्श रूप नहीं था। उन्होंने दिखाया है कि आर्थिक पराधीनता एवं अत्याचार के जुए के नीचे पिसती हुई नारी की आवाज को पहचानो ? नहीं तो समाज के आँगन में 'वेश्या' रूपी विष लता के विस्तार को तुम नहीं रोक सकते। वेश्या-वृत्ति प्रस्तावों के बल पर समाप्त नहीं की जा सकती। उसके लिये सुमन जैसी अभागिन नारियों को आत्म-विकास के लिये हमें उन्मुक्त वातावरण देना होगा। उसके 'आत्म-गौरव' का सम्मान करना सीखना होगा।

साध्वी सुमन के चरणों पर गजानन्द गिरता है। वह उससे क्षमा-याचना करता है। सुमन अन्याय का सर्वत्र विरोध करती है। नम्रता का अर्थ अपमानित होना वह नहीं मानती। वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहती, परन्तु प्रतिहिंसा से भी उसे हिचक नहीं है। वह पाखंडियों की दुर्गति बनाकर संतुष्ट होती है। वह क्रोध छिपाना भी नहीं जानती। वह गजाधर के अन्याय का तीव्र प्रतिकार करती है एवं शान्ता पर सदन द्वारा किये गये अत्याचार की कटु शब्दों में भर्त्सना करती है। वह अपमान एक क्षण के लिये भी नहीं सह सकती। जब शान्ता और सदन के झोपड़े में उसे अपनी उपेक्षा एवं अपमान होता दृष्टिगोचर हुआ—वह एक क्षण भी वहाँ नहीं रुकती। वह 'सेवा' की सजीव प्रतिमा अन्त में बन जाती है।

कुछ अन्य पात्र

इस उपन्यास में सुमन की बहन 'शान्ता' का चरित्र भी बहुत प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मानव-चरित्र की सबलता और दुर्बलता का प्रेमचन्दजी को

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ २२१, २. वही—पृष्ठ २५६

व्यवहारिक ज्ञान था। शान्ता भी सुमन की भाँति साहसी एवं अपने प्रति सजग नारी है। वकील साहब को वह पत्र लिखने का साहस करती है। अपने पति 'सदन' के साथ कुछ दिनों तक सहवास करने के पश्चात् उसकी मनोवृत्ति एकदम बदल जाती है। वह भूल जाती है कि पतिता बहन सुमन के सद्‌प्रयत्नों के फलस्वरूप उसे पति-प्रेम का सुख प्राप्त हुआ। वह ईर्ष्यालु हो उठती है। उसे शंका होती है कि कहीं सुमन उसके पति को अपनी ओर आकृष्ट न कर ले। परिश्रमी बहन सुमन उसकी आँखों में गड़ने लगती है। यह शान्ता के चरित्र का दुर्बल परन्तु अत्यंत मार्मिक और स्वाभाविक पक्ष है।

'सदन' द्वारा लेखक ने मध्यमवर्ग के एक ग्रामीण युवक का सफल एवं सजीव चरित्र प्रस्तुत किया है। वह गाँव से शहर में आता है। शहर में आकर वह विलास की ओर आकृष्ट होता है। उन्माद बढ़ता है। वह घोड़े पर सवार होकर दालमण्डी के चक्कर लगाता है। सुमन से प्रेम करता है और अपनी चाची के कंगन चुराने में भी नहीं हिचकता। बौद्धिक जागृति से प्रभावित होकर वह वेश्याओं से घृणा करना चाहता है, लेकिन सुमन के प्यार को भूलने में वह असमर्थ सिद्ध होता है। उसका विवाह होता है, लेकिन दुल्हन घर पर नहीं आ पाती है। सुमन के कटु-शब्द सुनकर उसकी कर्त्तव्य-बुद्धि जागरित होती है। वह परिश्रम द्वारा स्वावलम्बी बनता है। अपनी पत्नी को आश्रय देता है। परिवार, जाति और समाज की उपेक्षा करता है। स्वावलम्बी सदन के समक्ष सबको झुकना पड़ता है। उसके विरोधी भी उसके समक्ष समझौते का हाथ बढ़ाते हैं।

'विट्ठलदास' द्वारा प्रेमचन्द ने उस युग के एक ऐसे उत्साही सुधारक का चरित्र चित्रित किया है, जो करना बहुत कुछ चाहता है परन्तु अर्थाभाव के कारण, हर कार्य में रुकावट पड़ जाती है। अपने मित्र ही उसके भले कार्यों के सबसे बड़े आलोचक बन बैठते हैं। कुछ धन की सहायता प्रदान कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि भी चाहते हैं। परन्तु विट्ठलदास का उत्साह कभी मन्द नहीं पड़ता और वे किसी भी मूल्य पर अपने 'ईमान' को नहीं बेचते हैं। उनका धैर्य सराहनीय है।

प्रेमचन्द के अनुसार—मनुष्य मूलतः अच्छा होता है, परिस्थितियाँ उसे बुरा बनाती हैं। इस दृष्टि से 'सुमन' ही नहीं, सेवासदन के अन्य सभी पात्र मूलतः अच्छे हैं। परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़कर भले ही वे भ्रष्ट हो जाते हैं, लेकिन अन्त में बुराई पर अच्छाई विजय प्राप्त करती है। गजाधर साधु बन जाता है, कृष्णचन्द्र नदी में डूब मरते हैं, सदन अपना एक अलग संसार बसाता है, सुमन सेवा-धर्म ग्रहण करती है, पद्मसिंह—विट्ठलदास के साथ 'आश्रम' के संचालन में उत्साह प्रदर्शित करते हैं। इसीप्रकार प्रेमचन्द ने मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं एवं सबलताओं के साथ चित्रित किया है। उनके चरित्र-चित्रण की अपूर्व विशेषता थी—मनुष्य के 'सद्भाव' पर अटूट विश्वास! 'सेवासदन' में 'सदन' का चरित्र सबसे अधिक स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण लगता है।

कथोपकथन

प्रेमचन्द के कथोपकथन स्वाभाविकता लिये हुए हैं, उनका व्यंग्य अपूर्व है। उनके कथोपकथन में जीवन की ताजगी और स्वाभाविकता है। बोलचाल में स्त्रियों की एक विशेष प्रवृत्ति यह होती है कि मुहावरे और लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग करती हैं। सुमन भी गजाधर से ऐसी ही शब्दावली में वार्तालाप करती है—'एक बार तो कह दिया कि मैं दस-ग्यारह बजे यहाँ आ गयी। अगर तुम्हें विश्वास नहीं आता, न आये। जो गहने गढ़ाते हो मत गढ़ाना। रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी। जब देखो म्यान से तलवार बाहर ही रहती है, न जाने किस बिरते पर।'[1]

शर्मा जी मध्यम वर्ग के मनुष्य थे। सदा खर्च आय से अधिक होता। उन्होंने खर्च में कमी करने का निश्चय किया। अब तनिक पति-पत्नी के व्यंगपूर्ण वार्तालाप को सुनिये—

'सुभद्रा—हाँ, हो सकती है। रोशनी की क्या आवश्यकता है, साँझ ही से बिछावन पर पड़ रहे। यदि कोई मिलने-मिलाने आयेगा तो आप ही चिल्लाकर चला जायेगा या घूमने निकल गये और नौ बजे लौटकर आये; और पंखा तो हाथ से भी झला जा सकता है। क्या जब बिजली नहीं थी तो लोग गर्मी के मारे बावले हो जाते थे?

पद्म—घोड़े के रातिब में कमी कर दूँ?

सुभद्रा—हाँ, यह दूर की सूझी। घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय, घास काफी है। यही न होगा, कि कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आयेंगी। किसी तरह मर जीकर कचहरी तक ले ही जायगा, यह तो कोई नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है!

× × ×

सुभद्रा—हाँ, हो जायगा, कुछ कठिन नहीं है। भोजन एक ही समय बने, दोनों समय बनने की क्या जरूरत है। संसार में करोड़ों मनुष्य एक ही समय खाते हैं, किन्तु बीमार या दुबले नहीं होते।'[2]

प्रेमचन्द के कथोपकथन सदैव सार्थक होते हैं। उनसे कथा का विकास होता है, चरित्र-विशेष पर प्रकाश पड़ता है एवं उनके द्वारा लेखक अपनी बात पाठकों तक सरलता से पहुँचाता है। कथोपकथन द्वारा न केवल पात्र सजीव रूप में हमारे मानस नेत्रों के समक्ष उपस्थित होता है, वरन् लेखक का सामाजिक व्यंग भी स्पष्ट हो जाता है। भाषा का चलतापन ऐसे अवसरों पर देखते ही बनता है।

'सुमन—मुन्शीजी मैं सच कहती हूँ, यह दोनों आँखें फूट जायँ अगर मैंने जान-बूझकर आग लगायी हो। आप से बैर भी होता तो दादी बेचारी ने मेरा क्या बिगाड़ा था?

अबुल—माशूकों की शोखी और शरारत अच्छी मालूम होती है, लेकिन इतनी

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ४', २. वही—पृष्ठ ७२-७३

नहीं कि मुँह जला दें। अगर तुमने आग से कहीं दाग दिया होता तो इससे अच्छा था। अब यह भुन्नास की सी सूरत लेकर मैं किसे मुँह दिखाऊँगा। वल्लाह! आज तुमने मटियामेट कर दिया।

सुमन—क्या करूँ, खुद पछता रही हूँ। अगर मेरे दाढ़ी होती तो आपको दे देती। क्यों, नकली दाढ़ियाँ भी तो मिलती हैं?'[1]

विनोद से भी अधिक प्रभावकारी वे संवाद हैं, जहाँ कोई पात्र अपना आक्रोश प्रकट करता है। सुमन अनेक अवसरों पर ढोंगियों को फटकार सुनाती है। पण्डित दीनानाथ पर पहले वार्निश गिराकर अपना क्षोभ प्रकट करती हुई वह कहती है—'जरा सा कपड़े खराब हो गये उस पर ऐसे जामे से बाहर हो गये, यही आपकी मुहब्बत है, जिसकी कथा सुनते-सुनते मेरे कान पक गये। आज उनकी कलई खुल गयी। जादू सिर पर चढ़ के बोला। आपने अच्छे समय पर मुझे सचेत किया। अब कृपा करके घर जाइए, यहाँ फिर न आइएगा। मुझे आप जैसे मियाँ मिट्ठुओं की जरूरत नहीं।'[2]

भाषा-शैली

प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये थे। उनकी भाषा में इसीलिये मुहावरेदानी मिलती है। लोक-प्रचलित मुहावरों को उन्होंने ठेठ रूप में अपना लिया, इससे उनकी भाषा में न केवल सरलता, प्रवाह एवं सौन्दर्य ही आया वरन् बोलचाल की जिन्दादिली भी आ गई। उनके पात्र सदा अपनी भाषा बोलते हैं। ग्रामीण पात्र के संवाद में यदि आपको देशज शब्दों की सादगी मिलेगी तो मुसलमान पात्र की भाषा में उर्दू शब्दों की छटा मिलेगी और पढ़े-लिखे पात्र की भाषा में अंग्रेजी शब्दों की बानगी। उनकी नारी-वर्ग की पात्राएँ लोकोक्तियों की चासनी से अपनी भाषा में अपूर्व मिठास उत्पन्न करती हैं।

वेश्या भोली की भाषा का नमूना देखिये—'मालूम हो जाता कि हमारी जिन्दगी का क्या मकसद है, हमें जिन्दगी का लुत्फ कैसे उठाना चाहिये। हम कोई भेड़-बकरी तो हैं नहीं कि माँ-बाप जिसके गले मढ़ दें बस उसी की हो रहें। अगर अल्लाह को मंजूर होता कि तुम मुसीबतें झेलो तो तुम्हें परियों की सूरत क्यों देता?'[3]

प्रेमचन्द की वर्णनात्मक शैली का सौन्दर्य देखिये—'इन दूकानों के ऊपर सौन्दर्य का बाजार था। सदन को देखते ही उस बाजार में एक हलचल मच जाती। वेश्याएँ छज्जों पर आकर खड़ी हो जातीं और प्रेम कटाक्ष के बाण उस पर चलातीं। देखें यह बहका हुआ कबूतर किस छतरी पर उतरता है। यह सोने की चिड़िया किस जाल में फँसती है?'[4]

अबुलवफा की ऊर्दू की लफ्फाजी देखते ही बनती है—'अबुलवफा ने कहा, आदाब अर्ज है बन्दानवाज! आज कुछ तबीयत परेशान है क्या? वल्लाह आपका

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ १३२-३३, २. वही—पृष्ठ १३८, ३. वही—पृष्ठ ५६२, ४. वही—पृष्ठ ७५

ईसार देखकर रूह को सरूर हो जाता है। खुशनसीब है वह कौम जिसमें आप जैसे खादिम मौजूद हैं। एक हमारी खुदगरज, खुशनुमा कौम है जिसे इन बातों का एहसास ही नहीं। जो लोग बड़े नेकनाम हैं वह भी गरज से पाक नहीं, क्यों मुन्शी अब्दुल लतीफ साहब ?'[1]

उनकी भाषा भावों को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। उपमाओं एवं रूपक की बहार से एक अपूर्व रंगीनी आ गई है। उदाहरणार्थ—"जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुन्दर रंगों से चित्रों में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आने से झोपड़ी में जान आ गयी है। अन्धी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझायी हुई कली शान्ता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सतायी हुई रमणी अब निखर गयी है, प्रेम में मग्न है।......नित्य-प्रति प्रातःकाल इस झोपड़े से दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा में डूब जाते हैं।'[2]

प्रेमचन्द की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता सूक्ति रूपी मोती की उज्ज्वल-छटा में दिखाई पड़ती है। यह सूक्तियाँ जीवन के गम्भीर अनुभव एवं चिंतन का प्रसाद हैं। 'सेवासदन' में ऐसी अनेक सूक्तियाँ मिलती हैं। कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं:—

(i) 'रूखी रोटियाँ चांदी के थाल में परोसी जायँ तो भी वे पूरियाँ न हो जायँगी।'[3]

(ii) 'व्यंग और क्रोध में आग और तेल का संबंध है। व्यंग हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर देता है जैसे छेनी बर्फ के टुकड़े को।'[4]

(iii) 'विपत्ति में हमारी मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल हो जाती हैं। उस समय बेमुरौती घोर अन्याय प्रतीत होती है और सहानुभूति असीम कृपा।'[5]

(iv) 'साहसी पुरुष को कोई सहारा नहीं होता तो वह चोरी करता है, कायर पुरुष को कोई सहारा नहीं होता तो वह भीख माँगता है, लेकिन स्त्री को कोई सहारा नहीं होता तो वह लज्जाहीन हो जाती है।'[6]

(v) 'युवा-काल की आशा पुआल की आग है, जिसके जलने-बुझने में देर नहीं लगती।'[7]

(vi) 'लहर यदि मीठे स्वरों में गाती है तो भयंकर ध्वनि से गरजती भी है। हवा अगर लहरों को थपकियाँ देती है तो कभी-कभी उन्हें उछाल भी देती है।'[8]

देश-काल

प्रश्न होता है कि 'सेवासदन' की मुख्य समस्या क्या है ? कुछ समीक्षक 'वेश्या-

---

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ १९७, २. वही—पृष्ठ ३१७, ३. वही—पृष्ठ ३, ४, वही—पृष्ठ ४७, ५. वही—पृष्ठ ५३, ६. वही—पृष्ठ ६५, ७. वही—पृष्ठ २९०, ८. वही—पृष्ठ २९३

सुधार को केन्द्रिय समस्या बताते हैं तो अन्य समीक्षक दहेज का 'दुष्परिणाम दिखाना' मुख्य समस्या बताते हैं। वास्तव में ये सेवासदन की मुख्य समस्याएँ न होकर, उसके कुछ गंभीर पहलू हैं। वेश्या-जीवन इस उपन्यास का मुख्य विषय नहीं है। सुमन यद्यपि पूरे कथानक पर छाई हुई है, लेकिन फिर भी वह 'वेश्या-वर्ग' का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। वेश्या बनकर भी वह 'तन-मन' की पवित्रता नहीं खोती, जो एक भारतीय गृहस्थ-रमणी के जीवन की सबसे बड़ी साधना मानी जाती है। श्री मन्मथनाथ गुप्त भी इस उपन्यास की केन्द्रिय समस्या 'वेश्याओं का प्रश्न' मानते हैं। सुमन जिन परिस्थितियों में धीरे-धीरे कोठे पर जा बैठती है, उसका चित्रण अच्छा हुआ है।[1]

श्री हंसराज 'रहबर' ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रेमचन्द-जीवन और कृतित्व' में 'सेवासदन' के विषय में लिखा है—'यह भी सामाजिक उपन्यास है और स्त्री की दीन समस्या को लेकर लिखा गया है। इसके साथ ही मध्यम-वर्ग के लोगों की आर्थिक कठिनाइयों और सामाजिक बन्धनों पर प्रकाश डाला गया है और ऊँचे 'सभ्य-वर्ग' की आत्म-विडम्बना, ढोंग और बगुला-भक्ति की अच्छी कलई खोली गई है। उपन्यास मूलतः सुधारवादी है। उन्होंने वेश्याओं की समस्या का भावनात्मक और सुधारवादी हल उपस्थित किया है।...उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी है कि वेश्याएँ कोई विधाता की ओर से बनकर नहीं आतीं, यह निष्ठुर समाज ही हमारी बहू-बेटियों को वेश्याएँ बनने पर मजबूर करता है।...'

डा० रामविलास शर्मा इस उपन्यास का मुख्य विषय वेश्या-जीवन नहीं मानते। उनके अनुसार—'सेवासदन की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है! प्रेमचन्द ने किस तरह तमाम पुरानी सांस्कृतिक परम्पराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता को अपने निष्ठुर और बीभत्स रूप में चित्रित किया है, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता।...प्रेमचन्द ने नकली आदर्शों की रामनामी खींचकर पंडितों और मौलवियों, समाज के 'प्रतिष्ठित' सज्जनों और धनपतियों का वास्तविक रूप जनता के सामने प्रकट कर दिया।...'[2]

श्री रामरतन भटनागर इसलिये प्रेमचन्द से असन्तुष्ट हैं कि 'सेवासदन' में वेश्या-समस्या का कोई हल नहीं है। वे कहते हैं—'सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शान्ता और सदन का परिश्रम समस्या का कोई सही हल प्रस्तुत नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें, तो भी परिस्थिति का अन्त नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्याएँ रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते वे मध्यमवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते।

---

१. कथाकार प्रेमचन्द—पृष्ठ १९९, २. 'प्रेमचन्द और उनका युग'—पृष्ठ २३

वस्तुतः ऐसा लिखते समय हम भूल जाते हैं कि यह हिन्दी उपन्यास १६१६ के लगभग प्रकाशित हुआ। बिना उस युग को पृष्ठभूमि में रखे, हम इसका सही मूल्याकन नहीं कर सकते। उस युग की राजनीति भावमूलक तथा सुधारवादी थी। प्रेमचन्दजी प्रारम्भ से ही भारतीय आदर्शों के अनुकूल आत्मा की अनवरत परिशुद्धि में विश्वास रखते है। उनका विश्वास था कि पापी जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति भी पवित्र होने की कामना रखता है। फिर उपन्यासकार का कर्तव्य प्रत्येक समस्या का समाधान देना नहीं है। दलित एवं शोषित के प्रति सहानुभूति दिखाना ही महान होता है, लेकिन प्रेमचन्द ने उस वर्ग को अविजेय वाणी दी। वे समस्या के अन्दर अपने युगानुरूप गहरे पैठे थे एवं आर्थिक विषमता तथा मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों का सही उद्‌घाटन किया है।

गजानन्द कहता है—'स्त्री मैले-कुचैले, फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, आभूषण-विहीन होकर, आधे पेट सूखी रोटी खाकर, झोपड़े में रहकर, मेहनत मजदूरी कर, सब कष्टों को सहते हुए भी आनन्द से जीवन व्यतीत कर सकती है। केवल घर में उसका आदर होना चाहिये, उससे प्रेम होना चाहिये। आदर या प्रेम-विहीन महिला महलों में भी सुख से नहीं रह सकती।...'[1]

यह कितना बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है इसे बताने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में देश-काल की व्यापक यथार्थ अभिव्यक्ति की है। ब्रिटिश भारत की पुलिस का रूप ही नहीं, राष्ट्रीयता का भाव भी अंकित मिलता है। पराधीन भारत की विपन्नावस्था से लेखक कितना दुःखी है, इसे 'संगीत पाठशाला' के गायनाचार्य की इन पंक्तियों द्वारा मार्मिकता से प्रकट किया है—

'दयामयि भारत को अपनाओ।
सोये आर्य जाति के गौरव, जननि ! फेर जगाओ।
दुखड़ा पराधीनता रूपी बेड़ी काट बहाओ !!'[2]

लेखक भारत की पराधीनता की तरह हिन्दी साहित्य की दरिद्रता से भी दुःखी है—'कितने शोक की बात है जिस देश में रामायण जैसे अमूल्य ग्रन्थ की रचना हुई, सूरसागर जैसा आनन्दमय काव्य रचा गया, उसी देश में अब साधारण उपन्यासों के लिये हमको अनुवाद का सहारा लेना पड़ता है।...मेरा तो यह निश्चय होता है कि अनुवादों से हिन्दी का अपकार हो रहा है। मौलिकता को पनपने का अवसर नहीं मिलने पाता!'[3]

मौलिकता के समर्थक प्रेमचन्द के 'सेवासदन' की यह पंक्तियाँ इतनी मौलिक हैं कि गम्भीर समीक्षकों की दृष्टि ही इधर नहीं गई।

कुल मिलाकर 'सेवासदन' में देश-काल का यथार्थ चित्रण मिलता है। म्युनिस्पैलिटी का सही रूप एवं सदस्यों की कार्यप्रणाली का सजीव चित्र लेखक ने प्रस्तुत

१. 'सेवासदन'—पृष्ठ ३४७, २. वही—पृष्ठ ३३५, ३. वही—पृष्ठ २१०

किया है। हिन्दू-मुसलमानों के बीच उत्पन्न होनेवाली दरार को भी लेखक ने कुशलता-पूर्वक स्पष्ट किया है। आदर्श की दुनिया में जीनेवाले, कट्टर समाज-सुधारक विट्ठलदास के चरित्र द्वारा लेखक ने भावुकता के आधार पर किये जानेवाले समाज-सुधारों की निस्सारता एवं अवास्तविकता पर प्रच्छन्न व्यंग किया है। विट्ठलदास के आश्रम की दीवारें, सुमन और शान्ता को कैद नहीं कर पातीं एवं उनका कठोर अनुशासन विधवाओं के असन्तोष को भी नहीं रोक पाता।

'सेवासदन' का वास्तविक संदेश किसी 'आश्रम' की स्थापना या साधु-सन्यासी का जीवन अपनाना नहीं है, वरन् नारी को आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा देना एवं पुरुष के आर्थिक शोषण की चक्की में पिसती हुई बेजबान नारी की मूक व्यथा को पहचानने की सही दृष्टि प्रदान कर, उसका आदर एवं प्रेम करना सिखाना है। यही 'सेवासदन' का वास्तविक युगान्तरकारी महत्त्व है।

———

ग़बन

१९३० के लगभग जब प्रेमचन्द का 'ग़बन' नामक सामाजिक उपन्यास प्रकाशित हुआ, भारतीय जन-जीवन एक नयी करवट बदल रहा था। गाँधी के सशक्त नेतृत्व द्वारा, प्राणहीन भारतीय लोक-जीवन में प्राणों की प्रतिष्ठा की जा चुकी थी। 'असहयोग' एवं 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलन' ने देश के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में एक नयी चेतना का विस्तार किया। कौंसिल-भवन की दीवारों में कागजी प्रस्तावों का युग बदल रहा था। जनता ने राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। 'स्वदेशी' की चारो ओर धूम थी एवं 'विदेशी' वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन दिन प्रति-दिन उग्रतर होता जा रहा था। पुलिस-अत्याचार भी अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। लेकिन 'रंगभूमि' के 'सूरदास' जैसे अमर शहीदों की परम्परा, 'देवीदीन' जैसे निस्वार्थ राष्ट्रभक्त, निष्काम भाव से तन-मन अर्पित करते हुए, आगे बढ़ा रहे थे। उत्साह मन्द नहीं पड़ा था।

प्रेमचन्द भी इस समय तक, न केवल विचारों की दृष्टि से वरन् कला की दृष्टि से भी, एक लम्बी मंजिल तय कर चुके थे। 'प्रतिज्ञा' तथा 'वरदान' नामक उपन्यासों से हिन्दी क्षेत्र में पदार्पण करनेवाले सामाजिक उपन्यासकार प्रेमचंद, 'ग़बन' लिखने से पूर्व 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'कायाकल्प' तथा 'रंगभूमि' ऐसे प्रौढ़ उपन्यासों की रचना कर चुके थे। 'ग़बन' में हम प्रेमचन्द को एक दो-राहे पर खड़ा पाते हैं। एक रास्ता वह था जिसे वह तय कर चुके थे—सुमन और निर्मला की परम्परा में 'जालपा' के रूप में हम एक बढ़ा हुआ कदम पाते हैं; और दूसरा वह रास्ता था जिसे अभी तय करना शेष था—वह 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में जाकर पूरा होता है। यही 'ग़बन' का युगान्तरकारी महत्त्व है।

'गबन' में प्रेमचन्द ने सफलतापूर्वक मध्यम-वर्ग के खोखलेपन को दर्शाया है। प्राचीन और नवीन आदर्शों तथा प्राचीन एवं नये मूल्यों के घात-प्रतिघात के बीच पिसते हुए मध्यम-वर्ग के संघर्षशील जीवन को प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में सजीव वाणी प्रदान की है। प्रारम्भ के उदारतावादी एवं सुधारवादी प्रेमचन्द—'ग़बन' में 'असहयोग' एवं 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलन' से प्रभावित सामाजिक जीवन की सच्ची तस्वीर हमारे सामने रखते हैं। पूँजीवादी तथा पाश्चात्य सभ्यता के आघात ने जीवन के मध्यकालीन एवं आधुनिक दृष्टिकोण के बीच जो गहरी खाई खोद दी थी, उस पर भी लेखक ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उच्च-वर्ग के प्रभाव के कारण मध्यम-वर्ग में जो झूठी सम्मान-भावना तथा आडम्बर-प्रेम जैसी दुर्बलताएँ घर कर गई थीं, उसे प्रेमचन्द ने मार्मिक ढङ्ग से व्यक्त किया है।

प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि के कारण, बड़े-बड़े राष्ट्रवादी नेताओं की पोल जान ली थी। 'ग़बन' का महत्त्व इसी बात में है कि लेखक ने निर्भीकता-पूर्वक 'सचाई' को उभार कर सामने रख दिया है। दूध का दूध और पानी का पानी स्वयं स्पष्ट और अलग हो गया है। देवीदीन के इन शब्दों द्वारा, प्रेमचन्द ने कितनी बड़ी बात, कितने सहज ढङ्ग से कह दी है—'इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है।......बड़े-बड़े देशभक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, एक भी देशी चीज न मिलेगी।......अरे, तुम क्या देश का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो! गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है।......हाँ रोये जाओ, विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती बर्तनों में खाओ, विलायती दवाइयाँ पीयो, पर देश के नाम पर रोये जाओ। मुदा, इस रोने से कुछ न होगा। रोने से माँ दूध पिलाती है, शेर अपना शिकार नहीं छोड़ता।'[१]

'ग़बन' में प्रेमचन्द ने भावी स्वराज्य की रूपरेखा के सम्बन्ध में भविष्यवाणी भी कर दी है। दुःख है कि आज प्रेमचन्द जीवित नहीं हैं, नहीं तो वह भी अपनी आँखों देखते कि देवीदीन के कथन में आज भी कितनी सचाई है—'साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के आगे आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे; तुम भी अंग्रेजों की तरह बँगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे, इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा।......अभी तुम्हारा राज नहीं, तब तो तुम भोग-विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायेगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे!......[२]

मध्यम वर्ग के आर्थिक अभावों, नारी का आभूषण-प्रेम एवं नई शिक्षा के प्रभावस्वरूप नवयुवकों का अत्यधिक आडम्बर प्रेम—इन सब छोटी-बड़ी समस्याओं के साथ देश-प्रेम का महान प्रसंग जोड़कर, कथानक को लेखक ने अपूर्व रूप-रंग प्रदान किया है। इससे उपन्यास का न केवल देश-काल ही व्यापक बना, वरन् स्थायी जीवन-मूल्यों का भी सहज समावेश संभव हो सका।

प्रेमचन्द जी की दृष्टि में भारतीय नारी की महानता सेवा तथा त्याग में है। आभूषणों की दुनिया में पलनेवाली जालपा, अवसर आने पर सहर्ष कर्त्तव्य की बलि-वेदी पर विलास एवं ऐश्वर्य का बलिदान कर देती है। 'सुमन' सदैव किसी के 'आश्रय' की कामना करती है। वह अपने पैरों पर खड़े रहने का साहस नहीं करती। हाँ, केवल 'वेश्या' बनकर ही वह कुछ दिनों के लिये आत्म-निर्भर बनती है। परन्तु उसमें सदैव हम एक जल्दबाजी पाते हैं। विद्रोह तो ठीक है, परन्तु विवेक का सर्वथा अभाव है। 'निर्मला' एक दूसरे ढंग की भारतीय नारी है। उसकी सहिष्णुता

---

१. 'ग़बन'—पृष्ठ १७४ २. वही—पृष्ठ १७४-७५

अपूर्व है। रूढ़ि के वर्गीय साँचे में कसी जाने पर भी, वह विनम्र भाव से दुःख एवं कष्ट झेल जाती है। वह 'सुमन' की भाँति समाज को चुनौती भी नहीं देती। उसकी पराजय में ही यथार्थ-जीवन की सचाई एवं दर्द मिलता है, जो हमारे परंपरा-बद्ध विश्वासों एवं मान्यताओं पर मार्मिक आघात करता है। 'जालपा' एक नये ढंग की नारी है। उसमें प्राचीन मान्यताओं एवं नये विश्वासों तथा संभावनाओं का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। परम्परा की लीक पर चलनेवाली जालपा, अपना पथ स्वयं बनाना भी जानती है। वह केवल कुशाग्र-बुद्धि या धैर्यशील नारी ही नहीं, वरन् सेवा एवं त्याग की सजीव प्रतिमा है। न दहेज उसके प्रारम्भिक जीवन की बाधा है, न उसका अनमेल विवाह ही किसी वृद्ध से हुआ है। फिर भी उसके जीवन की 'ट्रैजडी' मार्मिक है। उसे ऐसा जिन्दादिल पति मिला है, जो उससे प्रेम तो करता है, परन्तु उसपर विश्वास नहीं करता। वह अपने काल्पनिक ऐश्वर्य से जालपा का मन जीतना चाहता है। दाम्पत्य-जीवन का यह खोखलापन बहुत घातक सिद्ध होता है। लेकिन जालपा ऐसी साहसी नारी है, जो एक क्षण के लिये भी विवेक या धैर्य नहीं खोती। वह अकेली परिस्थितियों से जूझती है। अन्त में स्वयं पति का उद्धार करती है।

स्पष्ट है कि 'गबन' में प्रेमचन्द ने पतित नारी का उद्धार किसी समाज-सुधारक से न कराके, पतन के गर्त में गिरे—लक्ष्य-भ्रष्ट पुरुष का उद्धार 'नारी' द्वारा कराया है। यह हिन्दी कथा-साहित्य में एक नये ढंग का यथार्थ था। 'नारी' को पहली बार इतनी महत्ता तथा गौरव प्राप्त हुआ था। यही वास्तव में प्रेमचन्द का युगान्तरकारी कार्य था।

कथा

गबन का प्रारम्भ अत्यंत स्वाभाविक है। सावन की घटाओं के नीचे, सहेलियों के साथ जालपा झूला झूल रही है। एक बिल्लौर का हार पाकर बालिका जालपा अत्यंत प्रसन्न होती है। यही उस बालिका की सबसे प्रिय एवं मूल्यवान सम्पत्ति थी। इस प्रकार लेखक ने कुशलतापूर्वक कथानक की मुख्य पृष्ठभूमि का आभास, इस एक सरस चित्र द्वारा दे दिया है।

जालपा के पिता महाशय दीनदयाल थे। प्रेमचन्द ने उनका परिचय देते हुए लिखा है—'वह किसान न थे, पर खेती करते थे। जमींदार न थे, पर जमींदारी करते थे। थानेदार न थे, पर थानेदारी करते थे। वह थे जमींदार के मुख्तार। गाँव पर उन्हीं की धाक थी। उनके पास चार चपरासी थे, एक घोड़ा, कई गाय-भैंसें। वेतन कुल पाँच रुपये पाते थे, जो उनके तम्बाकू के खर्च को भी काफी न होता था। उनकी आय के और कौन से मार्ग थे, यह कौन जानता है।'[1]

---

१. गबन—पृष्ठ ४,

ऐसी पाप और रिश्वत की कमाई—'आभूषणों' पर व्यय होते। पाँच रुपये मासिक जिसकी तन्खाह हो, वह भी 'घूस' के बदौलत छः सौ रुपये का पत्नी को चन्द्रहार दे सकता है, बेटी के विवाह में एक हजार तिलक देने का साहस कर सकता है।

रमानाथ के पिता महाशय दयानाथ कचहरी में नौकर थे। इनकी प्रकृति ही दूसरी थी। अत्यंत सज्जन एवं सहृदय व्यक्ति थे। वह बहुत ऊँचे आदर्श के आदमी न थे, लेकिन फिर भी रिश्वत को हराम समझते थे। उन्होंने अपनी आँखों इसका दुष्परिणाम देखा था। किसी को जेल जाते, किसी को संतान से हाथ धोते और किसी को कुव्यसनों के पंजे में फँसते देखा था। उनका दृढ़ विश्वास था कि हराम की कमाई हराम में जाती है।

उपन्यास के प्रारम्भ में ही दो विपरीत विश्वासों एवं आचरण वाले व्यक्तियों को लेखक ने कुशलतापूर्वक नाटकीय ढंग से हमारे समक्ष उपस्थित किया है। सौभाग्य से इन दोनों का आपस में सम्बन्ध होता है। रमानाथ और जालपा का विवाह होता है। मुंशी दीनदयाल ने एक हजार रुपये तिलक में देकर दयानाथ के धैर्य को विचलित कर दिया। दीनदयाल की सहृदयता ने उनका संयम तोड़ दिया। और—'वे सारे टीमटाम, नाच-तमाशे जिनकी कल्पना का गला उन्होंने घोंट दिया था, वृहद् रूप धारण करके सामने आ गये। बँधा हुआ घोड़ा थान से खुल गया, उसे कौन रोक सकता है। धूमधाम से विवाह करने की ठन गयी।'[१]

सराफ से तीन हजार के गहने बनवा डाले। हजार रुपये पेशगी में दिया, हजार के लिये एक सप्ताह का वायदा किया। बाकी धीरे-धीरे चुक जायेंगे। लेकिन इतने से ही उन्हें सन्तोष न हुआ। एक हजार के जड़ाऊ चन्द्रहार के लिये भी जी ललचाया। लेकिन व्यावहारिक बुद्धि सम्पन्न-पत्नी ने रोक दिया।

बारात का यह नाटक 'पास' हो गया। लेकिन 'चन्द्रहार' का अभाव कन्या-पक्ष वालों को खटका। जिनके नाक सिकोड़ने के भय से महाशय दयानाथ ने चादर से बाहर पाँव फैलाया, उन्हें वे सारी टीम-टाम के बावजूद भी आलोचना से न रोक सके। फलस्वरूप जितनी उमंगों से ब्याह करने गये थे, उतना ही हतोत्साह होकर दयानाथ लौटे। अपनी भूल पर पछता रहे थे। लेकिन अब पछताये क्या होत है, जब चिड़िया चुग गई खेत!

सराफ के तकाजों से वह परेशान हो उठे। बड़े धर्म-संकट में पड़े। बहू से परदा करना वे आवश्यक न समझते थे। लेकिन रमानाथ या उसकी माता जागेश्वरी (!) इतने ओछे न थे। वे 'भ्रम' के पर्दे को आवश्यक मानते थे। बहू से गहने माँगना, एक टेढ़ी खीर थी। जालपा ने गहने सन्दूक में बन्द कर रख दिये थे। उसने प्रतिज्ञा की, जबतक 'चन्द्रहार' न बनकर आ जायेगा, कोई गहना न पहनूँगी!

---

१. गबन--पृष्ठ ९

रमानाथ ने स्वयं पत्नी को अंधकार में रखा था। इस पूरे कथानक की सबसे बड़ी 'ट्रैजडी' यह है कि रमानाथ कभी अपनी पत्नी से सत्य नहीं बोलता। यह मध्यम-वर्गीय खोखली संस्कृति का ही प्रभाव है कि हम अपनी वास्तविकता को छिपाकर एक काल्पनिक गौरव को ऊपर से लादना चाहते हैं। चाहे ऐसा करने में हमारा सर्वनाश ही क्यों न हो जाय। अतएव 'रमानाथ ने जवानों के स्वभावानुसार जालपा से खूब डींग उड़ाई थी। खूब बढ़-बढ़कर बातें की थीं। जमींदारी है, उससे कई हजार का नफा है। बैंक में रुपये हैं, उनका सूद आता है। जालपा से अब अगर गहने की बात कही गई, तो रमानाथ को वह पूरा लबाड़िया समझेगी।'[१]

फलस्वरूप रमानाथ छल का आश्रय ग्रहण करता है। जालपा को मिठाई के साथ भाँग खिलाकर, उसके गहने की संदूकची ही गायब कर देता है।

आभूषण-मंडित संसार में पली हुई जालपा का आभूषण-प्रेम स्वाभाविक ही था। गहने चोरी चले जाने पर, उसने खाट पकड़ ली।

वह रमा से केवल खिंची न रहती थी, वह कभी कुछ पूछता, तो दो-चार जली-कटी सुना देती। गरीब अपनी ही लगायी हुई आग में जला जाता था। अगर वह जानता कि उन डींगों का यह फल होगा, तो वह जबान पर मुहर लगा लेता। अब सैर-सपाटे बन्द कर उसने नौकरी की तलाश में ठोकरें खानी शुरू की। उसकी मानसिक दशा उस समय अजीब हो चली थी—'वह कोई ऐसा उपाय सोच निकालना चाहता था, जिससे वह जल्द से जल्द अतुल सम्पत्ति का स्वामी हो जाय। कहीं उसके नाम कोई लॉटरी निकल आती! फिर तो वह जालपा को आभूषणों से मढ़ देता। सबसे पहले चन्द्रहार बनवाता। उसमें हीरे जड़े होते। अगर इस वक्त उसे जाली नोट बनाना आ जाता, तो वह अवश्य बनाकर चला देता!'[२]

जालपा की प्रेरणा से रमानाथ का उत्साह बढ़ा। अपने शतरंज-प्रेमी मित्र रमेश बाबू की बदौलत उसे म्युनिसिपैलिटी के दफ्तर में क्लर्क की नौकरी प्राप्त हो गई। तीस रुपये वेतन की बात कहकर वह पत्नी की आँखों में तुच्छ नहीं बनना चाहता था। उसने चालीस रुपये मासिक वेतन बताया, ऊपर की आमदनी अलग है। लेकिन माँ को यह वेतन बीस रुपये ही बताने का निश्चय किया। दयानाथ ने पुत्र को ईमानदारी से कार्य करने का उपदेश दिया।

रमानाथ ने दूसरे दिन एक नया सूट बनवाया, और फैशन की कितनी ही चीजें खरीदीं। वह साहबी ठाट बनाकर सारे दफ्तर पर रोब जमाना चाहता था। प्रेमचन्द ने व्यंगात्मक शैली में उसकी इस प्रवृत्ति का मूल रहस्य इस प्रकार प्रकट किया है—'अच्छी आमदनी तभी हो सकती है, जब अच्छा ठाट हो। सड़क के चौकीदार को एक पैसा काफी समझा जाता है। लेकिन उसकी जगह सारजंट हो, तो किसी की हिम्मत न पड़ेगी कि उसे एक पैसा दिखाये। फटेहाल भिखारी के लिये एक चुटकी बहुत समझी जाती है,

---

१. गबन—पृष्ठ १८, २. वही—पृष्ठ ३०

लेकिन गेरुए रेशम धारण करनेवाले बाबाजी को लजाते-लजाते भी एक रुपया देना ही पड़ता है। भेख और भीख में सनातन से मित्रता है।'[१]

रमानाथ की पूरे दफ्तर में धाक बैठ गई। उसकी आमदनी बढ़ी तो खर्च भी इसी अनुपात में बढ़ता गया। सूखी कलम घिसनेवाले दफ्तर के बाबुओं को सिगरेट, पान, चाय या जलपान की इच्छा होती, तो रमानाथ के पास चले आते। उस बहती गंगा में सभी हाथ धोते थे। इधर दफ्तर में उसकी जितनी सराहना होती, घर में जालपा उतनी ही असन्तुष्ट थी। उसे अपनी उपेक्षा असह्य थी। उसे प्रसन्न करने के लिये बाध्य होकर रमानाथ ने उधार गहने खरीदे। रमेश बाबू ने उसे कर्ज लेने से मना भी किया, जालपा ने भी उसे समझाया—लेकिन रमानाथ पर जो प्रेम का भूत सवार था, उसने उसकी आँखें बन्द कर दीं।

आभूषण पाकर जालपा की पुरानी साध पूरी हो गई। नये चन्द्रहार को पाकर उसने पुराने काँच के हार को तोड़कर उसके दानों को इसप्रकार नीचे गली में फेंक दिया, जैसे पूजन समाप्त हो जाने के बाद कोई उपासक मिट्टी की पार्थिव को जल में विसर्जित कर देता है।

'उस दिन से जालपा के पति-स्नेह में सेवा-भाव का उदय हुआ। वह स्नान करने जाता तो उसे अपनी धोती चुनी हुई मिलती। आले पर तेल और साबुन भी रखा हुआ पाता। जब दफ्तर जाने लगता तो जालपा उसके कपड़े लाकर सामने रख देती। पहले पान माँगने पर मिलते थे, अब जबरदस्ती खिलाये जाते थे। पहले वह अनिच्छा से भोजन बनाने जाती थी और उस पर भी बेगार टालती थी। अब बड़े प्रेम से रसोई में जाती। चीजें भी वही बनती थीं, पर उनका स्वाद बढ़ गया था।'[२]

अब सराफखाने के दलालों को पता चला कि रमानाथ बाबू भी गहनों के शौकीन हैं, तो वे उनको रोज घेरने लगे। इस प्रकार एक दलाल ने एक दिन रमानाथ को फाँस लिया, और अनिच्छा होते हुए भी सात-सौ रुपये के एक जड़ाऊ कंगन तथा कानों के रिंग खरीदना पड़ा। रमानाथ पर कर्जे का बोझ और भी बढ़ गया। गहने पाकर जालपा अब वह एकान्तवासिनी रमणी न रह गई, जो दिन-भर मुँह लपेटे उदास घर में पड़ी रहती थी। अब 'आत्म-प्रदर्शन' के लिये वह अकेली ही बिरादरी में आने-जाने लगी। जालपा का खर्च भी बढ़ने लगा। पान-पत्ते और जलपान में ही उसके दो-तीन रुपये रोज खर्च हो जाते।

इस प्रकार मोमबत्ती दोनों सिरों से जल रही थी। उसके मिटने में भला कितनी देर लगती? पर्दे की नकाब भी रमानाथ ने उतार फेंकी। शाम को पत्नी के साथ सिनेमा हीं नहीं, पार्क में सैर करना भी साधारण बात बन गई थी। खर्च रोज बढ़ता जाता, उधर गहनेवालों को एक पैसा भी न दे सका था। उनके भी तगादे बढ़ते जा रहे थे।

---

१. गबन—पृष्ठ ४४, २. वही—पृष्ठ ६३-६४

हाईकोर्ट के एडवोकेट इन्दुभूषण की पत्नी रतन ने जालपा को पति के साथ अपने यहाँ चाय पर निमंत्रित किया। उसे साड़ी, नये जूते तथा नयी घड़ी से सुशोभित कर वहाँ ले जाने का हठ रमानाथ ने किया। एक सौ पैंतीस रुपये इस प्रकार और पानी में बहा दिये। रमानाथ अपने सौभाग्य पर फूला न समा रहा था। जालपा की बदौलत आज वह इतने बड़े आदमी का मेहमान था। रमानाथ की भाँति जालपा को भी सन्देह हो रहा था कि रतन वकील साहब की बेटी है या पत्नी।

वकील साहब की पहली स्त्री को मरे पैंतीस साल हो गये थे। उस समय उन वय केवल पचीस साल थी। लोगों के लाख समझाने पर भी इन्होंने दूसरा विवाह ' से इन्कार कर दिया। उस समय इनका एक पुत्र जीवित था। तीस-वर्षों तक विधुर रहे। इधर पाँच वर्ष हुए, जवान बेटा चल बसा। तब उन्होंने रतन से विवाह किया। रतन के माता-पिता इस असार संसार से पहले ही चल बसे थे। मामा ने पालन किया था और वकील साहब को सम्पन्न वर जानकर सहर्ष रतन का उनके साथ गठ-बन्धन करा दिया। रतन को कोई सन्तान न हुई थी। वकील साहब सदैव अपनी युवती पत्नी को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते रहते थे।

रतन को जालपा का जड़ाऊ कंगन बहुत पसन्द आया। यद्यपि उसके पास आभूषणों का अभाव न था, लेकिन इस नयी डिजाइन के कंगन पर उसका आभूषण-प्रेमी मन बुरी तरह लट्टू हो गया। उसने रमानाथ को वैसा ही कंगन बनाने के लि रुपये दिये। रमानाथ इन रुपयों को लेकर उसी सराफ के पास पहुँचे जिससे जालपा वाला कंगन उधार खरीदा था। दुकानदार अनुभवी एवं चतुर था। उसने रुपये पेटी में डाले और बोला, जब तक पिछला सारा हिसाब साफ नहीं हो जाता, नये कंगन नहीं बन सकते।

इधर रतन के तगादे दिन पर दिन बढ़ने लगे। एक दिन तो वह बिल्कुल आपे से बाहर हो गई, त्योरियाँ चढ़ गईं। रमानाथ के पुरुषार्थ को उस अविश्वास के व्यंग से चोट लगी। उसने दूसरे दिन देने का वचन दिया। वह चुंगी-विभाग में काम करता था। उसने जान-बूझकर देरी की, खजानची साहब चले गये। दिन भर की आमदनी आठ सौ रुपये वह घर ले जाता है। उसका इरादा गबन का नहीं था, बल्कि वह यह चाहता था कि वह इन रुपयों को दिखाकर रतन की तसल्ली कर दे, फिर वह रुपये चुका देगा। रतन उस दिन जब शाम को देर तक न आई, रमानाथ को आशा हो चली कि वह न आयेगी। वह घूमने के लिये निकल पड़ा। इधर रतन आई। जालपा जानती थी कि यह रुपये रतन के लिये लाये गये हैं। उसने तगादा किया। जालपा ने आव देखा न ताव झट अल्मारी से रुपयों की थैली निकालकर रतन के आगे पटक दी।

रमानाथ को इस अप्रिय कांड से बहुत क्षोभ हुआ। उसकी बाजी ही पलट गई। किसी प्रकार पाँच सौ रुपये की व्यवस्था तो हो गई, लेकिन बाकी के रुपये कहाँ

से आते ? जालपा के दो सौ रुपयों से उसे बहुत सहारा प्राप्त हुआ। रमानाथ ने रमेश बाबू से झूठ बोला। उसने बताया कि जेब से तीन सौ रुपये के नोट कल गायब हो गये। रमेश बाबू अधिक व्यावहारिक बुद्धि-सम्पन्न आदमी थे। उन्होंने इस कल्पित कहानी पर अविश्वास करते हुए कहा कि आखें बन्द कर रास्ते में चलते हो या नशे में। मेरी जेब से तो आज तक एक पैसा न गिरा। अगले दिन सबेरे तक की मुहलत देते हुए बोले—'कल रुपये न आये तो बुरा होगा, मेरी दोस्ती भी तुम्हें पुलिस के पंजे से बचा न सकेगी। मेरी दोस्ती ने आज अपना हक अदा कर दिया, वरना इस वक्त तुम्हारे हाथों में हथकड़ियाँ होतीं।'[1]

रमानाथ ने इधर-उधर हाथ पैर मारा, किन्तु कहीं से बाकी रुपये नहीं मिल सके। अन्त में उसने एक कागज में पत्र के रूप में जालपा को अपनी वर्तमान परिस्थिति लिखकर बताने की सोची। उसने कागज जेब में रखकर घर में प्रवेश किया। उसे फिर भी जालपा को पत्र देने का साहस नहीं हुआ। जालपा कहीं बाहर जाने को तैयार थी। उसने रमानाथ से दो रुपये माँगे। रमानाथ ने जब टाला तो जालपा ने उसकी जेब में हाथ डाल दिया। पत्र उसके हाथ पड़ गया। रमानाथ को ऐसा ज्ञान पड़ा मानों आसमान फट पड़ा, और कोई भयंकर जन्तु उसे निगलने के लिये बढ़ा चला आता है। वह धड़-धड़ करता बाहर निकल गया। सीधा रेलवे स्टेशन पहुँचा। गाड़ी खड़ी थी। वह उस पर सवार हो गया। गाड़ी में एक सहृदय वृद्ध देवीदीन से भेंट हुई। उसने रमानाथ के टिकट के पैसे चुका दिये। वह उसके साथ कलकत्ता चला गया।

पत्र पढ़कर जालपा को सारी परिस्थिति का ज्ञान हुआ। वह उसे खोजते हुए अकेले दफ्तर जा पहुँची। अपना चन्द्रहार बेचकर रमेश बाबू को बाकी रुपये चुकाये। लेकिन फिर रमानाथ का कहीं पता न चला ? जालपा स्वयं अपने को दोषी समझती थी। सास-ससुर ने भी उसे ताने दिये। मुंशी दयानाथ ने जालपा की तत्परता और सद्‌बुद्धि की सराहना नहीं की। उनके अनुसार—'आग लगाकर पानी लेकर दौड़ने से कोई निर्दोष नहीं हो जाता !'[2]

जालपा ने गहने बेचकर सराफ के रुपये चुका दिये। उसे अपने बनाव-शृंगार के प्रसाधनों को देखकर क्षोभ होता। उसने अपने सारे प्रसाधन द्रव्यों को एक बेग में रख दिया। फिर उसने जाकर बेग को पानी में फेंक दिया। अपनी दुर्बलता पर विजय पाकर उसका मुख प्रदीप्त हो गया। वह रतन से कहती है—'इसी विलासिता ने मेरी यह दुर्गति की है। यह मेरे विपत्ति की गठरी है, प्रेम की स्मृति नहीं। प्रेम तो मेरे हृदय पर अंकित है !'[3]

रमानाथ कलकत्ते जा पहुँचा। देवीदीन जैसे सहृदय सहयात्री के कारण, उस विशाल नगरी में भी रमानाथ का रहने को दो अंगुल जमीन और दोनों वक्त भोजन प्राप्त हो जाता। वह देवीदीन के ही घर टिका था, एवं वहीं भोजन करता। अन्धे को सहारे

---

१. 'गबन'—पृष्ठ १२०, २. वही—पृष्ठ १४८, ३. वही—पृष्ठ १५७

की एक लकड़ी प्राप्त हो गई। देवीदीन घर का कोई विशेष काम नहीं करता था, किन्तु उसकी बूढ़ी पत्नी जग्गी साग-सब्जी की दुकान करती थी। जग्गी को रमा का आसन जमाना अच्छा नहीं लगता। जग्गी उससे हिसाब-किताब लिखवाती, परन्तु यह काम तो वह ग्राहकों से भी करा लिया करती थी। वह मन ही मन कुढ़ती।

रमानाथ को कलकत्ते में आये कई माह हो गये। उसे हर समय यह ध्यान लगा रहता है कि उसके विरुद्ध वारन्ट कटा होगा और पुलिस उसे खोज रही होगी। दूर से किसी पुलिसवाले को आते देखकर वह समझता कि वे उसे ही बन्दी बनाने चले आ रहे हैं। कभी-कभी वह इतना व्यग्र हो उठता कि इस आजन्म कारावास से कहीं अच्छा है कि पुलिस के पास जाकर स्वयं सारी कथा सुना दे, और जो भी दंड भुगतना हो एक बार ही भुगत ले। फिर नये सिरे से जीवन-संग्राम में हाथ-पाँव चलाकर आगे बढ़ेगा। अपनी चादर से बाहर कभी पाँव नहीं बढ़ायेगा—लेकिन एक ही क्षण में कठोर वास्तविकता का अनुभव कर, उसकी कल्पनाओं का यह आकर्षक ताश-महल धराशायी हो जाता।

इसी उधेड़-बुन में दिन भागते जाते, मौसम भी बदल गया। पूस के कड़कड़ाते जाड़े ने उसके समक्ष एक नई समस्या उत्पन्न कर दी। घर से वह अपने साथ कोई कपड़ा लाया नहीं था और बिना लिहाफ या कम्बल के जाड़ा कैसे कटता। देवीदीन ने उसे एक पुरानी दरी बिछाने को दी थी। संकोचवश रमा देवीदीन से कुछ कहता न था। एक दिन वह शाम को वाचनालय जा रहा था कि उसने देखा एक बड़ी कोठी के सामने हजारों कँगले एकत्र हैं, सेठ जी की ओर से कम्बल बाँटे जा रहे हैं। रमा की इच्छा हुई कि यदि एक कम्बल मिल जाता तो अच्छा होता। संकोचवश दान-ग्रहण का साहस न हुआ। उसके माथे पर तिलक देखकर मुनीमजी ने समझ लिया कि कोई ब्राह्मण देवता हैं। ब्राह्मणों को दान देने का पुण्य कुछ और ही है, इसलिये मुनीमजी ने न माँगने पर भी बुला कर उसे एक बढ़िया कम्बल भेंट किया। पाँच रुपये दक्षिणा भी मिल रहे थे, लेकिन रमानाथ ने न लिया।

अब रमा ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि निश्शंक होकर काम की टोह में निकलूँगा, जो कुछ होना है, हो! रमा देवीदीन को अंग्रेजी पढ़ाता। इससे प्रायः गम्भीर विषयों पर वार्तालाप भी हो जाता। एक दिन रमा पुस्तकालय से लौट रहा था कि रास्ते में उसे कई युवक शतरंज के एक नक्शे के विषय में बातचीत करते हुए मिले। यह नक्शा हिन्दी दैनिक 'प्रजा-मित्र' में छपा था और उसे हल करने वाले को पचास रुपये इनाम देने का वचन दिया गया था। रमा ने इस नक्शे पर दिमाग लड़ाना शुरू किया। उसे सफलता मिली। उसने इस हल को देवीदीन द्वारा 'प्रजा-मित्र' कार्यालय में भेजवा दिया। निर्दिष्ट पुरस्कार उसे प्राप्त हो गया। इधर जग्गो का पुत्र-वंचित मातृ-स्नेह, रमा की विनय से प्रभावित होकर—उसकी ओर बह चला। वह पचास-रुपये पाकर सदय हो उठी। उसने पहले रमानाथ से आग्रह किया कि वह इन

रुपयों को अपने घर भेज दे। लेकिन रमानाथ जब घर भेजने को राजी नहीं हुआ, तो उसने पचास रुपये अपने पास से और देकर, सौ रुपये की पूँजी से एक चाय की दुकान खोलने का सुझाव दिया। रमानाथ ने धीरे-धीरे एक चाय की दुकान खोल ली।

दुकान चल निकली। हाथ में पैसे आने लगे। दिन भर दुकान बन्द रहती, केवल रात को खुलती थी। फिर भी बिक्री अच्छी हो जाती। इन चार महीनों की तपस्या ने रमा की भोग-लालसा को और भी प्रचण्ड कर दिया। जब तक हाथ में रुपये न थे, वह मजबूर था। रुपये आते ही सैर-सपाटे की धुन सवार हो गयी। सिनेमा की भी याद आयी। देवीदीन के लिये वह एक सुन्दर रेशमी चादर लाया। जग्गो के सर में पीड़ा होती रहती थी। एक दिन सुगन्धित तेल की दो शीशियाँ लाकर उसे दे दीं। दोनों निहाल हो गये।

थियेटर का शौकीन रमानाथ एक दिन स्वयं अपनी मूर्खता से पुलिस के चंगुल में फँस गया। वह बहुत अधिक घबड़ा गया। इसलिये थाने पर रमानाथ ने दरोगा को सच्चा बयान देकर अपना अपराध स्वीकार कर लिया। देवीदीन ने पाँच गिन्नी दरोगा को दी। दरोगा ने पचास का प्रस्ताव किया। देवीदीन किसी भी मूल्य पर यह मोटी रकम घूस में देकर भी रमानाथ को छुड़ा लेना चाहता था।

उन दिनों एक डकैती का मुकदमा चल रहा था। वह बहुत कमजोर पड़ रहा था क्योंकि शहादत का अभाव था। दरोगा ने सोचा यदि रमानाथ उस मुकदमे में झूठी शहादत दे दे तो रुपये भी प्राप्त होंगे, नामवरी भी कम न होगी, फिर आगे उन्नति करने के सभी कपाट खुल जायेंगे। उन्होंने अपने स्वार्थ के लिये रमानाथ के आगे जाल फैलाया। उसे झूठा प्रलोभन दिया। रमानाथ उनकी बातों में आ गया। यदि एक झूठ बोलकर वह इतनी बड़ी विपत्ति से बच जाता है, तो इसमें हानि ही क्या है? फिर बकौल दरोगाजी के यह डकैती का एकदम सच्चा मुकदमा था। उधर टेलीफोन द्वारा प्रयाग से पुलिस को ज्ञात हो गया कि रमानाथ ने म्युनिस्पैलिटी के दफ्तर में कोई गबन नहीं किया है। उसके नाम न कोई वारंट है, न मुकदमा। दरोगाजी को लगा कि चिड़िया अब हाथ से निकल जायेगी।

मगर यह ब्रिटिश राज्य की पुलिस थी जो अपनी कारगुजारी में कोई सानी नहीं रखती थी। शासन का जो जुल्म का इंजन चलता था, उसके विशाल पहिये—यही पुलिस विभाग था। जनता को पीसना, उसका शोषण करना एवं अत्याचार करना—यह तो स्वभाव ही बन गया था। दरोगाजी ने रमानाथ से प्रयाग का समाचार छिपाया। सच कह देने से, तो मुर्गी हाथ से निकल जाती। बड़े अधिकारियों ने भी इस षड्यन्त्र में हाथ बँटाया। जब देवीदीन को ज्ञात हुआ कि रमानाथ इस प्रकार सरकारी गवाह बनने जा रहे हैं, उसने दरोगाजी से कहा—'इससे तो यही अच्छा है कि आप इनकी चालान कर दें। साल दो साल का जेहल ही तो होगा। एक अधरम के डण्ड से बचने के लिये बेगुनाहों का खून तो सिर पर न चढ़ेगा।'[१]

१. 'गबन'—पृष्ठ २२९

इधर जालपा के दुःख ने रतन को द्रवीभूत कर दिया था। वह हर प्रकार से स्वाभिमानी जालपा की सहायता करना चाहती है। वकील साहब को दमे का दौरा पड़ने लगा था। उनका स्वास्थ्य दिन प्रति दिन टूट रहा था। रतन दिन-रात जागकर उनकी सेवा करती। इलाज के लिए वे लोग कलकत्ता पहुँचे। जालपा को दिये हुए वचनानुसार रतन कलकत्ते में रमानाथ को भी ढूँढ़ने का प्रयत्न करती।

अन्त में वकील साहब अपनी युवती पत्नी को निराधार छोड़कर चल बसे। अन्तिम समय जो शब्द उनके मुँह से निकले वे कितने मार्मिक और व्यंजक थे। हमारे पूरे सामाजिक ढाँचे पर एक तीव्र व्यंग है—'...मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है प्रिये! ओह, कितना बड़ा अन्याय! मन की सारी लालसा मन में रह गई। मैंने तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर दिया—क्षमा करना!'[1]

इसके बाद वही हुआ, जो परंपरा से होता चला आया है। वकील साहब के मरते ही उनके भतीजे मणिभूषण ने सारी सम्पत्ति पर कब्जा जमाने की सोच ली। रतन को पहले पता ही न चला, क्योंकि पति वियोग की शोकाग्नि में जल रही थी उसके गले पर किस प्रकार गुप्त रूप से छुरी चलाई जा रही है, उसे यह जब ज्ञात हुआ तो बहुत देर हो चुकी थी। मणिभूषण ने रतन के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि अब बंगले को बेच दिया जाय, मोटर की भी क्या आवश्यकता है—रतन की आँखें खुलीं। लेकिन उसे—'किसी पर सन्देह न था, किसी से शंका न थी। कदाचित् उसके सामने कोई चोर भी उसकी सम्पत्ति का अपहरण करता, तो वह शोर न मचाती!'[2]

शतरंज के नक्शे की योजना द्वारा जालपा को ज्ञात हो गया कि रमानाथ कलकत्ते में है। रतन से उत्साह एवं आर्थिक सहायता प्राप्त कर जालपा अपने छोटे देवर के साथ कलकत्ता रवाना हो गई। ढूँढ़ते हुए देवीदीन खटिक के घर पहुँच गई। देवीदीन और जग्गो ने सप्रेम स्वागत किया और उसे बहू रूप में स्वीकृत भी कर लिया। जालपा से उन्हें यह भी ज्ञात हो जाता है कि रमानाथ के नाम प्रयाग में कोई वारंट नहीं है, न उनके विरुद्ध कोई ग़बन का मुकदमा ही है। अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि किसी प्रकार रमानाथ के पास यह समाचार पहुँचाया जाय। इन दिनों रमानाथ पुलिस के बड़े पहरे में रहता था। जालपा तथा देवीदीन को ज्ञात हुआ कि उसे वारदात का स्थान दिखाने ले जाया गया है। एक दिन जब पुलिसवालों की गाड़ियों के बीच एक मोटर से वह जा रहा था—उसने खिड़की में खड़ी जालपा को देख लिया। जालपा और देवीदीन ने पूर्व निश्चयानुसार रमानाथ से भेंट करने का निश्चय किया। देवीदीन और जालपा चुपचाप उस बंगले के पास पहुँचे, जहाँ रमानाथ एक तरह से कैद था। किसी प्रकार उन्होंने रमानाथ को सामने अकेला देखकर एक लिफाफा फेंक दिया। रमानाथ को भी पहले साहस न पड़ा। वह डरा कि कहीं 'बम' न हो, किन्तु बाद को लिफाफा देखकर निश्चिंत हो गया कि लिखावट जालपा

---

१. 'ग़बन'—पृष्ठ १९७, २. वही—पृष्ठ २०५

की है। पत्र पढ़कर रमानाथ के नेत्र खुल गये। वह जालपा से मिलने को आतुर हो उठा। पुलिस का कड़ा पहरा था। उसे पुलिस की धूर्तता पर बहुत क्रोध हो रहा था। रात के अन्धेरे में वह साहसकर कँटीला तार फाँदकर देवीदीन के घर जा पहुँचा। जालपा की तपस्या सफल हो गयी। रमानाथ ने अपनी दुःख-गाथा को बढ़ाकर सुनाया। दोनों आँसुओं में डूब गये। जालपा ने रमानाथ से वचन ले लिया कि वह अपना बयान बदल देगा। मुँह-अंधेरे रमा अपने बंगले जा पहुँचा। किसी को कानों कान खबर तक न हुई।

रमानाथ बयान बदलने पर राजी हो गया। किन्तु उसने जब यह बातें दरोगा तथा डिप्टी साहब को बतायी तो वे नीले-पीले हो उठे।

रमा जेल से डरता था। अतएव उसने पुलिस के कथनानुसार ही गवाही दी। एक माह बीत गया। जालपा सत्य का उद्घाटन करने के लिये विकल हो उठी। रमा के प्रति अब उसे क्रोध न था, द्वेष न था, दया भी न थी, केवल उदासीनता थी। मुकदमे का फैसला हुआ। दिनेश को फाँसी की सजा हुई, पाँच को दस-दस साल और आठ को पाँच-पाँच साल की सजा हुई। इनमें सबसे अभागा दिनेश का परिवार था। उसकी बूढ़ी माँ, दो छोटे बच्चे और पत्नी अब एकदम निराधार हो गये थे। दिनेश पहले स्कूल में मास्टर था।

मुकदमे के फैसले के बाद रमा को स्वतंत्रता मिली। वह मोटर में देवीदीन के घर पहुँचा। चार सोने की चूड़ियाँ जग्गो के आगे रख दीं। जग्गो ने चूड़ियाँ उठाकर पटक दीं। उसे बुरी तरह फटकारा—'जहाँ इतना पाप समा सकता है, वहाँ चार चूड़ियों की जगह नहीं है? भगवान की दया से बहुत चूड़ियाँ पहन चुकी और अब भी सेर दो सेर सोना पड़ा होगा, लेकिन जो खाया, पहना, अपनी मिहनत की कमाई से, किसी का गला नहीं दबाया, पाप की गठरी सिर पर नहीं लादी, नीयत नहीं बिगाड़ी। उस कोख में आग लगे जिसने तुम जैसे कपूत को जन्म दिया।......अगर तुम मेरे लड़के होते, तो तुम्हें जहर दे देती। क्यों खड़े मुझे जला रहे हो? चले क्यों नहीं जाते?....'[1]

रमा आवेश में जज साहब के बंगले की ओर जा रहा था। रास्ते में दरोगाजी मिल गये। किसी तरह उनसे पीछा छुड़ाकर जज साहब के बंगले में जाने का उसने निश्चय किया। लेकिन लज्जा ने उसके बढ़ते कदम रोक दिये। रमा ने पुनः बयान बदलने का निश्चय किया। पुलिसवालों ने जालपा पर सख्ती करने का इशारा दिया। दुर्बल हृदय रमानाथ घबरा उठा। उसने पुनः घुटने टेक दिये। वह जाल में इस बुरी तरह उलझ गया था कि जितना निकलने का प्रयत्न करता, फँसता चला जाता। अब उसकी आजादी पर पुनः प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

रमा का मन बहलाने के लिये जोहरा नामक एक वेश्या भी उसके पास भेजी जाती। उसने पुलिसवालों को सूचित किया कि रमा से अब डरने का कोई कारण नहीं।

---

१. 'गबन'—पृष्ठ २७९

इसलिये अब उसकी लगाम कुछ और ढील दी गई। जोहरा का आना जाना बढ़ता गया। एक दिन हबड़ा के पुल पर 'कार' से गुजरते हुए, रमानाथ ने देखा, जालपा सर पर गंगाजल का घड़ा उठाये जा रही है। उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल तथा कृश हो गया था। न वह कान्ति थी, न वह लावण्य, न वह चंचलता, न वह गर्व। रमा हृदयहीन न था, उसकी आँखें सजल हो गयीं।

रमा दुःख से भींग उठा। आज जोहरा ने उसे अन्यमनस्क पाया। रमा जो इधर जोहरा के प्रेम-पाश में दिन-प्रतिदिन बँधता चला जा रहा था, उसने आज अपना प्रेमिका वेश्या के समक्ष दिल खोलकर बिछा दिया। उसकी सरलता एवं निष्कपटता पर जोहरा मुग्ध हो उठी। जोहरा ने वचन दिया कि वह जालपा का पता लगायेगी। उस समय रमा का कोई हमदर्द न था। उसे सहानुभूति की सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसने जोहरा पर विश्वास किया। प्रायश्चित स्वरूप शराब छोड़ दी। विलास से घृणा हो उठी।

जोहरा ने जालपा के त्याग एवं सेवा की जो गौरवमयी करुण-कथा सुनाई—रमानाथ के ज्ञान-चक्षु खुल गये। वह पहले देवीदीन के घर पहुँचा। सबसे अपने जीवन-भर के अपराधों की क्षमा माँगी। साहस कर सभी अपराध स्वीकार कर लिये। जज साहब के पास जाकर सारा कच्चा चिट्ठा खोल दिया। जज साहब ने मुकदमे की फिर से जाँच का आदेश दिया। हलचल मची। पुलिस-विभाग पर बदनामी के काले मेघ-खण्ड छाने लगे। कमिश्नर ने समझाना चाहा, लेकिन इतने व्यक्तियों की जिन्दगी—झूठी शहादत के आधार पर कैसे नष्ट की जा सकती थी। जज साहब निश्चय से नहीं डिगे। उन्होंने हाईकोर्ट को सूचित कर दिया। मुदकमा उठा लेने के सिवाय दूसरा कोई चारा न था। जालपा और जोहरा के वक्तव्य समाचार-पत्रों में छपे। लोगों की आँखें खुल गईं। जोहरा को पचास रुपये रोज इसलिये दिये जाते कि वह रमानाथ को बहलाती रहे, उसे कुछ सोचने-विचारने का अवसर ही न मिले। फलस्वरूप तबेले की बला बन्दर के सिर गयी। दरोगा तनज्जुल हो गये और नायब दरोगा का तराई में तबादला कर दिया गया। रमानाथ पर झूठी गवाही देने के अभियोग में मुकदमा चलता है, जिसमें वह बरी कर दिया जाता है।

तीन वर्ष बीत गये। देवीदीन ने जमीन ली, बाग लगाया, खेती जमायी, गाय-भैंस खरीदी और कर्मयोग में सुख तथा सन्तोष का अनुभव किया। प्रयाग के पास एक गाँव में इन सबोंने बसेरा किया। रमानाथ, जालपा, जोहरा, दयानाथ और रतन सभी एकत्रित हैं। दयानाथ आजकल देवीदीन के असिस्टेन्ट हैं। सब लोग गाँववालों की सेवा करते हैं और एक आदर्श ग्राम्य-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जोहरा ने देवीदीन की विधवा पुत्रवधू बनकर यहाँ आश्रय पाया है। सब ओर से तिरस्कृत एवं सम्पत्ति-विहीन रतन भी इसी कुटिया में अपनी अन्तिम साँसें गिनती है। भादो मास की बढ़ी नदी में जोहरा भी किसी बहती हुई स्त्री की प्राण-रक्षा के लोभ में अपने प्राण गँवा देती है। इस प्रकार 'गबन' का कथानक समाप्त होता है।

सावन की मस्त घटाओं के बीच कथा प्रारम्भ होती है। भादों की बढ़ी नदी की चंचल लहरियों में उछाल खाती हुई कथा समाप्त होती है। जो छूट गये या धारा में डूबने से बह गये, उनके प्रति आपकी सहानुभूति भले ही न हो; परन्तु जो तट पर खड़े रह गये, धारा के बीच जीवन-किश्ती को लहराते और करवट बदलते देखने के लिये—उनके प्रति लेखक की असीम सहानुभूति है। मोह भी है। वह उन्हें डूबते नहीं देखना चाहता, यही उसके समस्त विश्वासों का मूलाधार है।

वस्तु-कौशल

'गबन' और 'निर्मला' प्रेमचन्द के दो ऐसे श्रेष्ठ उपन्यास हैं, जो वस्तु-संग्रंथन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। प्रेमचन्द का 'गबन' अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक तर्क-संगत तथा सुगठित है। सबसे बड़ी विशेषता है घटनाओं तथा चरित्र का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध। प्रत्येक चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई न कोई घटना है और प्रत्येक घटना चरित्र की किसी विशेषता का परिणाम है। रमानाथ और जालपा की मुख्य कथा है जिसे देवीदीन, जग्गो तथा रतन आदि की गौण कथाएँ आगे बढ़ाती हैं। लेकिन मूल-कथा से अंगांगी (Organically) रूप से इन्हें हम सम्बद्ध नहीं पाते। यद्यपि लेखक रमानाथ को केन्द्र-बिन्दु बनाकर इन्हें आपस में एक दूसरे से ग्रथित करना चाहता है, लेकिन कलात्मक दृष्टि से वह इसमें सफल नहीं रहा। लगता है लेखक ने उपन्यास को खंडों में अलग-अलग बैठकर लिखा है। जीवन का विस्तृत एवं व्यापक अंकन तो सफलतापूर्वक किया है, परन्तु उन्हें समेटने के कलात्मक संयम का अभाव मिलता है।

कथानक के प्रधान रूप से दो खंड किये जा सकते हैं। प्रथम खंड रमानाथ के प्रयाग के जीवन से सम्बद्ध है एवं द्वितीय खंड रमानाथ के कलकत्ता जाने से प्रारम्भ होकर अन्त तक चलता है। वस्तु-कौशल की दृष्टि से प्रथम खंड, द्वितीय खंड की अपेक्षा अधिक सुगठित एवं स्वाभाविक है। उसमें यथार्थ अधिक मुखर मिलता है। द्वितीय खंड में विचित्र संयोग (Co-incidences), असंभव परिस्थितियाँ, निरर्थक वर्णन, स्थूल हास्य एवं लम्बे भाषणों द्वारा कथानक में अस्वाभाविकता एवं कुछ ढीला-पन आ गया है। देवीदीन तथा जग्गो की कथा मार्मिक भले ही हो लेकिन आदर्श के रंग में डूबी हुई है। जोहरा भी अचानक सामने आती है और आदर्शवादी प्रेमचन्द के द्वारा उसका 'कायाकल्प' हो जाता है, परन्तु उसे अन्त में उत्तुंग लहरियों में डुबाकर ही लेखक को संतोष होता है। उसका 'कायाकल्प' उतना नहीं खटकता, जितना उसका निरर्थक अन्त। लगता है बिना उसका अन्त दिखाये, कथानक के 'गैप' (Gap) को भरने का लेखक के समक्ष दूसरा कोई रास्ता ही न था। 'जोहरा' को देखकर अमर कथाकार शरत् के 'देवदास' की 'चन्द्रमुखी' की स्मृति ताजी हो उठती है। लेकिन कहाँ चन्द्रमुखी, कहाँ जोहरा ! शरत् ने चन्द्रमुखी का 'अन्त' नहीं वर्णित किया है, यही कथा-

शिल्प की विशेषता है। लेकिन प्रेमचन्द को बिना जीवन का पटाक्षेप किये, कथानक अधूरा लगता है। इसी 'महामोह' ने 'गबन' के वस्तु-कौशल के आगे एक प्रश्नचिह्न अंकित कर दिया है?

जालपा और रमानाथ की कथा के साथ रतन और वकील साहब की जीवन-कथा की ओर भी सहृदय लेखक ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। रतन द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण सामाजिक विषमताओं की ओर लेखक ने मार्मिक संकेत किये हैं एवं एक सीमा तक रमानाथ की जीवन कथा के विकास में भी उसका हाथ दिखाया है। रतन के कंगन के रुपये लौटाने के ही लिये रमानाथ 'गबन' करता है, जिसके फलस्वरूप उसे भागकर कलकत्ता जाना पड़ता है। रतन की सहायता पाकर ही जालपा कलकत्ता जाने का साहस करती है। इस प्रकार रतन की सहायक कथा का लेखक ने दुहरा उपयोग किया है। हम यह भी देखते हैं कि रतन की पूरी कथा को इस उपन्यास के अन्दर फिट करने की कोशिश की गई है, जिससे कथानक में कुछ शिथिलता भी आ गई है। यदि लेखक इस कथा को वहाँ तक वर्णित करता, जहाँ तक मुख्य कथा के विकास में यह सहायक सिद्ध होती, उचित होता। लेकिन रतन के जीवन की अन्तिम परिणति भी दिखाने का लेखक मोह नहीं त्याग सका है। वकील साहब की मृत्यु वर्णित कर सम्मिलित परिवार में नारी की असहायावस्था दिखाना तो एक सीमा तक सोद्देश्य माना जा सकता है, परन्तु रतन की मृत्यु द्वारा आखिर लेखक क्या निष्कर्ष निकालना चाहता है? इस प्रकार कथा में अनावश्यक विस्तार भी हम पाते हैं, जो वस्तु-संगठन की दृष्टि से एक बड़ा दोष माना जा सकता है।

कथा-विकास में सहायक इस उपन्यास की दो प्रधान समस्याएँ हैं। स्त्रियों का आभूषण-प्रेम पहली महत्त्वपूर्ण समस्या है एवं मध्य-वर्ग के विलास-प्रिय, आडम्बर-प्रेमी एवं स्वच्छन्द नवयुवक की साधनहीनता तथा महत्त्वाकांक्षाओं का द्वन्द्व समस्या का दूसरा गंभीर पहलू है। प्रेमचन्द (१६३०-३१) स्वदेशी आन्दोलन का कुछ पुट भी इसमें देने का लोभ संवरण नहीं कर सके हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जुए के नीचे बूढ़े खटिक के दो नौजवान बेटे गोली का शिकार बनते हैं एवं रमानाथ पुलिस के 'चक्रव्यूह' एवं जाल में फँस कर 'मुखबिर' बन जाता है। प्रेमचन्दजी ने प्रारम्भ में इसे एक साधारण डकैती का मुकदमा बताया है और बहुत बाद में हमें यह ज्ञात होता है कि इसके पीछे एक राजनैतिक षड्यन्त्र भी है। इस प्रकार कुशलतापूर्वक लेखक ने हमारी उत्सुकता को बनाये रखा है।

यहीं पर कथानक में कुछ भद्दी भूलें भी दृष्टिगत होती हैं। मुकदमे का फैसला सुनाने के बाद कोई भी न्यायाधीश पुनः स्वयं मुकदमें को 'वापस' नहीं कर सकता। यह कानूनी दृष्टि से असंभव है। फिर किसी भी मुखबिर को पुलिस पिस्तौल नहीं देती। यदि मुखबिर के प्राणों का विशेष भय होगा तो उसके आस-पास कड़ा पहरा जरूर बैठा दिया जायेगा, लेकिन पिस्तौल की कल्पना ही हास्यास्पद है। मगर रमानाथ ऐसा

मुखबिर है जिसके पास पिस्तौल है—'···गोली मार दूँगा। वह देखो, ताक पर पिस्तौल रखा हुआ है !'[1]

प्राय: दुनियाँ के सभी बड़े उपन्यासकारों की रचनाओं में भूलें मिलती हैं। संसार का सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर भी प्राय: अपने प्रसिद्ध नाटकों में स्थान, पात्र या काल की दृष्टि से अनेक भूलें कर बैठा है—अतएव प्रेमचन्दजी ही इसके अपवाद कैसे होते ! 'जागेश्वरी' (रमा की माता) का 'रामेश्वरी' होना संभव माना जा सकता है एवं 'जग्गी' का 'जग्गो' हो जाना भी विशेष नहीं खटकता। परन्तु प्रयाग के रहने-वाले रमानाथ जब सपत्नीक रतन के पति वकील साहब से भेंट करने जाते हैं तो,—फाटक पर साइनबोर्ड था 'इन्दुभूषण, एडवोकेट, हाईकोर्ट !' और 'पण्डितजी काशी के नामी वकील थे !'···'वह काशी के सबसे बड़े वकील का मेहमान था।'[2]

प्रयाग-निवासी रमानाथ, वकील साहब से मिलने काशी नहीं जाता, प्रयाग ही में उसे बंगला मिल जाता है।

परन्तु इसके बावजूद 'ग़बन' में जीवन के विभिन्न पहलुओं की मार्मिक व्याख्या मिलती है। नाटक के दृश्यों की भाँति उपन्यास के प्रारंभिक अध्याय संक्षिप्त एवं सांकेतिक हैं। धीरे-धीरे उनका कलेवर बढ़ता है जो मध्य भाग में चरम विकास पर पहुँचकर, घटना प्रारम्भ हो जाता है। इस उपन्यास का आरंभ और विकास इस दृष्टि से लेखक ने बड़ी कुशलता से नियोजित किया है। परन्तु 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'प्रतिज्ञा' आदि की भाँति इस उपन्यास का अन्त भी इस संसार से अलग, नदी-तट पर वृक्षों की छाँह तले बने एक 'आश्रम' जैसे स्थान के बीच होता है। उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र, ज़ीवन-संग्राम से हारकर या थककर यहाँ एकत्र होते हैं। कोई मर जाता है, कोई डूब जाता है और शेष तट पर निरीह भाव से धारा में बहते मुर्दों को देखने के लिये जीवित बच जाते हैं। इस प्रकार इस उपन्यास का सबसे दुर्बल अंश, इसका 'अन्त' ही है। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की भाँति इसके कथानक में भी कला का संयम नहीं मिलता, 'ओवर-फिनिश' (Over finish) तथा 'ओवर-कलरिंग' (Over colouring) मिलती है।

आंशिक रूप से शिथिल होते हुए भी ग़बन में मध्यम-वर्ग के खँडहर से खोखले टूटते जीवन का जो सच्चा चित्र मिलता है, यह एक महान देन है। श्री राम-रतन भटनागर के अनुसार रमानाथ प्रेमचन्द का प्रथम यथार्थवादी नायक है और ग़बन प्रथम यथार्थवादी उपन्यास है। श्री मन्मथनाथ गुप्त के शब्दों में—'यद्यपि मामूली समालोचकों ने इस उपन्यास को अधिक महत्त्व नहीं दिया, किन्तु यह उपन्यास बहुत यथार्थवादी है..! प्रेमचन्द के उपन्यासों में दो ही उपन्यास यथेष्ट रूप से यथार्थवादी हैं, एक निर्मला और दूसरा ग़बन। निर्मला के मुक़ाबिले में ग़बन का कथानक कुछ शिथिल होने पर भी इस शिथिलता की क्षति-पूर्ति उसके विषय की विस्तृति से हो जाती है।'[3]

---

१. 'गबन'—पृष्ठ २९७, २. वही—पृष्ठ ७७, ३. कथाकार प्रेमचन्द—पृष्ठ ४१९-२०

चरित्र-चित्रण

'गबन' की कथावस्तु से उसका चरित्र-चित्रण अधिक महत्व का है। लेखक का मनुष्य की महत्ता में अटूट विश्वास है। मनुष्य परिस्थितियों का दास है। वह जालपा जो प्रारम्भ में 'चन्द्रहार' को अपने जीवन की सबसे आवश्यक और मूल्यवान वस्तु मानकर, वैवाहिक जीवन के आनन्द को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखती है, बाद में आत्म-ज्ञान और आत्म-शक्ति के जाग्रत होने पर एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में प्रगट होती है। यह सब परिस्थितियों का ही चक्र है। लेखक ने मानव-जीवन के छिपे हुए श्रेष्ठ आन्तरिक गुणों का ठीक से उल्लेख किया है। इस उपन्यास के चरित्र और घटनाएँ एक दूसरे पर आश्रित तथा सम्बन्धित है। प्रेमचन्द के पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। रमानाथ मध्यम-वर्ग के पढ़े-लिखे नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है। जालपा, रतन, जग्गो और जोहरा स्त्रियों के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं। देवीदीन का व्यक्तित्व सबसे अनोखा एवं ताजा है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण नाटकीय रूप में भी मिलता है। चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियो से प्रभावित होकर शनैः शनैः चरित्र परिवर्तन स्वभाविक ढंग से होता है। प्रत्येक चरित्र में आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय हम पाते हैं। पात्रों के चरित्र की चित्रोपम ढंग से बारीक रेखाओं को भी उभार कर दिखाते हुए, चित्रित करने में प्रेमचन्द सिद्धहस्त हैं। उपन्यास के सभी पात्र वर्गीय विशेषताओं के साथ-साथ वैयक्तिक वैशिष्ट्ययुक्त है। प्रेमचद इस बात के पक्षपाती हैं कि मनुष्य का चित्र दीप्तिमान, गंभीर और विकासमय हो जिससे पाठक उसे अपना सके। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सृजन-शक्ति है। कोई भी लेखक, जिसमें कल्पना का अभाव है, अपने पात्रों में जीवन नहीं फूँक सकता है। स्थितिशील पात्र कलात्मक दृष्टि से असफल होते हैं। उनके व्यक्तित्व में गतिशीलता होनी चाहिए। प्रेमचन्द के सभी प्रमुख पात्र गतिशील हैं।

रमानाथ, जालपा, रतन और देवीदीन इस उपन्यास के प्रमुख प्रधान पात्र हैं। रमेश, बुढ़िया जग्गो और जोहरा आदि अप्रधान पात्र हैं। दयानाथ और दीनदयाल एवं रामेश्वरी तथा मानकी, ये सभी वर्गीय साँचे मे ढले हुए चरित्र हैं। इनमें परिवर्तन नहीं होता। खाना-पूर्ति के लिये उपन्यास में कुछ ऐसे पात्रों की सदैव आवश्यकता होती है। इस फुटकर खाते में भी वकील साहब, जोहरा तथा जग्गो हमें सबसे अधिक प्रभावित करते है। वकील साहब प्रौढ़ावस्था में पुत्र-वियोग होने पर दूसरा विवाह करते हैं। रतन ऐसी नौजवान पत्नी पाकर वह अपने भाग्य को सराहते हैं। उन्हें रतन से प्रेम की अपेक्षा 'ममता' अधिक है। वे उसे हर प्रकार से संतुष्ट तथा प्रसन्न देखना चाहते हैं। अन्त समय में वह भी अनुभव करते हैं, कि उन्होंने रतन के साथ बड़ा अन्याय किया है।

जोहरा एक वेश्या थी। पचास रुपये रोज पर वह पुलिस द्वारा रमानाथ

(मुखबिर) को बहलाने के लिये नियुक्त की गई थी। रमा के सरल-स्नेह ने उसके हृदय को जीत लिया। वस्तुतः पतित से पतित व्यक्ति के अन्तर में भी कहीं देवता छिपा रहता है। जालपा के उच्च-संस्कारों ने उसमें परिवर्तन ला दिया। अपने पिछले दागों को धोने के लिये, उसने सारी कामनाएँ, सारी वासनाएँ 'सेवा' में लीन कर दीं। उसका अन्त करुण से अधिक, भ्रामक प्रतीत होता है।

जग्गो, देवीदीन की बूढ़ी पत्नी है। वह मेहनती स्त्री है। गहनों से उसे भी प्रेम है। लेकिन तीर्थयात्रा से अधिक 'दुकान' को महत्त्व देती है। रमानाथ का उसके घर में रहना और खाना, उसे बहुत अखरता है। वह ऊपर से जितनी कठोर थी, अन्दर से उतनी ही कोमल! उसे न केवल रमा से ही पुत्र-स्नेह था, जालपा को भी उसने बहू के रूप में अपना स्नेह दिया। वह कठोर परिश्रम करती है और पति का पालन करती है। वह मेहनत की कमाई का मूल्य जानती है। रमानाथ की चूड़ियों को वह लौटा देती है, क्योंकि यह हराम की कमाई की थी तथा दूसरे का गला काटकर लाई गई थी। उसके कठोर शब्दों में उसका स्वाभिमानी व्यक्तित्व ही सजीव हो उठा है।

रमानाथ

रमानाथ नई रोशनी का फटीचर बाबू-वर्ग का दिलदार नवयुवक है। आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है परन्तु फिर भी उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ अनन्त हैं। रमानाथ जहाँ एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, वहीं अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट करता है। विवाह से पूर्व रमानाथ एक उच्छृङ्खल नवयुवक के रूप में हमारे समक्ष आता है। वह शतरंज का प्रेमी है और मित्रों की बदौलत ठाट-बाट में कोई कमी नहीं रहती। इस 'सहकारिता' पर व्यंग करते हुए प्रेमचन्दजी ने लिखा है—'किसी का चेस्टर माँग लिया और शाम को हवा खाने निकल गये। किसी का पंप-शू पहन लिया, किसी की घड़ी कलाई पर बाँध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले, कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रों ने एक एक कपड़ा बनवा लिया, तो दस सूट बदलने का साधन हो गया। सहकारिता का यह बिलकुल नया उपयोग था।'[1]

रमानाथ का सुन्दरी जालपा से धूमधाम से विवाह होता है। सराफ से उधार गहने बनवाये गये थे, परन्तु रमानाथ जवानों के स्वभावानुसार जालपा से खूब डींगें मारता है।

तीस की नौकरी मिलती है, परन्तु पत्नी की नजरों में तुच्छ बनना नहीं चाहता। चालीस की जगह बताता है, लेकिन तरक्की और ऊपर की आमदनी की भी अच्छी गुंजाइश है। यहाँ भी वह महत्त्व बढ़ाने के लिये झूठ का और मुलम्मा चढ़ाते हुए कहता है—"यहाँ रोब है, और आराम है। पचास-साठ रुपये ऊपर से मिल जायेंगे। ...बड़े-बड़े महाजनों से रकमें मिलेंगी और वह खुशी से गले लगावेंगे। मैं जिसे चाहूँ

1. 'गबन'—पृष्ठ ६

दिनभर दफ्तर में खड़ा रखूँ। महाजनों का एक-एक मिनट अशरफी के बराबर है। जल्द से जल्द अपना काम कराने के लिये वह खुशामद भी करेंगे और पैसे भी देंगे।'[1]

वह उधार गहने लेकर पत्नी को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। जालपा को 'चन्द्रहार' के साथ कंगन आदि अन्य आभूषण भी प्रदान करता है। रमा जालपा का रूप-यौवन चाहता है लेकिन बदले में दे क्या? वह गहने ही दे सकता है, जो जालपा को प्रिय भी हैं। यहाँ भी लेन-देन का वह व्यवहार मिलता है जो सम्पत्ति के पुजारी-समाज में स्वाभाविक भी है। कर्ज का बोझ बढ़ता है। जालपा को आधुनिक रमणी बनाने के लिये वह साड़ी, घड़ी, सैन्डिल आदि भी क्रय करता है।

वह इन्दुभूषण एडवोकेट के आगे भी अपनी हैसियत बढ़ाकर दिखाना चाहता है—'जी हाँ, म्युनिसिपल आफिस में हूँ। अभी हाल में आया हूँ। कानून की तरफ जाने का इरादा था, पर नये वकीलों की यहाँ जो हालत हो रही है, उसे देखकर हिम्मत न पड़ी।'[2]

झूठ में रँगा हुआ रमानाथ भी रतन से कंगन के आठ सौ रुपये लेने से हिचकता है। जालपा ने कंगन का दाम आठ सौ बताया था। रमा ऐसी उदार, निष्कपट रमणी के साथ छल या विश्वासघात नहीं कर सका। वह सही मूल्य छः सौ ही ग्रहण करता है। अर्थात् रमा में मनुष्यता कुछ शेष थी।

'संकोच' एवं 'मिथ्या-गौरव' के भावों ने ही वस्तुतः रमा का सर्वनाश किया। वह जालपा से कभी भी खुलकर बातें नहीं करता। रतन के रुपये सराफ को देकर भी वह जालपा से छिपाता है। जालपा के पूछने पर साहस कर यदि रमा ने सच्ची बात स्वीकार कर ली होती तो शायद उसके संकटों का अन्त हो जाता। वह पुनः असत्य का आश्रय ग्रहण करता है—'रतन के रुपये क्यों देता। आज चाहूँ, तो दो-चार हजार का माल ला सकता हूँ। कारीगरों की आदत देर करने की होती है!'...[3]

इस प्रकार रमा ने स्वयं अपने को चारों ओर से कँटीले तारों से बाँध लिया। सराफ की ओर से तगादे पर प्यादा आता है। रमा काँप उठता है। वह सारी दुनिया के समक्ष जलील बन सकता है, परन्तु पिता के समक्ष जलील होना उसके लिए मौत से कम न था। जिस आदमी ने अपने जीवन में कभी हराम का पैसा न छुआ हो, जिसे किसी से उधार लेकर भोजन करने के बदले भूखों सो रहना मंजूर हो, ऐसे सात्विक पिता की आत्मा को वह चोट नहीं पहुँचाना चाहता। वह प्यादे को बिगड़कर निकाल देता है। रमा इसी प्रकार अपनी माता से भी स्नेह रखता है। जब रामेश्वरी कंगन उठाकर एक क्षण के लिए पहन लेती है और पुनः उतारना चाहती है, रमा मातृ-प्रेम से विह्वल हो उठता है। वह उन्हें कंगन भेंट करना चाहता है।

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि रमा का पतन आर्थिक परिस्थितियों से भी होता है। वह सदाशय युवक है, जो सम्पन्न होने पर कदाचित् एक आदर्श युवक के रूप में प्रकट

---

१. गबन—पृष्ठ ४१, २. वही—पृष्ठ ७७, ३. वही—पृष्ठ ९५

होता। उसकी जीवन की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा को प्रेमचंद जी ने कितने सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—'निर्धन रहकर जीना मरने से भी बदतर है। मैं अगर किसी देवता को पकड़ पाऊँ, तो बिना काफी रुपये लिये न मानूँ। मैं सोने की दीवार नहीं खड़ा करना चाहता, न राकफेलर और कारनेगी बनने की मेरी इच्छा है, मैं केवल इतना धन चाहता हूँ कि जरूरत की मामूली चीजों के लिए तरसना न पड़े।...[1]

रमानाथ, रतन के तगादों से ऊबकर आफिस का रुपया गबन करता है। प्रयाग छोड़कर भाग जाता है। रमानाथ ने अन्य पुरुषों की भाँति जालपा को केवल पत्नी रूप में ही देखा था। वह उसके यौवन पर मुग्ध था। उसकी आत्मा के स्वरूप को देखने की उसने कभी चेष्टा न की। स्नेह और संकोच की वेदी पर रमा ने अपने सारे सुख लुटा दिये। जालपा से वस्तु-स्थिति छिपाकर उसने भयंकर भूल की।

परोपकारी देवीदीन के घर कलकत्ते में उसे आश्रय प्राप्त होता है। यहाँ भी वह झूठ का आश्रय ग्रहण करता है। वह अपने को ब्राह्मण बताता है। पुलिस के डर से वह दिन भर घर में छिपा रहता है। यहाँ से वह एक पत्र भी घर नहीं लिखता। कायरता की यह चरमसीमा है। झूठी प्रतिष्ठा या इज्जत के लिए वह विवेक-भ्रष्ट हो जाता है। सर्दी से बचने के लिए उसे एक कम्बल की आवश्यकता थी। दान का कम्बल प्राप्त कर जन्म जन्मान्तर की संचित मर्यादा आहत हो उठी। अतएव दक्षिणा के लिए हाथ फैलाना असम्भव हो गया। वह सोचता है—'मैं कितना दीन हूँ, भोजन और वस्त्र के लिए मुझे दान लेना पडता है।'[2] उसका पौरुष जाग उठा। उसने कुछ काम करने का निश्चय किया। वह कृतज्ञ भी है। वह देवीदीन से कहता है—'माता-पिता के बाद जितना प्रेम मुझे तुमसे है, उतना और किसी से नहीं। तुमने ऐसे गाढ़े समय में मेरी बाँह पकड़ी जब मैं बीच धार में बहा जा रहा था। ईश्वर ही जाने, अब तक मेरी क्या गति होती, किस घाट लगा होता!'[3]

जेल के भय से रमा पुलिस के माया-जाल में सम्मोहित होकर फँस जाता है। वह मुखबिर बन जाता है। झूठी गवाही देता है। पुलिस ने उसकी सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध किया था।

रमा के चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यही थी। जीवन के सत्य पक्ष की ओर उसने कभी आँखें नहीं उठाईं। जालपा ने उसकी आँखें खोल दीं। सत्य का उज्ज्वल पक्ष देखकर रमा की चेतना लौटी। रमा अपने मन की बात छिपाना नहीं जानता था। वह पुलिस अधिकारियों से साफ-साफ कह देता है कि मैं झूठी शहादत न दूँगा। पुलिस-अधिकारी उसे धमकाते हैं। रमा का दुर्बल मन पुनः काँप उठता है।

वह बयान नहीं बदलता। जालपा उसका तिरस्कार करती है। रमा अपनी दुर्बलता एवं स्वार्थ-लोलुपता पर क्षुब्ध हो उठता है। पुलिस ने प्रलोभनों के जाल में उसे उलझाकर, उसका औचित्य-ज्ञान भ्रष्ट कर दिया। वह आत्मग्लानि में जला जा

---

१. 'गबन'—पृष्ठ १२७, २. वही—पृष्ठ १६४, ३. वही—पृष्ठ १७०

रहा था। वह यदि जानता कि जालपा इतनी क्रोधोन्मत्त हो उठेगी, तो वह निश्चय ही अपना बयान बदल देता। वह काँपते कदमों से जज के बँगले की ओर जाता है। बयान बदलने का निश्चय कर लेता है। परन्तु लज्जा और संकोच के कारण पुनः उसके पैर ठिठक जाते हैं।

डिप्टी साहब ने रमा को कमिश्नर साहब का डी० ओ० लाकर दिया। रमा आवेश में उसे फाड़ डालता है। अभी मुकदमा हाईकोर्ट में पेश होनेवाला था। रमा के बदले हुए इरादे को देखकर, पुलिस ने पुन: जेल का भय दिखाया। जालपा को गिरफ्तार करने की धमकी दी। रमा का दुर्बल मन पुनः काँप उठा। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु किसी भी मूल्य पर जालपा को संकट में डालना न चाहता था। वह पुलिस के पंजे में कुछ इस प्रकार दब गया था कि उसे अब बेदाग निकल जाने का कोई मार्ग दिखायी न देता था।

रमा में फिर परिवर्तन होता है। अब वह अफसरों के इशारे पर नाचता है। शराब की मात्रा भी पहले से बढ़ गई। विलासिता के पंक में वह दिन-प्रति दिन धँसता चला जा रहा था। उसके पास जोहरा नामक वेश्या कभी-कभी आती थी। धीरे-धीरे प्रेम बढ़ने लगा। प्रेमाभिनय भी प्रेमोन्माद बन बैठा। जोहरा उसे अब वफा और मुहब्बत की देवी सी मालूम होती थी। वह जालपा की सी सुन्दरी न सही, पर बातों में उससे कहीं चतुर, हाव-भाव में कहीं कुशल, सम्मोहन कला में कहीं पटु थी। रमा के हृदय में न केवल नये मन्सूबे ही उत्पन्न हुए एक अन्तर्द्वन्द्व भी उठ खड़ा हुआ।

'......जालपा के साथ उसका जीवन कितना नीरस, कितना कठिन हो जायगा। वह पग-पग पर अपना धर्म और सत्य लेकर खड़ी हो जायगी और उसका जीवन एक दीर्घ तपस्या 'एक स्थायी साधना' बनकर रह जायगा। सात्विक जीवन कभी उसका आदर्श नहीं रहा। साधारण मनुष्यों की भाँति वह भी भोग विलास करना चाहता था।'[1]

रमा का विलासासक्त मन प्रबल वेग से जोहरा की ओर आकृष्ट होने लगा। वह मन को संतोष देने के लिये व्रतधारिणी वेश्याओं की तुलना चंचलवृत्ति वाली गृहणियों से करने लगा। उसे सब ढकोसला और परिस्थिति का फल दृष्टिगत हुआ। रमा का विलासी मन डोल उठा। जोहरा रोज आती और बन्धन में एक गाँठ देकर चली जाती। 'अब उसके सामने एक नवीन दृश्य था। वह छोटा सा कुलियोंवाला पिंजरा नहीं, बल्कि एक फूलों से लहराता हुआ बाग, जहाँ की कैद में स्वाधीनता का आनन्द था। वह इस बाग में क्यों न क्रीड़ा का आनन्द उठाये।'[2]

रमा हृदयहीन न था। एक दिन जब वह 'कार' से हबड़ा का पुल पार कर रहा था, उसने जालपा को देखा। वह सिर पर गंगा जल का कलसा रखे घाटों के ऊपर आ रही थी। उसकी आँखें सजल हो उठीं। जालपा की मेरे जीते-जी यह दशा!

---

१. 'गबन'—पृष्ठ २९१-९२, २. वही—पृष्ठ २९२

रमा की सारी चंचलता, सारी भोगलिप्सा गायब हो गयी। वह जोहरा से उसके सम्बन्ध में पता लगाने का आग्रह करता है। वह स्वयं स्वीकार करता है—'मैं बहादुर नहीं हूँ, बहुत ही कमजोर आदमी हूँ। हमेशा खतरे के सामने मेरा हौसला पस्त हो जाता है, लेकिन मेरी बेगैरती भी यह चोट नहीं सह सकती।'[1]

इन पंक्तियों के प्रकाश में यह सहज ही समझा जा सकता है कि रमा अपने प्रति ईमानदार अवश्य था। वह अपनी दुर्बलता स्वयं स्वीकार करता है। रमा में चाहे और सब दोष हों, पर अनुराग अवश्य था। वह जोहरा पर विश्वास करता था। उससे उसने दिल की सारी बातें खोलकर कह दीं। सभी दुर्बल मनुष्यों की भाँति रमा भी अपने पतन से लज्जित था। शराब से अब उसे घृणा हो गई थी।

जालपा के त्याग ने उसकी आँखों पर से अज्ञान एवं भ्रम का आवरण दूर कर दिया। वह जज साहब से सब कुछ सत्य कह देने का निश्चय कर लेता है। वह देवीदीन के घर आकर जालपा से कह देता है कि मैंने ही तुम्हारे जेवर चुराये थे। देवीदीन से कहता है कि मैं ब्राह्मण नहीं—कायस्थ हूँ। मैंने झूठ बोला था, मुझे क्षमा करना। मेरे ऊपर आपने जो दया की है, उसे जीवन-पर्यन्त न भूल सकूँगा।

रमानाथ के बयान से सब अभियुक्त छूट जाते हैं। रमा कचहरी में स्वीकार करता है कि जालपा के त्याग, निष्ठा और सत्यप्रेम ने मेरी धुँधली आँखों को नव-प्रकाश प्रदान किया। जज उसे भी मुक्त कर देता है।

जोहरा और जालपा ने कचहरी में जो बयान दिये, उनसे रमा का चरित्र सरलता से समझा जा सकता है। जोहरा के शब्दों में—'जिस प्राणी को जंजीरों से जकड़ने के लिए वह भेजी गयी है, वह खुद दर्द से तड़प रहा है, उसे मरहम की जरूरत है, जंजीरों की नहीं। वह सहारे का हाथ चाहता है, धक्के का झोंका नहीं। जालपा देवी के प्रति उसकी श्रद्धा, उसका अटल विश्वास देखकर मैं अपने को भूल गयी। मुझे अपनी नीचता, अपनी स्वार्थान्धता पर लज्जा आई'।[2]

जालपा के शब्द भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे—'मेरे पति निर्दोष हैं। ईश्वर की दृष्टि में ही नहीं, नीति की दृष्टि में भी वह निर्दोष हैं। उन्होने मुझपर अगर कोई अत्याचार किया, तो वह यही कि मेरी इच्छाओं को पूरा करने में उन्होंने सदैव कल्पना से काम लिया। मुझे प्रसन्न करने के लिये, मुझे सुखी रखने के लिये उन्होंने अपने ऊपर बड़े से बड़ा भार लेने में कभी संकोच नहीं किया। जहाँ मुझे रोकना उचित था वहाँ उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया, और इस अवसर पर भी मुझे पूरा विश्वास है, मुझ पर अत्याचार करने की धमकी देकर ही उनकी जबान बन्द की गयी। अगर अपराधिनी हूँ, तो मैं हूँ, जिसके कारण उन्हें इतने कष्ट झेलने पड़े।'[3]

रमानाथ का चरित्र एक हाड़-माँस के साधारण मानव का स्वाभाविक चरित्र लगता है। लेखक ने उसे शुरू से अन्त तक मानव ही बने रहने दिया, 'देवता' नहीं

१. 'गबन'—पृष्ठ १९५, २. वही—पृष्ठ ३३९, ३. वही—पृष्ठ ३३९

बनाया है। कलियुग में 'देवता' तो पत्थर के होते हैं, उनमें मानव की भाँति धमनियों में रक्त का संचार कैसे हो ? रमा में दुर्बलताएँ हैं, झूठ ही उसका भोजन है, झूठ ही ओढ़ना है और झूठ ही बिछौना है। वह झूठी कागजी फूलों की नकली संस्कृति का उपासक है। परन्तु उसकी चारित्रिक दुर्बलताएँ एवं मूर्खता के कारण, हम उससे घृणा नहीं कर पाते, फिर भी हमारी सहज सहानुभूति उसके प्रति बनी रहती है। वह 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर की भाँति स्वार्थी, नीच और धूर्त नहीं है। उसके चरित्र की दुर्बलता दूसरे प्रकार की है। वह देश और अपने वर्ग के वातावरण की विशेष उपज है। परिस्थितियों के आवर्त्त में उलझकर वह साहस खो बैठता है। उसके पास दृढ़ मनोबल का अभाव है। हर कठिनाइयों के समक्ष वह सहज ही घुटने टेक देता है। फिर भी वह एक आदर्श पति है। अपनी पत्नी के सुख के लिये वह अपने प्राण भी सहर्ष निछावर कर सकता है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में, पुरुष-पात्रों की बड़ी भीड़ के बीच भी रमानाथ का अपना अलग स्वतंत्र व्यक्तित्व है। 'निर्मला' के मंसाराम की भाँति, रमानाथ भी पाठकों को आजीवन न भूलेगा। इसके जीवन की ट्रैजिडी दूसरे प्रकार की है। यदि देवीदीन ने मँझधार में भटकती उसकी जीवन-नैया को पतवार नहीं दिया होता, जालपा और जोहरा ने दो डाँड़ों के रूप में, धारा की उत्तुंग लहरियों से संघर्ष कर, लहरों में डूबती सी उसकी जीवन नैया को किनारे न लगाया होता, तो उसका कितना करुण अन्त होता ? कदाचित् यह मंसाराम से अधिक करुण और हृदय विदारक ट्रैजिडी होती !

जालपा

सावन की घटाओं के नीचे, कजली और बारहमासा के गीतों की स्वर लहरियों के साथ झूला झूलनेवाली जालपा, बचपन में बिल्लौर का झूठा चमकदार हार पाकर प्रसन्न होती है। बड़ी-बड़ी आँखोंवाली सुन्दरी बालिका ने बचपन से ही गहने के सपने देखे थे। जब वह तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उसके लिये सोने के चूड़े बनवाये गये थे। दादी जब उसे गोद में खिलाने लगती, तो गहनों ही की चर्चा करती। ठुमुक-ठुमुक कर चलनेवाली अबोध बालिका के मन में दूल्हे के साथ-साथ गहनों का स्वप्न भी भर गया। उसने गुड़ियों को गहने पहनाये, गहनों से ही वह खेलती। उसके पिता शहर से उसके लिए खिलौने नहीं लाते, गहने ही लाते हैं। गाँव की स्त्रियों से भी, उसने गहनों की चर्चा सुनी थी। इस तरह उसका जीवन 'आभूषण मंडित संसार' में पल्लवित तथा पुष्पित हुआ।

विवाह के शुभ अवसर पर जब उसे मालूम होता है कि चन्द्रहार नहीं है, तो उसके कलेजे पर चोट लगती है। वह शाहजादी के यह कहने पर कि एक चन्द्रहार नहीं तो क्या हुआ, उत्तर देती है—'देह में एक आँख के न होने से क्या होता है ! और सब अंग होते ही हैं, आँखें हुई तो क्या, न हुई तो क्या !'[1]

जालपा को दूसरे आभूषण एक आँख से भी नहीं भाते। उसके शेष आभूषण

भी नाटकीय ढंग से चोरी चले जाते हैं। वह तबसे उदासीन होकर, खाट पकड़ लेती है। उसे सबसे अधिक क्रोध अपने पति रमानाथ पर था। यह स्वाभाविक भी था। उसीने जालपा को यह सब्ज-बाग दिखाया था कि उसके पिता के पास अतुल सम्पत्ति है। वह सोचती, 'जब इनके पास इतना धन है, तो फिर मेरे गहने क्यों नहीं बनवाते ? मुझ से प्रेम होता, तो यह निश्चिन्त न बैठे रहते।'[२]

जालपा साहसी नारी थी। वह 'निर्मला' की भाँति घुट-घुटकर प्राण नहीं देती। रमा को वह स्वालम्बी बनने की प्रेरणा देती है। रमा की नौकरी लग जाती है। जब वह जालपा को इस शुभ समाचार के साथ ही बताता है कि ऊपर की आमदनी अलग से है, तो जालपा उसे सचेत करती है—'तो तुम घूस लोगे, गरीबों का गला काटोगे ?'[१]

एक रिश्वतखोर पिता की बेटी के यह शब्द उसके चरित्र में चार चाँद ही लगा देते हैं। जालपा एक स्वाभिमानिनी नारी है। वह माता द्वारा प्रेषित हार का पार्सल वापस कर देती है। वह रमा को इसका कारण इस प्रकार बताती है—'दान भिखारिनियों को दिया जाता है। मैं किसी का दान न लूँगी, चाहे वह माता ही क्यों न हो !...'[२]

रमा उसे प्रसन्न करने के लिये प्रस्ताव करता है कि किसी सराफ से चीजे ले लूँ, धीरे-धीरे उसके रुपये चुका दूँगा। जालपा दृढ़ता से उसे मना करती हुई कहती है—'नहीं, मेरे लिये कर्ज की जरूरत नहीं। मैं वेश्या नहीं, कि तुम्हें नोच खसोटकर अपना रास्ता लूँ। मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है। अगर मुझे सारी उम्र बेगहनों के रहना पड़े, तो भी मैं कर्ज लेने को न कहूँगी। औरतें गहनों की इतनी भूखी नहीं होती। घर के प्राणियों को संकट में डालकर गहने पहननेवाली दूसरी होंगी...'[३]

जालपा के गुणों की रमानाथ ने कद्र नहीं की। उसने उसे सदैव गलत समझा। उससे कभी दिल की बात नहीं की। कभी उस पर विश्वास नहीं किया। सदैव भ्रम का पर्दा बनाये रखा। लेकिन जालपा इसके विपरीत स्पष्टवक्ता नारी है। वह अपना अपराध सहर्ष पति के समक्ष स्वीकार करती है। उसने सहेलियों को कुछ पत्र लिखे। उनमें कुछ पति-निन्दा का प्रसंग भी था वह रमानाथ से इस अपराध की सजा माँगती है। अपनी दुर्बलता स्वीकार करके वह हमारी नजरों में नीचे नहीं गिरती, वरन् उसका सम्मान और बढ़ जाता है। काश ! इससे भी रमानाथ ने कुछ सीख ग्रहण की होती।

जालपा कोई 'देवी' न थी। गहने पाकर स्वभावतः वह प्रसन्न होती है। उसमें सेवा-भाव का उदय होता है। कुछ आत्म-प्रदर्शन की धुन भी सवार होती है। वह रमा से अधिक साहसी एवं कुशल रमणी है। जब रमानाथ सराफ से मोल-भाव करने से हिचकता है, जालपा दालान में आकर स्वयं उससे मोल-भाव करती है। वह अपनी चादर के अनुसार पाँव फैलाने का रमा को उपदेश देती है। लेकिन रमा अपनी सुन्दरी

१. 'गबन'—पृष्ठ ४१, २. वही—पृष्ठ ४३, ३. वही—पृष्ठ ५०।

पत्नी को नये उपहारों द्वारा सजाना चाहता है। जब जवानी में ही सुख न उठाया, तो बुढ़ापे में क्या कर लेंगे।

जालपा की एक सहेली है रतन। इन दोनों में अटूट प्रेम है। रतन नगर के प्रसिद्ध एडवोकेट की पत्नी है।

जालपा ने जैसा रूप पाया है, वैसा ही उदार हृदय भी। वह स्त्रियों की मंडली में रानी सदृश लगती। लेकिन हवा में उड़ते हुए भी उसने अपने पाँव धरती से ऊपर उठने न दिये। वह भली-भाँति जानती थी कि उसके ससुर घर-खर्च सम्हाले हुए हैं, नहीं तो गुजारा कठिन था, और यह फजूलखर्ची तो नितान्त असम्भव होती। रमानाथ अपनी चिन्ता में जालपा को सहधर्मिणी के रूप में नहीं जलाना चाहता। जालपा इसे लक्ष्य कर एक दिन कहती है—'...अगर तुम्हें मुझसे सच्चा प्रेम होता तो तुम कोई पर्दा न रखते। तुम्हारे मन में कोई ऐसी जरूरी बात है, जो तुम मुझसे छिपा रहे हो। कई दिनों से देख रही हूँ, तुम चिन्ता में डूबे रहते हो, मुझसे क्यों नहीं कहते? जहाँ विश्वास नहीं है, वहाँ प्रेम कैसे रह सकता है?...'[1]

फिर भी वह अपने सौभाग्य पर प्रसन्न है। उसका पति शराबी, जुआड़ी या निखट्टू नहीं है। यही उसके संतोष को पर्याप्त था। रमानाथ सराफ के रुपये नहीं चुका पाता, परन्तु अपनी पत्नी से झूठ बोलता है कि मैंने रुपये बहुत-कुछ चुका दिये। सराफ का प्यादा तगादा करने घर पर आता है।

जालपा को दुःख होता है। उसे केवल यही वेदना होती है कि रमानाथ उसे विलासिनी के रूप में ही क्यों देखता है? वह पति के दुःख और सुख दोनों में भागी होना चाहती थी। जब रमानाथ घर से भाग जाता है, जालपा अपना हार बेचकर आफिस में रुपये जमा कर देती है। वह अपने पैरों पर खड़ा होना जानती है। उसे अपने पति पर अटूट विश्वास था। जब रमानाथ के अभिन्न मित्र रमेश उससे कहते हैं—'किसी और देवी की पूजा तो नहीं करते?' जालपा लज्जा से मुख नत कर कहती है—'अगर यह ऐब होता, तो आप भी उस इलजाम से न बचते। जेब से किसी ने निकाल लिए होंगे। मारे शर्म के मुझसे न कहा होगा।...'[2]

जालपा अपने पिता की सहायता भी ठुकरा देती है। रमा के माता-पिता के तानों से जब उसका हृदय छिद रहा था, रतन के प्यार एवं सहानुभूति के शब्दों ने उसका उत्साह जीवित रखा। रतन भी यह सन्देह प्रकट करती है कि शायद किसीसे आँखें लड़ गयीं। तो जालपा उत्तर देती है—'नहीं रतन, मैं इस पर ज़रा भी विश्वास नहीं करती। यह बुराई उनमें नहीं है, और चाहे जितनी बुराइयाँ हों। मुझे उस पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है!...'[3]

विपत्ति में हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। जालपा को अब पश्चात्ताप होता कि ईश्वर ने मेरे पापों का यह दण्ड दिया है। उसे विलास के समस्त उपकरणों

---

१. 'गबन'—पृष्ठ ९३, २. वही—पृष्ठ १४३, ३. वही—पृष्ठ १४९।

से घृणा हो गयी थी। उन वस्तुओं को देखकर उसका जी जलता था। यही सारे दुखों का मूल हैं। वे चीज़ें उसकी आँखों में अब काँटे की तरह गड़ती थीं, उसके हृदय में शूल की तरह चुभती थीं। आखिर एक दिन इन सब वस्तुओं को एकत्र कर वह गंगा में प्रवाहित कर देती है। जालपा एक कुशाग्र-बुद्धि नारी है। शतरंज के कूट द्वारा रमानाथ का पता लगाना, उसकी अनोखी सूझ का परिणाम था। वह अपने छोटे देवर के साथ अकेले विशाल नगरी कलकत्ता में, पति को ढूँढ़ते हुए पहुँच जाती है।

जालपा कलकत्ते में देवीदीन के घर आश्रय पाती है। वह जग्गो को न केवल मा जी कहती है, वरन् वैसे ही प्यार भी करती है।

जालपा को कलकत्ते में जब यह पता चलता है कि रमानाथ सरकारी गवाह हो गया है, तो वह बहुत चिन्तित होती है। वह किसी निर्दोष की हत्या का कलंक नहीं लेना चाहती थी। वह रमा को इस दलदल से बाहर निकालना चाहती थी। उसे रमा पर क्रोध न आया, ग्लानि न आई, वरन् उसे अपने हाथों का सहारा देकर इस दलदल से बाहर निकालना चाहती थी। वह विकल हो उठी। वह रमानाथ से स्पष्ट कह देती है—'मुझे मजदूरी करना, भूखों मर जाना मंजूर है।······कुलीगीरी भी करनी पड़े, तो वह खून से तर रोटियाँ खाने से कहीं बढ़कर है।'[1]

रमानाथ जब फिर भी बयान नहीं बदलता तो जालपा को उससे घृणा हो जाती है। जिसने धन और पद के लिये अपनी आत्मा बेच दी हो उसे वह मनुष्य नहीं समझती। पशु भी नहीं, वरन् कायर! रमा को उसने अब हृदय से निकाल दिया था। उसके प्रति अब उसे क्रोध न था, द्वेष न था, दया भी न थी, केवल उदासीनता थी। वह जालपा जो अपने घर बात-बात पर मान किया करती थी, अब सेवा, त्याग और सहिष्णुता की मूर्ति थी। रमा के बयान से दिनेश को फाँसी हो गई एवं अन्य अभियुक्तों को कठोर कारावास की सजा! जालपा को रमानाथ मनुष्य के रूप में राक्षस प्रतीत हुआ। उसे आश्चर्य हो रहा था कि जिसका पिता इतना ईमानदार और सच्चा हो उसका पुत्र इतना लोभी और कायर! जब रमानाथ जालपा से मिलने आता है तो वह उसे खूब फटकारती है।

वह कहती है—'देह के भीतर इसलिये आत्मा रखी गयी है, कि देह उसकी रक्षा करे। इसलिये नहीं कि उसका सर्वनाश कर दे।······मैंने समझ लिया, कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो, कि मैं मर गयी।······मैं औरत हूँ। मगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे न मार सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूँगी। क्या तुममें औरत के बराबर भी हिम्मत नहीं है?'[2]

ऐसे कटु वाक्य केवल जालपा ऐसी साहसी औरत पति से कह सकती है। निर्मला की सहिष्णुता, जालपा की प्रगल्भता से कोसों पीछे की लगती है। रमानाथ

१. 'गबन'—पृष्ठ २५८, २. वही—पृष्ठ २८०।

जोहरा को जालपा के पास हाल-चाल समझने के लिये भेजता है। जोहरा उसकी चारित्रिक गरिमा को इस प्रकार प्रकट करती है—'तुमने मुझे उस देवी से वरदान लेने भेजा था, जो ऊपर से फूल है, पर भीतर से पत्थर, जो इतनी नाजुक होकर भी इतनी मजबूत।'[१]

जालपा दिनेश के परिवार वालों की सहायता करती है। वह स्वयं गंगा से मटके भर जल लाती है, बर्तन माँजती है, बच्चों की सेवा करती है। वह यहाँ नारीत्व के उच्चादर्श सेवा और त्याग की साक्षात् 'प्रतिमा' लगती है। वह इसे सेवा नहीं मानती, व॰ अपने दुर्भाग्य का प्रायश्चित्त! वह भावुकता में बहकर भी यथार्थ जोहरा से इस प्रकार प्रकट करती है—'बहन, मैं खुद मर जाऊँगी, पर उनका अनिष्ट मुझसे न होगा। न्याय पर उन्हें भेंट नहीं कर सकती!'[२]

यह जालपा के चरित्र का दुर्बल पक्ष नहीं, वरन् अत्यंत मानवी पक्ष है। इसी वास्तविकता ने उसे आदर्श पत्थर की प्रतिमा या देवी बनने से बचा लिया। जालपा के त्याग और तपस्या से रमा के मानस-चक्षु खुलते हैं। उसे आत्मिक प्रकाश प्राप्त होता है। वह बयान बदल देता है। जालपा जब कचहरी में बयान देती है, तो उसके प्रत्येक शब्द से पति-प्रेम प्रकट होता है—'मेरे पति निर्दोष हैं। अगर अपराधिनी हूँ, तो मैं हूँ, जिसके कारण उन्हें इतने कष्ट झेलने पड़े। मैं यह नहीं सह सकती थी कि वह निरपराधियों की लाश पर अपना भवन खड़ा करें।'[३]

सेवा, सहानुभूति का जो आदर्श जालपा ने उपस्थित किया है वह दैवी नहीं, मानवीय है। इसीलिये यह नारी देवी नहीं, वरन् मानवी ही है। वह एक नये ढंग की स्त्री है, जो विकट परिस्थितियों में भी धैर्य नहीं खोती और विवेक उसका एकमात्र सम्बल है। वह एक ईमानदार और साहसी स्त्री है। प्रत्येक कदम उठाने से पूर्व वह भूत और भविष्य को भी देख तथा सोच लेती है। आत्म-सम्मान उसके चरित्र का मेरूदंड है। वह एक देश-भक्त नारी है। वह स्नेह में जितनी कोमल है, घृणा में उतनी ही कठोर! प्रारम्भ में 'चन्द्रहार' को अपने जीवन की सबसे आवश्यक वस्तु मानकर, वैवाहिक जीवन के आनन्द को भी उपेक्षा की दृष्टि से देखनेवाली, सुकुमारी जालपा—बाद में आत्म-ज्ञान और आत्म शक्ति के जाग्रत होने पर एक आदर्श भारतीय नारी के रूप में प्रकट होती है। वह हमारे समक्ष एक भारतीय कुलाङ्ग- का आदर्श अपने चरित्र द्वारा प्रस्तुत करती है। नारी केवल रमणी अथवा विलासिनी ही नहीं, वरन् सेवा और त्याग की प्रतिमा भी है। वह पुरुष का पथ-प्रदर्शन भी कर सकती है। जालपा भी ऐसी ही आदर्श भारतीय नारी है जो अपनी मक्खन-सी नाजुक परन्तु लौह-सी दृढ़ बाहों का सहारा देकर, पाप-पंक में धँसते हुए रमानाथ को सहारा देकर उबारती है। स्वार्थ के गहन अन्धकार से कुण्ठित हुई बुद्धि तथा आत्मा को दिव्य 'आत्म-प्रकाश' प्रदान कर 'आत्म-ज्ञान' को जगाती है।

---

१. 'ग़बन'—पृष्ठ ३०१, २. वही—पृष्ठ ३०८, ३. वही—पृष्ठ ३१९।

जालपा के चरित्र में आदर्श का पुट अधिक है। कुछ आलोचक आपत्ति करते हैं कि मनुष्य का बदल जाना इतना सरल नहीं है, जितना प्रेमचंद ने जालपा के चरित्र द्वारा प्रकट किया है। जालपा का चरित्र उतना स्वाभाविक नहीं लगता, जितना रमानाथ का चरित्र है।

फिर भी हम डाक्टर रामविलास शर्मा के इस अभिमत से पूर्ण सहमत हैं—'जालपा भारत का उगता हुआ नारीत्व है। वह भविष्य के तूफानों की अग्रसूचना है। उसने वर्तमान की राह पर मजबूती से पाँव रखा है और भविष्य की तरफ वह निःशंक दृष्टि से देखती है। वह एक नई आग है, जो झूठी संस्कृति के कागजी फूलों को भस्म कर देती है। वह सदियों की लांछना और अपमान को पहचाननेवाली नई शूरता है जिसके आगे कोई बाधा ठहर नहीं सकती। वह हिन्दुस्तान के नये आनेवाले इतिहास की भूमिका है, वह इतिहास, जिसमें लाखों जालपा एक साथ आगे बढ़ेंगी और ऐसे गरोब का चित्र आँकेंगी जिसके सामने अतीत के सभी चित्र फीके लगेंगे।'...[१]

रतन

ये साठ-वर्षीय वकील साहब की युवा पत्नी हैं। माँ बाप बहुत पहले ही स्वर्ग सिधार गये, मामा ने लालन-पालन कर, सम्पत्ति देखकर वृद्ध वकील साहब के गले रतन को बाँधकर, कठोर कर्त्तव्य का पालन किया। वकील साहब का स्वास्थ्य अच्छा न रहता, लेकिन रतन को हर प्रकार की स्वच्छन्दता उन्होंने प्रदान कर दी थी। वह न केवल स्वयं मोटर ही चलाती, घर आए मेहमान रमानाथ से हाथ मिलाकर उसका स्वागत करती है। इस दृष्टि से वह जालपा से भी एक कदम आगे है। परन्तु जालपा की भाँति वह भी आभूषणों को अत्यधिक महत्त्व देती है। पर्याप्त बहुमूल्य आभूषणों के रहते हुए भी वह जालपा के कंगन पर रीझ जाती है। वह रमा को कंगन बनवाने के लिये रुपये देती है। जब बहुत दिन बीत जाते हैं तो वह रमा से कहती है—'आप मुझे उसकी दुकान दिखा दीजिए, मैं उसके बाप से वसूल कर लूँगी! तावान अलग। ऐसे बेइमान आदमी को पुलिस में देना चाहिये!'[२]

उसे संदेह होता है कि कहीं रमानाथ रुपये न हड़प कर बैठे हों। वह रोज तगादा करती है। जब जालपा रुपये सामने रख देती है तो वह उससे उसे रखने का आग्रह करती है। उसे बालकों से भी स्नेह है। वह रमा के साथ निःसंकोच झूला झूलती है और गीत गाती है।

वकील साहब को रतन से पति-सा प्रेम नहीं, पिता का सा स्नेह था। उनके पास उसे प्रसन्न करने के लिये धन के सिवा और चीज ही क्या थी? रतन के हृदय में भी वकील साहब के प्रति देवत्व का भाव और आदर था। वह उनके गिरते स्वास्थ्य

---

१. 'प्रेमचन्द और उनका युग'--पृष्ठ ७३-७४, २. 'गबन'--पृष्ठ ९० ।

से चिंतित होती है। वह स्वार्थी नहीं है। वकील साहब को वह वसीयत लिखने से रोकती है। वह अपने मनोभाव जालपा से इस प्रकार प्रकट करती है—'मुझे तो कभी यह ख्याल भी नहीं आया बहन, कि मैं युवती हूँ और वे बूढ़े हैं। मेरे हृदय में जितना प्रेम, जितना अनुराग है वह सब मैंने उनके ऊपर अर्पण कर दिया। अनुराग यौवन या रूप या धन से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग अनुराग से उत्पन्न होता है।'[1]

वह उदार एवं परोपकारी रमणी है। वह दुःख के दिनों में जालपा को न केवल सांत्वना देती है वरन् आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। लेखक ने जालपा और रतन दोनों की मनोव्यथा की मार्मिक तुलना करते हुए लिखा है—'रतन की मनोव्यथा उसकी (जालपा की) व्यथा से कहीं विदारक थी। जालपा के पति के लौट आने की अभी आशा थी। वह जवान है, उसके आते ही जालपा को ये बुरे दिन भूल जायेंगे। उसकी आशाओं का सूर्य फिर उदय होगा! उसकी इच्छाएँ फिर फूलेंगी।······रतन का भविष्य क्या था? कुछ नहीं, शून्य अन्धकार!···'[2]

वकील साहब की मृत्यु के बाद विपत्तियाँ प्रारम्भ होती हैं। रतन की दशा अत्यन्त दयनीय हो उठती है। वकील साहब का भतीजा अपनी चाची को दूध की मक्खी की तरह अलग कर देना चाहता है। सम्मिलित परिवार में विधवा का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता। रतन के इन शब्दों द्वारा लेखक ने इस व्यवस्था के समर्थकों को मानो चुनौती दी है—'···न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है, तो एक दिन उसीके सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहनें न थीं? तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आयी? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती—बहनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना।······परिवार तुम्हारे लिये फूलों की सेज नहीं, काँटों की शय्या है, तुम्हें पार लगानेवाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जानेवाला जन्तु है!···'[3]

स्वाभिमानिनी रतन दया की भिखारिणी नहीं बनती। वह एक पैसे की चीज नहीं लेती। संसार में हजारों विधवाएँ हैं, जो मेहनत-मजदूरी करके अपना निर्वाह कर रही हैं। वह सोचती है कि जो अपना पेट भी न पाल सके उसे जीते रहने का, दूसरों का बोझ बनने का कोई हक नहीं है।

रतन द्वारा लेखक ने हिन्दू-विधवा की समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है। रतन का चरित्र आदर्श से अधिक स्वाभाविक है। वह 'निर्मला' की भाँति बेजबान नारी नहीं है, यद्यपि उसका भी गठबंधन एक वृद्ध वकील से होता है; परन्तु मोटर के गोल तेज पहियों पर उड़नेवाली रतन भी, समाज की टूटी हुई पगडन्डी पर सीधे चलने में अपने को असमर्थ पाती है। वह भी पथ में भटक कर खो जाती है।

---

१. 'गबन'—पृष्ठ १५१, २. वही—पृष्ठ १८८-८९, ३. वही—पृष्ठ २६९-२७०।

देवीदीन

यदि समूचे उपन्यास में कोई ऐसा चरित्र है जो पाठकों को कभी भी विस्मृत न हो सकेगा, तो वह बूढ़ा खटिक देवीदीन का सरल, निष्कपट चरित्र है। यह परोपकारी प्राणी बहुत ही जिन्दादिल एवं हसोड़ है, तीर्थयात्रा का प्रेमी है। रमानाथ से पुत्र-सा स्नेह करता है। वह राष्ट्रीयता के रंग में रंगा सच्चा देशभक्त है। दो जवान बेटों की उसने स्वदेशी आन्दोलन में आहुति दी है। देवीदीन इस बलिदान की कहानी पर गर्व करता है। वह खद्दरधारी बड़े नेताओं की पोल जानता है। वह बड़े सेठों और धर्मात्माओं की भी सच्चाई जानता है। रमानाथ जब सेठ करोड़ीमल के दान-धर्म की प्रशंसा करता है तो देवीदीन उसे राज समझाता है--'उसे पापी कहना चाहिये, महापापी। उसकी जूट की मिल है। मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हंटरों से पिटवाता है, हंटरों से। चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिये।......अगर साल में दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे।...'[1]

वह मौत पर हँसता है--'बुढ़िया अभी जीती है। देखे, हम दोनों में पहले कौन चलता है। वह कहती है, पहले मैं जाऊँगी, मैं कहता हूँ पहले मैं जाऊँगा। देखो, किसकी टेक रहती है!...'[2]

वह नशा पीता है। चरस, गाँजा, शराब, भाँग सभी पीता है, परन्तु फिर भी सच्चा मनुष्य है। रमानाथ की तरह झूठा नहीं है। उसके जो अन्दर है, वही बाहर! रमा को पुलिस के पंजे से छुड़ाने के लिये वह भारी रकम दरोगा को देने को तैयार हो जाता है। रमानाथ जब उसे रोकता है तो देवीदीन जवाँमर्दों की भाँति कहता है—'कैसी बातें करते हो, भैया? जब रुपयों पर आई, तो देवीदीन पीछे हटनेवाला आदमी नहीं है। इतने रुपये तो एक-एक दिन जुए में हार जीत गया हूँ।...'[3]

देवीदीन दरोगा को भी फटकारता है। वह रमानाथ को सचेत करता है कि मुखबिर बनकर वह निरपराधों को फँसाने के पाप का भागी बन जायगा। वह जालपा को बहू के रूप में अपने यहाँ आश्रय देता है। वह कहता है—'अपने मतलब के लिये जो दूसरों का गला काटे उसको जहर देना भी पाप नहीं है!'[4]

देवीदीन 'गरीबों को लूटकर विलायत का घर भरनेवालों' को पहचानता है। उसकी आँखों के आगे भावी स्वराज्य की भी सच्ची तस्वीर है। वह भोग-विलास में रत रहनेवाले, गरीबों का रक्त चूसनेवाले स्वार्थी नेताओं के हाथों देश का अकल्याण होते नहीं देखना चाहता। वह चाहता है कि स्वराज्य होने के बाद विलायती वस्तुओं पर दुगुना महसूल लगाया जाय और मोटरों पर चौगुना!

'रंगभूमि' के सूरदास के बाद, 'गबन' का देवीदीन प्रेमचन्द का एक अमर

---

१. 'गबन'—पृष्ठ १६३, २. वही--पृष्ठ १३९ ३. वही--पृष्ठ २२१, ४. वही--पृष्ठ २३७।

पात्र है। वह अनपढ़ है, साधारण देशभक्त मनुष्य है—परन्तु सिर से पैर तक अपने एवं दूसरे के प्रति पूरा ईमानदार है।

कथोपकथन

प्रेमचन्द के कथोपकथन अत्यंत स्वाभाविक होते हैं। उनसे चरित्र और कथा के विकास में सहायता मिलती है। वक्ता के व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का उनसे पता चलता है। कथोपकथन सदैव परिस्थिति के अनुकूल मिलते हैं। पात्र द्वारा कथित प्रत्येक वाक्य उसके मानसिक विकास पर प्रकाश डालता है। प्रायः कथोपथन सरल, स्वाभाविक एवं सांकेतिक होते हैं।

जालपा के ससुराल से गहनों का चढ़ावा आता है। उस समय सखी-सहेलियों का वार्तालाप अत्यंत स्वाभाविक ढंग से लेखक ने चित्रित किया है।

'राधा—और तो सब कुछ है, केवल चन्द्रहार नहीं है।

शाहजादी—एक चन्द्रहार के न होने से क्या होता है बहन, उसकी जगह गुलूबन्द तो है।

जालपा ने वक्रोक्ति के भाव से कहा—हाँ, देह में एक आँख के न होने से क्या होता है! और सब अंग होते ही हैं, आँखें हुईं तो क्या, न हुईं तो क्या।' [१]

अन्तिम वाक्य द्वारा लेखक ने कुशलतापूर्वक यह बताया है कि जालपा के लिये चन्द्रहार का उतना ही महत्व था, जितना देह के लिये आँख का होता है! प्रेमचन्द का व्यंग-कौशल अद्भुत था। ईमानदार पति को उसकी पत्नी भी फटकारती है, कितना मार्मिक सामाजिक व्यंग है।

'जागेश्वरी—बेटे का ब्याह किया है कि ठट्ठा है? शादी-ब्याह में सभी कर्ज लेते हैं, तुमने कोई नयी बात नहीं की। खाने-पहनने के लिये कौन कर्ज लेता है। धर्मात्मा बनने का कुछ फल मिलना चाहिए या नहीं? तुम्हारे ही दर्जे पर सत्यदेव है, पक्का मकान खड़ा कर दिया, जमींदारी खरीद ली, बेटी के ब्याह में कुछ नहीं तो पाँच हजार तो खर्च किये ही होंगे।

दयानाथ—अभी दोनों लड़के भी तो चल दिये?

जागेश्वरी—मरना-जीना तो संसार की गति है। लेते हैं वह भी मरते हैं, नहीं लेते वह भी मरते हैं। अगर तुम चाहो तो छः महीने में सब रुपये चुका सकते हो!' [२]

और नौजवान पति-पत्नी के वार्तालाप में कितनी सरसता एवं जिन्दादिली है! जेठ की सुनहरी चाँदनी, खुली हुई छत, दो जवान अरमान भरे धड़कते दिल!!

'जालपा ने उठकर पूछा—पोटली में क्या है?

रमा—बूझ जाओ तो जानूँ!

---

१. 'ग़बन'—पृष्ठ १३, २. 'वही'—पृष्ठ १७।

जालपा—हँसी का गोलगप्पा है !

रमा—गलत ।

जालपा—नींद की गठरी होगी !

रमा—गलत ।

जालपा—तो प्रेम की पिटारी होगी !

रमानाथ—ठीक । आज मैं तुम्हें फूलों की देवी बनाऊँगा !'...[१]

कितने छोटे-छोटे वाक्य हैं । प्रत्येक शब्द स्नेह से भींगा हुआ है । और 'जालपा ने प्रेमातुर होकर रमा के गले में बाहें डाल दीं और उसे मुलाकर कहा—तुम इस तरह मुझपर टोना करोगे, तो मैं भाग जाऊँगी । न जाने किस तरह ताकते हो, क्या करते हो । क्या मंत्र पढ़ते हो, कि मेरा मन चंचल हो जाता है । वासन्ती सच कहती थी, पुरुषों की आँख में टोना होता है ।'[२]

दुकानदारों की बातचीत का भी अपना एक खास लहजा होता है । बातों के जाल में ग्राहकरूपी चिड़िया को फँसाने में वे पूर्णतः दक्ष होते हैं । सर्राफ और रमानाथ की बातचीत ऐसी ही है ।

पुलिस दरोगा की बातों में दूसरी ही शान है । लेकिन रिश्वतखोर पुलिस दरोगा एवं परोपकारी देवीदीन की बातों का दाव-पेंच देखते ही बनता है ।

प्रेमचन्द के कथोपथन कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से लम्बे हो जाते हैं । वहाँ ऐसा लगता है कि पात्र कोई भाषण दे रहा है । 'ग़बन' में देवीदीन जब रमानाथ को अपने स्वदेश-प्रेम का कारण बताता है, वहाँ पूरा एक जोशीला भाषण ही दे डालता है । यह एक बहुत बड़ा दोष है । दो-दो पृष्ठ के कथोपकथन कलात्मक दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होते ।

भाषा-शैली

प्रेमचन्द की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण देन थी—उनकी सजीव और सशक्त गद्यशैली । वाक्य-विन्यास की अपूर्व चुस्ती एवं कौशल लक्षित होता है । कोमल और चुभनेवाला व्यंग, तीक्ष्ण कटाक्ष, मधुर हास्य का बीच में पुट, सजीव चित्रण, घरेलू मुहावरे—इनसे उनकी भाषा अत्यंत सजीव हो उठी है । उनके धाराप्रवाह वर्णनों में भाषा की गति देखते ही बनती है । परिमार्जित, सरल, सरस और मुहावरेदार भाषा में ताजगी और प्रवाह मिलता है । प्रेमचन्द जी हिन्दी को जनता के निकट पहुँचाना चाहते थे, अतः उन्होंने उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है । मुहावरों के तो वे बादशाह ही थे ।

स्त्रियाँ स्वभावतः बात को प्रभावशाली बनाने के लिये लोकोक्तियों एवं मुहावरों का पलेथन ऊपर से लगा देती हैं । रमानाथ की माता की बात सुनिये—'बहू आ

१. ग़बन--पृष्ठ २३-२४, २. 'वही'--पृष्ठ २६ ।

जायगी, तो उसकी आँखें भी खुलेंगी, देख लेना। अपनी बात याद करो। जब तक गले में जूआ नहीं पड़ा है, तभी तक यह कुलेलें हैं। जुआ पड़ा और सारा नशा हिरन हुआ। निकम्मों को राह पर लाने का इससे बढ़कर और कोई उपाय ही नहीं!'[१]

प्रेमचन्द की वर्णनात्मक शैली की चुस्ती और सफाई, गति एवं छटा देखते ही बनती है। जैसे—'मर्दों ने गहने बनवाए थे, औरतों ने पहने थे, सभी आलोचना करने लगे। चूड़ेदन्ती कितनी सुन्दर है, कोई दस तोले की होगी। वाह! साढ़े ग्यारह तोले से रत्ती भर भी कम निकल जाय, तो कुछ हार जाऊँ! यह शेरदहाँ तो देखो, क्या हाथ की सफाई है! जी चाहता है कारीगर के हाथ चूम लें। यह भी बारह तोले से कम न होगा। वाह! कभी देखा भी है, सोलह तोले से कम निकल जाय तो मुँह न दिखाऊँ।···झूठे नगीनों में यह आब कहाँ! चीज तो यह गुलूबंद है, कितने खूबसूरत फूल हैं!'[२]

पुलिस कर्मचारियों का जीवन्त शब्द-चित्र कितना प्रभावोत्पादक है—एक दरोगा थे, गोरे शौकीन, जिनकी बड़ी-बड़ी आँखों में कोमलता की झलक थी। उनकी बगल में नायब दारोगा थे। यह सिख थे, बहुत ही हँसमुख, सजीवता के पुतले, गेहुआँ रंग, सुडौल, सुगठित शरीर, सिर पर केश थे, हाथ में कड़ा, पर सिगार से परहेज न करते थे।···इन्स्पेक्टर अधेड़, साँवला आदमी था, कौड़ी की-सी आँखें, फूले हुए गाल और ठिगना कद। डिप्टी सुपरिंटेंडेंट लम्बा छरहरा जवान था, बहुत ही विचारशील और अल्पभाषी! इसकी लम्बी नाक और ऊँचा मस्तक कुलीनता के साक्षी थे।'[३]

प्रकृति-वर्णन में शब्द-चयन अपूर्व है—'चैत्र की शीतल-सुहावनी, स्फूर्तिमयी सन्ध्या, गंगा का तट, टेसुओं से लहलहाता हुआ ढाक का मैदान, बरगद का छतनार वृक्ष, उसके नीचे बँधी हुई गाय भैंसे, कद्दू और लौकी की बेलों से लहराती हुई झोपड़ियाँ, न कहीं गर्द न गुबार, न शोर न गुल, सुख और शान्ति के लिये क्या इससे भी अच्छी जगह हो सकती है? नीचे स्वर्णमयी गंगा लाल, काले, नीले आवरण से चमकती हुई, मन्द स्वरों में गाती, कहीं लपकती, कहीं झिझकती, कहीं चपल गम्भीर अनन्त अन्धकार की ओर चली जा रही है...!'[४]

प्रेमचन्दजी सदैव पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करते थे। डिप्टी की भाषा-शैली में अंग्रेजीपन की बू मिलती है। वह रमा से कहता है—'नहीं! आपका वास्ते इससे बुरा दूसरा बात नहीं। हम तुमको छोड़ेगा नहीं। हमारा मुकदमा चाहे बिगड़ जाय, लेकिन हम तुमको ऐसा 'लेसन' देगा कि तुम उमिर भर न भूलेगा!'[५]

जोहरा की भाषा ऊर्दू-फारसी का रंग लिये हुए है—'मुआफ कीजिएगा, आप मर्दों की तरफदारी कर रहे हैं। हक यह है कि वहाँ आप लोग दिल बहलाव के लिये

---

१. 'गबन'—पृष्ठ ८, २. वही—पृष्ठ ११, ३. वही—पृष्ठ २१७, ४. वही—पृष्ठ ३२६, ५. वही—पृष्ठ २६२।

जाते हैं, महज़ ग़मग़लत करने के लिये, महज़ आनन्द उठाने के लिये। जब आपको वफा की तलाश ही नहीं होती, तो वह मिले क्यों कर?....'[1]

प्रेमचन्द जब शुद्ध हिन्दी की भावात्मक-शैली में लिखते हैं, तो उर्दू के शब्दों की जगह संस्कृत के तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है। जैसे—'मानव-जीवन की सबसे महान् घटना कितनी शान्ति के साथ घटित हो जाती है। वह विश्व का एक महान् अंग, वह महत्त्वाकांक्षाओं का प्रचण्ड सागर, वह उद्योग का अनन्त भण्डार, वह प्रेम और द्वेष, सुख और दुःख का लीलाक्षेत्र, वह बुद्धि और बल की रंगभूमि न जाने कब और कहाँ लीन हो जाती है...। सागर की हिलोरों का कहाँ अन्त होता है, कौन बता सकता है? ध्वनि कहाँ वायुमग्न हो जाती है, कौन जानता है! मानवीय जीवन उस हिलोर के सिवा, उस ध्वनि के सिवा और क्या है? उसका अवसान भी उतना ही शान्त, उतना ही अदृश्य हो तो क्या आश्चर्य है?'[2]

प्रेमचन्द अलंकारों का सुन्दर प्रयोग करते थे। उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा की भी छटा यत्र-तत्र देखने को मिल जाती है। जैसे—'शीशफूल आया, सचमुच गुलाब का फूल था, जिस पर हीरे की कलियाँ ओस की बूँदों के समान चमक रही थीं।'[3] 'रमा की दशा उस समय उस शिकारी की-सी थी, जो हिरनी को अपने शावकों के साथ किलोल करते देखकर तनी हुई बन्दूक कंधे पर रख लेता है और वात्सल्य और प्रेम की क्रीड़ा देखने में तल्लीन हो जाता है।'[4] 'इस मातृ-भक्ति के लिये कितने दिनों से उसकी आत्मा तड़प रही थी। इस कृपण हृदय में जितना प्रेम-संचित हो रहा था, वह सब माता के स्तन में एकत्र होनेवाले दूध की भाँति बाहर निकलने को आतुर हो गया।'[5]

सूक्तियाँ एवं लोकोक्तियाँ सार-गर्भित एवं अनुभव सिद्ध मिलती हैं। जैसे—'जिन्दादिल बूढ़ों के साथ तो सोहबत का आनन्द उठाया जा सकता है, लेकिन ऐसे रूखे निर्जीव मनुष्य जवान भी हों तो दूसरों को मुर्दा बना देते हैं।'

मुहावरों की लड़ी सी भाषा में पिरोयी मिलती है। 'हो तुम भी निरे बछिया के ताऊ', 'मेढ़की को जुकाम पैदा हुआ', 'रानी रूठेंगी अपना सुहाग लेंगी' आदि। अंग्रेजी के मुहावरों का अनुवाद भी प्रयुक्त मिलता है। जैसे जालपा के लिये प्रेमचन्दजी ने एक स्थल पर लिखा है, 'जालपा भी, आयी, देखा, और विजय कर लिया।'[6] यह अंग्रेजी के प्रसिद्ध मुहावरे—'They come, saw and won' का अनुवाद प्रतीत होता है। उर्दू-फारसी के शब्द भी तत्सम रूप में अधिक प्रयुक्त मिलते हैं—जैसे—दारोग़ा, दस्ते हिनाई, खजाना, जाम, खिलवत आदि।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली का सबसे बड़ा दोष, उनके वाक्यों की असाधारण लम्बाई है। कहीं कहीं एक ही वाक्य चार-पाँच लाइन तक विस्तृत हो गया है। व्याकरण-

---

१. 'ग़बन'—पृष्ठ २९०, २. वही—पृष्ठ २००, ३. वही—पृष्ठ ६०, ४. वही—पृष्ठ १३२, ५. वही—पृष्ठ १८३, ६. वही—पृष्ठ ७८।

विरुद्ध प्रयोग भी बहुत मिलते हैं। जैसे—'मोटर चल दिया।'[1] फिर भी प्रेमचन्द ने हिन्दी गद्य-शैली को अधिक पुष्ट एवं भाव-अभिव्यंजना की दृष्टि से अधिक समृद्ध बनाया, यह निर्विवाद है।

प्रभाव एवं देश-काल

गतिमान प्रवाहयुक्त यथार्थ मानव-जीवन ही उपन्यास-लेखक को सामग्री प्रदान करता है। "स्टेराडल" ने उपन्यास की तुलना किसी राज-मार्ग पर स्वतः अग्रसर होते हुए विशाल-दर्पण से की है जिसमें प्रतिक्षण यथार्थ जीवन की छाया पड़ती है। 'गबन' भी एक दर्पण सदृश है जिसमें मध्यम-वर्ग अपनी सजीव प्रतिछबि देख सकता है। हमारी झूठी संस्कृति, फटीचर बाबू-वर्ग के लोगों का आडम्बर प्रेम, प्रेम का आर्थिक आधार, देशभक्तों की मानसिक गुलामी आदि-आदि जीवन के अनेक उजले-काले धब्बे, कुशल चित्रकार प्रेमचन्द की रंगभरी तूलिका से उभर कर हमारे सामने आते हैं।

गबन की एक प्रमुख समस्या है, स्त्रियों का आभूषण-प्रेम और उसका दुष्परिणाम! आभूषणों से केवल जालपा को ही मोह न था, उसकी माता मानकी, उसकी सास रामेश्वरी, सभी गहनों के लिये लालायित रहती हैं। वकील साहब की सुशिक्षिता एवं सम्पन्न पत्नी रतन, जिसके पास गहनों की कमी नहीं है, जो इतनी प्रगतिशील रमणी है कि दूसरों से हाथ मिलाती है, मोटर की सवारी करती है—वह भी गहनों की सदैव भूखी रहती है। गहना देखते ही लट्टू हो जाती है। देवीदीन की बूढ़ी पत्नी जग्गो भी गहनों को प्राणों से अधिक प्रिय मानती है, जिसके लिये डाक-विभाग का कर्मचारी देवीदीन न केवल नौकरी से हाथ धोता है, जेल भी काटता है। 'गबन' के सभी स्त्री-पात्र जो गहनों के लिये इस प्रकार जान देते हैं, इसमें लेखक ने अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया है। वरन् विभिन्न वर्गों की भारतीय नारियाँ 'गहनों' के प्रति एक-सा दृष्टिकोण रखती हैं। यह भारतवर्ष के जलवायु की ही विशेषता है।

प्रेमचन्द इस सामाजिक बुराई पर अपने इस उपन्यास में एक पात्र रमेश बाबू के मुख से इस प्रकार मार्मिक व्यंग करते हैं—'गहनों का मरज न जाने इस दरिद्र देश में कैसे फैल गया। जिन लोगों को भोजन का ठिकाना नहीं, वे भी गहनों के पीछे प्राण देते हैं। हर साल अरबों रुपये केवल सोना-चाँदी खरीदने में व्यय हो जाते हैं। ...उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिससे लोगों की परवरिश होती है, औ[र] धन बढ़ता है। यहाँ धन शृंगार में खर्च होता है, उससे उन्नति और उपकार की जो महान् शक्तियाँ हैं, उन दोनों ही का अन्त हो जाता है। बस, यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे, वहाँ जेवरों का प्रचार भी उतना ही अधिक होगा। वह धन जो भोजन में खर्च होना चाहिये, बाल-बच्चों का पेट काटकर गहनों की भेंट कर दिया जाता है। बच्चों को दूध न मिले, न सही। घी की गन्ध तक उनकी नाक में

---

१. 'गबन'—पृष्ठ ७४, २. वही—पृष्ठ १६०।

न पहुँचे न सही, मेवों और फलों के दर्शन उन्हें न हों कोई परवाह नहीं ; पर देवीजी गहने जरूर पहनेंगी और स्वामीजी गहने जरूर बनवायेंगे। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।'[१]

'सेवासदन' के दरोगा कृष्णचन्द्र घूस लेते हैं, इसलिये उनकी पुत्री सुमन के भविष्य का सर्वनाश होता है। जालपा के पिता दीनदयाल घूस के बल पर ही हजारों रुपये के आभूषण पत्नी को बनवा देते हैं एवं बेटी के विवाह में दिल खोलकर खर्च करते हैं। ईमानदार दयानाथ घूस नहीं लेते अतएव सदैव आर्थिक अभावों की चक्की में पिसते रहते हैं। रमानाथ घूस के रुपये के बल पर ही गुलछर्रे उड़ाता है एवं उसका पतन होता है। रिश्वत और हराम की कमाई सामाजिक जीवन को खोखला बनाती है, वर्तमान समाज को एक अनिवार्य व्याधि की भाँति ग्रस रही है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी का मत विचारणीय है—'जब तक छोटे-छोटे आदमियों का वेतन इतना न हो जायेगा कि वह भलमनसी के साथ निर्वाह कर सकें तब तक रिश्वत बन्द न होगी। यही रोटी-दाल, घी-दूध तो वह भी खाते हैं। फिर एक को तीस रुपये और दूसरे को तीन सौ रुपये क्यों देते हो?'[२]

सामाजिक असमानता की क्रोड़ में रिश्वत पनपती ही है। कितना बड़ा सत्य है। इस रिश्वतखोर समाज में वेश्याओं का सम्मान स्वाभाविक ही है। जन्माष्टमी के उत्सव में भला वेश्या क्यों न आये! इस बुरी प्रथा के प्रति लेखक का आक्रोश कितना तीव्र है—'सेठजी ने तो वचन दिया था कि वेश्याएँ न आने पावेंगी, फिर यह क्या किया! इन मूर्खों के हाथों हिन्दू-धर्म का सर्वनाश हो जायेगा। एक तो वेश्याओं का नाच यों भी बुरा, उस पर ठाकुरद्वारे में! छिः छिः! न जाने इन गधों को कब अक्ल आयेगी! मेरा वश चले, तो मैं कानून से यह दुराचार बन्द कर दूँ।'[३]

प्रेमचन्द इस उपन्यास में स्त्रियों की स्वाधीनता की भी वकालत करते हैं। उनके अनुसार—'जिस देश में स्त्रियों को जितनी अधिक स्वाधीनता है, वह देश उतना ही सभ्य है। स्त्रियों को कैद में, परदे में, या पुरुषों से कोसों दूर रखने का तात्पर्य यही निकलता है कि आपके यहाँ जनता इतनी आचारभ्रष्ट है कि स्त्रियों का अपमान करने में जरा भी संकोच नहीं करती।'[४]

'गबन' का देश-काल अत्यंत व्यापक है। ब्रिटिश भारत की पुलिस का अत्याचार, उसकी जालसाजी एवं घूसखोरी का विस्तृत चित्र मिलता है। निरापराधों को अपराधी बनाकर दंडित करवाना, यही पुलिस-शासन की सफलता का रहस्य माना जाता था। हिन्दू विधवा स्त्री की समस्या एवं उसकी आर्थिक पराधीनता पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है। अपढ़ लोगों की राष्ट्र-भक्ति की मधुर एवं दिव्य झाँकी इसमें दिखाई गई है।

---

१. 'गबन'—पृष्ठ ५२-५३, २. वही—पृष्ठ ३७, ३. वही—पृष्ठ ५१, ४. वही—पृष्ठ १०६

'अंग्रेजियत' के मानसिक गुलाम बाबुओं एवं राष्ट्रवादी तथाकथित नेताओं की कलई खोली गई है। 'गबन' की ऐतिहासिक भविष्यवाणी है—'भारत को आजाद करेंगे, देवीदीन के वर्ग के साहसी, त्यागी एवं सच्चे राष्ट्र-भक्त। और भविष्य में बहुमत मजदूरों और किसानों का होगा--उन्हीं के मजबूत हाथों में भारत की बागडोर रहेगी। तभी देश सच्ची उन्नति करेगा।'

यही 'गबन' का युगांतरकारी सन्देश है!!

त्याग-पत्र

जार्ज बर्नर्ड शा ने लिखा है--'आज की सदी के कलाकार को अन्ततः दार्शनिक होना ही पड़ेगा।'

श्री जैनेन्द्रकुमार हिंदी के ऐसे ही लब्ध-प्रतिष्ठित कलाकार हैं। वे भी मानते हैं कि कला और दर्शन में बहन-भाई का नाता है। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में सर्वत्र एक बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टिकोण मिलता है, जो अस्पष्ट रहता है। इस अस्पष्टता का कारण बहुत-कुछ उनकी भावुकता ही है। उनकी रचनाओं में दिल और दिमाग का द्वन्द्व बराबर मिलता है। प्रेमचन्दजी ने जैनेन्द्र कुमार के लिये ठीक ही लिखा है—

"अन्तःप्रेरणा और दार्शनिक संकोच का संघर्ष है,—इतना हृदय को मसोसने वाला, इतना स्वच्छंद और निष्कपट जैसे बंधनों में जकड़ी हुई आत्मा की पुकार हो!··· उनमें साधारण सी बात को भी कुछ इस ढंग से कहने की शक्ति है जो तुरन्त आकर्षित करती है। उनकी भाषा में एक खास लोच, एक खास अन्दाज है!"[1]

जैनेन्द्र वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों के चित्रकार हैं। वे कहीं-कहीं इतने अधिक अन्तर्मुख हो उठे हैं कि स्वस्थ और विकासोन्मुख सामाजिक जीवन से भी तटस्थ बन गये हैं। जैनेन्द्र क. नूह में नहीं व्यक्ति में विश्वास है। वे एक भावुक कलाकार हैं। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र और पहेली के समान गूढ़ बन गई है। यही उनका अभिमान है। 'त्याग-पत्र' में जैनेन्द्र की ये सभी विशेषताएँ समग्र रूप से हमें देखने को मिलती हैं।

हिन्दी उपन्यास के विस्तृत धरातल पर प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र कुमार ने ही युगान्तरकारी कार्य किया है। प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में जिस प्रकार पहली बार लोक-जीवन के स्पंदन एवं सौन्दर्य की विस्तृत झाँकी देखने को मिलती है, जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में उसी प्रकार व्यक्ति के रहस्यमय मानसिक धरातल के सूक्ष्म स्तरों का मनोवैज्ञानिक अंकन मिलता है। जैनेन्द्र की नवीनता, कथा के आकलन में, जीवन के प्रति सहृदय व्यक्ति के दार्शनिक दृष्टिकोण एवं नये शिल्प-विधान तथा नवीन ढंग की भाषा-शैली में सहज द्रष्टव्य है। १९२९ ई० में 'परख' द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य को 'कट्टो' के रूप में एक नये ढंग की नारी जैनेन्द्र ने दी इस रचना में प्राचीन मान्यताओं से वह बहुत आगे बढ़ गये हैं। 'कट्टो', 'मृणाल', 'सुनीता', 'सुखदा', 'कल्याणी', अदि जैनेन्द्र की नयी निराली नारी-सृष्टि है। इनमें प्रेमचन्द की 'सुमन', निर्मला', 'जालपा', 'सोफिया', 'मालती' या 'धनिया' जैसी सामाजिकता एवं परम्परा-सम्मत चारित्रिक गरिमा भले ही न हो, फिर भी एक नवीनता है। नई रोशनी, नई शिक्षा एवं नये संस्कारों से मध्यम

---

१. 'हंस' वर्ष ३ संख्या ४।

वर्ग की भारतीय नारी के मन पर उभरनेवाले नए क्षितिज को जैनेन्द्र ने सूक्ष्म रेखाओं द्वारा चित्रांकित करने की चेष्टा की है।

'त्याग पत्र' को युग-प्रवर्तक उपन्यास मानने में दो मत हो सकते हैं। लेकिन यह निर्विवाद है कि इसके द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य में नया-यथार्थ प्रतिष्ठित हुआ। जैनेन्द्र ने उस स्त्री का चित्रण किया है जो चिड़िया बन जाने की कामना करती है। यही नयी नैतिकता एवं नयी वास्तविकता है। 'नारी का दाम उसके चाय पर नहीं वरन् मन पर है'—यही जैनेन्द्र के दृष्टिकोण की मूल पीठिका है। पतन के गर्त में पड़ी हुई नारी भी कितना सोच सकती है—उसका 'मन' उड़ते हुए आकाश में कितनी ऊँचाई तक उठ सकता है, इसे जैनेन्द्र ने सफलतापूर्वक 'त्याग-पत्र' में विचित्र किया है।

'त्याग-पत्र' में केवल ८० पृष्ठों का संक्षिप्त कथानक है। हिन्दी में इससे पूर्व कोई इतना छोटा उपन्यास नहीं मिलता। 'त्याग-पत्र' हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक बड़ा 'लैन्ड-मार्क' है। पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी भी मानते हैं कि जैनेन्द्र ने तथाकथित प्रगतिवाद के नपे-तुले नुस्खों को छोड़कर जीवन की वास्तविक गहराई में पैठने का उपक्रम अपने उपन्यासों में आरम्भ से ही कर रखा है। "कोई भी साहित्यकार किसी बनी बनाई पगडण्डी पर चलकर अपने गंतव्य स्थान तक नहीं पहुँच सकता। उसे स्वानुभूत दर्शन चाहिए, स्वार्जित शक्ति चाहिए। श्री जैनेन्द्रकुमार में न केवल स्वतंत्र विचारण है, स्वतंत्र कलाभिव्यक्ति भी है।[1]

"जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की विशेषता यह है कि वे समस्या-मूलक होते हैं। वे किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर चलते हैं। अतः उनके पात्र अशरीरी हो जाते हैं। वे पात्र स्वयं अपूर्त और अपूर्ण, सजीव प्रश्नचिह्न होते हैं। लेखक उन सजीव प्रश्न चिह्नों को पूर्ण व्यक्ति-स्वातंत्र्य देता है। वह उनके बीच में किंकर्तव्य-विमूढ़ मति, चकराया सा खड़ा है। और वह जैसे राह नहीं जानता। वह राह पाठक सुझाए। उनके उपन्यास इसी कारण अधिकतर प्रश्नांत हैं—न सुखांत, न दुखांत ही पूरी तरह!"[2]

जैनेन्द्र, उपन्यासकार का कार्य समकालीन राष्ट्रीय, जातीय, या बौद्धिक आन्दोलनों की पैरवी या आलोचना करना नहीं मानते। वे उसे समाज सुधारक, गरीबों का वकील अथवा जनता का मनोरंजन करनेवाला भी नहीं मानते। वह लेखक में सत्यानुसंधान की वृत्ति को आवश्यक मानते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुरुष के हृदय में, हर श्वास के साथ धड़कता हुआ जो सजीव चिन्मय सत्य है, उसका अन्वेषक होना साहित्यकार का पहला धर्म मानते हैं।

'त्याग-पत्र' में इसीलिये देश-काल, या सामाजिक समस्याओं को प्रमुखता न

१. 'साहित्य-सन्देश' अक्तूबर-नवम्बर १९४०-१०८, २. वही—प्रभाकर माचवे पृष्ठ १०९

देकर, एक कल्पनाशील नई नारी (मृणाल) के जीवन की करुणा में उसी सर्वकालिक 'चिन्मय सत्य' को दिखाने का लेखक ने प्रयास किया है। 'गीता' ने जिस 'अनासक्त' एवं निर्लिप्त कर्म की शुचिता का गौरव-गान किया है, उसे मृणाल की अव्यभिचरित (unadulterated) आत्मा द्वारा लेखक ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है। पाप के पंक में रहकर भी नारी अनासक्त पंकज की भाँति किस प्रकार पवित्र रहती है, वह पतन के गर्त्त में गिरकर भी किस प्रकार अपने 'अहं' और 'व्यक्तित्व' को सुरक्षित रख सकती है, इसे मृणाल द्वारा लेखक ने सफलतापूर्वक उभारा है। जैनेन्द्र ने व्यक्ति की आत्म-साधना को ही प्रमुख माना है। इसीलिये व्यक्ति और समाज का संघर्ष दिखाते हुए उन्होंने 'व्यक्ति' को सदैव महत्ता दी है। उसके जीवन के गहरे से गहरे स्तर में पैठने का उन्होंने प्रयत्न किया है। जैनेन्द्र ने कट्टो, सुनीता, मृणाल और कल्याणी के रूप में, भारतीय नारी के चार विविध रूप चित्रित करते हुए, समाज के समक्ष चार ज्वलंत प्रश्न उपस्थित किये हैं। मनोवैज्ञानिक अवगुंठन ने उनके सभी 'चरित्रों' को अस्पष्ट एवं असाधारण बना दिया है। वे मानव मस्तिष्क के साथ उसके हृदय का भी रहस्य प्रकट करना चाहते हैं।

कथा

सर एम० दयाल (प्रमोददयाल) जजी से अपना त्याग-पत्र देकर कई वर्षों से हरिद्वार में विरक्त जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी मृत्यु के पश्चात्, लेखक को एक 'पाण्डुलिपि' प्राप्त हुई, जो मूलतः अंग्रेजी में थी। उसी का उल्था हिन्दी में करके लेखक ने 'त्याग-पत्र' में रख दिया है। कुछ परिवर्तन भी किये हैं···ऐसा 'प्रारम्भिक' कथन में लेखक विश्वास दिलाता है।

प्रश्न होता है कि प्रमोददयाल ने जजी से क्यों 'त्यागपत्र' दिया? इसी को पूरे कथानक द्वारा लेखक ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कथानक से ज्ञात होता है कि प्रमोददयाल अपनी बुआ (मृणाल) से अत्यधिक स्नेह करते थे। लेकिन जीवन में मृणाल के लिये वे कुछ विशेष न कर पाये थे, इस पीड़ा का बोझ सह न सकने के कारण, उन्होंने जजी से त्याग-पत्र दे दिया।

इस छोटे से उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु मृणाल है। एक छोटा सा मध्यम-वर्गीय साधारण परिवार है। प्रमोद, उसके माता-पिता तथा मृणाल, केवल चार सदस्य हैं। प्रारम्भिक पृष्ठों में रूपवती एवं चंचल मृणाल का बाल्य-जीवन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा चित्रित किया गया है। स्कूली जीवन में शीला के प्रति मृणाल विशेष स्नेह रखती है। एक बार शीला के अपराध के लिये वह स्वयं दंड भी सहती है। शीला के घर भी उसका आना-जाना है। शीला के बड़े भाई से उसका परिचय होता है जो क्रमशः घनिष्ठता में परिवर्तित होता जाता है। मृणाल के भाई और भाभी इस संपर्क से असंतुष्ट हैं। प्रमोद की माँ (मृणाल की भाभी) अपना असन्तोष एवं उग्र विरोध एक दिन मृणाल को बेंतों से पीटकर प्रकट भी करती हैं।

मृणाल अपने भतीजे प्रमोद से जो अवस्था में उससे चार-पाँच वर्ष छोटा है विशेष स्नेह एवं आत्मीयता रखती है। प्रमोद का भी अपनी बुआ से अतिशय स्नेह है, वह उनके लिये सब कुछ करने, सहने एवं कहने का साहस रखता है। मृणाल और प्रमोद के इस प्रेम में 'अस्पष्टता' भले ही हो, किसी प्रकार की 'अनैतिक' गहराई नहीं आती। परिवार में यदि कोई मृणाल के प्रति सच्ची सहानुभूति रखता है, तो वह प्रमोद ही है।

वयस्क होने पर मृणाल का एक संपन्न व्यक्ति से विवाह कर दिया जाता है; इस विवाह में कुछ 'शीघ्रता' की गई, जिससे सुन्दरी एवं मनस्विनी मृणाल का गठ-बन्धन एक भोंडे और अशिक्षित व्यक्ति से हो गया। कदाचित् उसकी 'सम्पन्नता' के समक्ष यह दुर्गुण मृणाल के भाई-भाभी को दृष्टिगत न हुए हों या नगण्य लगे हों। हिन्दू नारी तो बेजबान गाय है। समाज सोने के खूँटे से उस बेजबान नारी की जीवन-डोर बाँधकर, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेता है। स्वर्ण की उस चमक एवं चकाचौंध के आगे, गोबर की दुर्गन्ध, सड़े हुए पुराने पानी की सतह पर तैरते हुए विषैले कीटाणु एवं अस्वच्छ वातावरण—सब 'हल्के' एवं उपेक्षित बन जाते हैं। मृणाल ने भी मूक-भाव से सब कुछ मान लिया। भाई-भाभी के उपदेशामृत का पान कर, विरोधी परिस्थितियों में भी उसने 'पतिव्रता' बनने का प्रयत्न किया।

मृणाल पति-गृह से कभी-कभी अपने पुराने घर भी चली आती है। परम्परा की लीक पर चलनेवाले उसके भाई-भाभी इसे भी अनुचित मानते हैं। मृणाल इस प्रकार सदैव के लिये अपने भाई-भाभी से कटकर पतिगृह जाती है। पति-पत्नी के सम्बंध भी अच्छे नहीं हैं। शीला के भाई के पत्र को लेकर पति अपना अविश्वास मृणाल के प्रति प्रकट करता है। उसे पुन: 'मायके' भेजना चाहता है। पति की नाराजगी में पुन: मायके जाना मृणाल को स्वीकार नहीं। पति के लिये वह 'भार' बन जाती है। क्या पतिव्रता का यही धर्म है कि वह पति के न चाहने पर भी उसका 'भार' बने, उसके पास बनी रहे? अतएव शान्तिपूर्वक, बिना किसी विरोध के, मूक-भाव से वह सब कुछ झेल लेती है।

पति परित्यक्ता मृणाल अब सब ओर से कटकर, अकेली असहाय एवं निराधार हो गई। भवितव्य-वश वह जीना आवश्यक मानती है। वह समाज की जड़ों में अपने को सींच देना चाहती है। उसके लिये 'सचाई' छोटा तथा निरीह बनने में, बलि बनने में है। आश्रय की अनिवार्यता उसे एक पर-पुरुष की संगिनी बनाती है। वह कोयला बेचनेवाला, रूपासक्त हो—मृणाल के लिये अपने परिवार की भी उपेक्षा करता है। मृणाल उसके स्वार्थ को चीन्हती हुई भी उस रूप-लोभी के मोह के प्रति उदार 'करुण' भाव से आत्म-समर्पण कर बैठती है। लेकिन उसे भी वह केवल अपना 'तन' देती है, 'मन' तो स्वयं उसके अपने बस का भी नहीं।

मृणाल गर्भवती हो जाती है। कोयलेवाला भी उसे 'व्यभिचारिणी' मानकर, निराश्रय छोड़कर चल देता है। कन्या होकर भी मर जाती है। 'ट्यूशन' द्वारा अपना

भरण-पोषण करती है। लेकिन सामाजिक प्रवाद के कारण यह भी छूट जाता है। वह जिन्दगी में बिना लक्ष्य के बहती हुई, एकदिन टूटकर समाप्त हो जाती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से मृणाल स्नेह की भूखी है। माता-पिता का स्नेह उसे प्राप्त न हो सका, क्योंकि विधाता ने दोनों को पहले ही उठा लिया था। भाभी के कठोर अनुशासन में भी उसे वह सहानुभूति न मिली। पति से भी मनोवांछित प्यार न मिला। जो कुछ मिला वह अपने भतीजे प्रमोद से या फिर शीला के भाई में! शीला के भाई को वह चाहकर भी अपना न बना पाई। यही असफलता उसके असन्तोष और दुर्भाग्य का मूलाधार है। वह पति द्वारा तिरस्कृत होकर, समाज द्वारा उपेक्षित होकर, जिन्दगी और मौत से खेलती हुई, कुछ समय के लिये कोयलेवाले के साथ जैसे-तैसे दिन बिताती है। वह भी उसे छोड़ देता है। इस प्रकार मृणाल का करुण अंत होता है।

इस छोटे उपन्यास का यही मूल कथानक है। इस कथानक में लेखक द्वारा चित्रित समाज का दुःख-दर्द, उसका वैषम्य, उसकी रूढ़िवादिता सब यथार्थ और स्थायी 'मूल्य' का है। 'समाज के लिये व्यक्ति का बलिदान', जो गाँधीवादी दर्शन है, उससे लेखक प्रभावित दिखता है। इसीने लेखक को पीछे खींचा है, कथानक का स्वाभाविक विकास-रोक दिया है।

कथा-शिल्प

जैनेन्द्र का समूह में नहीं, व्यक्ति में विश्वास है। अतएव विशाल सामाजिक चित्र को छोड़कर उन्होंने दो-तीन पात्रों को लिया। उनके जीवन के भी पूरे बहाव को न दिखाकर जिन्दगी के कुछ महत्त्वपूर्ण क्षणों का चित्र खींचा। एक 'क्षण' में क्या कुछ हो जाता है, क्या हो सकता है···इसे एक सचेत कलाकार की भाँति सफलतापूर्वक उन्होंने शब्दांकित किया है।

मृणाल का अन्त बहुत ही अस्पष्ट, निराशाजनक एवं भ्रामक है।

हम देखते हैं कि प्रमोद की बुआ मृणाल समाज से परे हटकर उसकी मंगलाकांक्षा करते- करते प्राण दे देती है और प्रमोद भी समाज के चक्र से घबड़ाकर, उससे संन्यास ही ग्रहण करनेमें जीवन की पूर्णता सोच लेते हैं। यह लेखक का पलायन-वादी दृष्टिकोण है। प्रमोद जानता है कि बुआ का पतन क्यों हुआ, किन परिस्थितियों ने उसकी बुआ को पतन के गर्त में बलात् ढकेला। फिर भी वह समाज में 'परिवर्तन' की कामना करके ही संतोष कर लेता है। अपनी इस महती अभिलाषा को कभी कार्यान्वित करने का वे उत्साह प्रदर्शित नहीं करते। यह कथानक की सबसे बड़ी कमजोरी है।

जैनेन्द्र ने इस उपन्यास में 'प्रसंग-चयन' से कार्य लिया है। कथा के स्थूल-प्रसार से लेखक उदासीन है, बाह्य घटनाओं का उसने प्रायः बहिष्कार किया है। यह उपन्यास 'सूत्र-शैली' में नहीं लिखा गया है। शैली वर्णनात्मक होते हुए भी यह अत्यन्त संक्षिप्त है। पूरी की पूरी कथा 'स्मृतियों' में कही गयी है। इस शैली को

अपनाने के कारण कथा का अनावश्यक विस्तार नहीं हो पाया है। तीस वर्षों के बाद बाबू प्रमोददयाल अतीत की घटनाओं का स्मरण कर रहे हैं। स्मृति में खंडचित्र ही आते हैं, सामान्य वर्णन नहीं। इससे उपन्यास की चर्बी कम हो गयी है। केवल मार्मिक प्रसंग रह गये हैं। मनोवैज्ञानिक प्रसंगों में जहाँ मानसिक उथल-पुथल का चित्र खींचना है, वहाँ जैनेन्द्र ने कलात्मक रूप से पूर्ण चित्र खींचा है।

कथानक का पूर्वार्द्ध जितना सुन्दर, स्वाभाविक एवं उत्कृष्ट है, उत्तरार्द्ध उतना उत्कृष्ट नहीं बन सका है। साठ पृष्ठ तक उपन्यास स्वाभाविकता के साथ चलता है। इसके बाद ऐसा लगता है कि मानो लेखक को जल्दी है। 'संयोग' (Co-incidence) का आश्रय अनेक बार, कथा की शृंखला को सम्बद्ध रखने के लिये ग्रहण किया गया है। बुआ (मृणाल) का प्रमोद से अचानक अपरिचित नगर में मिल जाना और मृणाल का उसी घर में ट्यूटर होना, जहाँ प्रमोद की शादी होनेवाली है—स्वाभाविक नहीं लगता।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथानक सूक्ष्म होता है, स्थूल नहीं। अतएव पात्रों की बहुलता नहीं मिलती। 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है !' बड़ी घटनाओं के अभाव में इस उपन्यास में चरित्र-चित्रण को विशेष अवकाश प्राप्त हुआ है। प्रासंगिक वृत्तों के अभाव के कारण इस उपन्यास में एक नैसर्गिक प्रखरता एवं तीव्रता मिलती है। उपन्यास के कथा-शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता है, 'त्याग-पत्र' का गाढ़-बन्धत्व (Compactness)। जैनेन्द्र की उपन्यास-कला में, कहानी-कला के अनेक विशिष्ट गुण मिलते हैं। क्रिया-कल्प की दृष्टि से इससे उपन्यास में रोचकता बढ़ जाती है एवं अनावश्यक विस्तार भी नहीं हो पाता।

मृणाल का चरित्र

इस उपन्यास में मृणाल की जीवन-कथा ही मूल कथानक की आत्मा है। लेखक ने उसके चरित्र के कुछ ही 'शेड' (छायाएँ) दर्शाये हैं। लेकिन वे अत्यंत सांकेतिक व्यंजक तथा अपने आप में पूर्ण हैं।

मृणाल 'चिड़िया' और 'पतंग' बनने के सपने देखती है। वह 'कुछ' होना चाहती है, वह आत्मविकास चाहती है। वह केवल 'माँ' नहीं बनना चाहती, बल्कि पूर्ण बनना चाहती है। आधुनिक नारी के मन की जो बारीक से बारीक छायाएँ हो सकती हैं, जैनेन्द्र ने उन्हें दर्शाया है। नारी अपनी वस्तुस्थिति से संतुष्ट न रहकर कुछ होना चाहती है। वह जहाँ है, उससे एक पग आगे बढ़ने की आकांक्षा रखती है। जैनेन्द्र ने स्पष्टतः यह नहीं दिखाया है कि 'मृणाल' क्या होना चाहती है ? यह जो अस्पष्टता है, वह हिन्दी-साहित्य में इससे पूर्व किसी नारी में नहीं है। 'सुमन' (सेवासदन) अथवा 'निर्मला' (निर्मला) या 'जालपा' (गबन) क्या चाहती हैं, स्पष्ट है। लेकिन मृणाल में जो अस्पष्टता है, 'पूर्णता' की ओर बढ़ने की आकांक्षा है, यह वर्तमान युग की आधुनिक नारी के हृदय में उभरनेवाले नये 'क्षितिज' को बताती है।

जैनेन्द्र द्वारा हिन्दी कथा-साहित्य में नया यथार्थ प्रतिष्ठित हुआ। प्रेमचन्द की किसी भी नारी पात्र का इतना पतन नहीं होता। 'सुमन' विद्रोह करती है, कोठे पर जाकर खुले आम समाज को चुनौती देती है, परन्तु अपने शरीर को नहीं बेचती। 'मृणाल' तन तो 'पर पुरुष' को दे सकती है (भले ही करुणा से प्रेरित होकर !), लेकिन 'मन' पर किसी दूसरे का अधिकार असम्भव है। मृणाल के जीवन में बाहर 'कोयला' भले ही दिखे, भीतर कालिख नहीं है, वहाँ सब 'उजला' है। जैनेन्द्र ने सदैव नारी के मानस की 'शुचिता' को महान माना है। कदाचित् इसीलिये 'सुनीता' ने हरिप्रसन्न के समक्ष, सहज लज्जा का भी परित्याग कर, निरावरण होकर—समाज की बँधी रुढ़ियों एवं मान्यताओं के आगे एक प्रश्नचिह्न लगाने का साहस किया। स्थूल नैतिकता के हिमायती को भले ही इस 'प्रयोग' में किंचित 'पाप' की छाया दृष्टिगत हो, लेकिन जैनेन्द्र के दर्शन में यही नारी का 'दुर्गा' या 'काली' सा उच्च रूप है।

'मृणाल' ही यह स्पष्ट कहने का साहस कर सकती है—"...जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसे ? दान स्त्री का धर्म है।...सती का आदर्श और क्या है ?..."[1]

वह समाज से विद्रोह कर, 'वेश्यावृत्ति' नहीं स्वीकार करना चाहती है, वरन् उसी की जड़ों में अपने आपको खींच देना चाहती है। मृणाल की 'विद्रोह' की आकांक्षा, परन्तु विवशता से न कर पाना, 'हैमलेट' के उस बदला लेने की तरह है जो चाहकर भी नहीं ले पाया था। इसीमें मृणाल टूट जाती है। यह जैनेन्द्र का द्रोही रूप है। मृणाल जागरूक है, संवेदनशील है, फिर भी वह समाज से लड़ती नहीं, उसे मान्यता देती है।

वह प्रमोद से कहती है—"मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे ? या किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिये मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।..."[2]

गांधीवादी दर्शन के प्रभाव से ही जैनेन्द्र की मृणाल ऐसा सोचती है। आत्मोत्सर्ग एवं आत्म-व्यथा की आँच में तपकर मृणाल को इतना ज्ञान प्राप्त हो गया था कि जो अनेक 'शास्त्रों' के मंथन से भी जल्दी किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। गम्भीर सत्य को भी वह सहज ढंग से अनुभूत एवं व्यक्त कर सकती है।

"...जो समाज में हैं, समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा भी उन पर है। वह उनका कर्त्तव्य है। जो उसके उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सकती है।...सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है।..."[3]

---

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ ५१, २. वही—पृष्ठ ६०, ३. वही—पृष्ठ ६०।

मृणाल स्वयं समाज का उच्छिष्ट बनकर, 'सत्य' के अन्वेषण के लिये नित्य जीवन के साथ 'प्रयोग' करना चाहे—इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है, लेकिन दुःख की अनुभूति के साथ-साथ पराजय की भावना, यह एक बहुत बड़ी कमजोरी है।

लेखक ने बड़े सूक्ष्म ढंग से मृणाल की उस अवस्था का अंकन किया है, जब वह तारुण्य की ओर बढ़ रही थी। उसका अपने भतीजे प्रमोद को बार-बार छाती से लगाना और कभी-कभी उसे एकदम अपने ऊपर लुढ़का लेना···सोद्देश्य चित्रित किया गया है। आधुनिक लेखक नारी का 'सेक्सुअल डेवलपमेंट' (यौन विकास) बड़ी बारीकी से चित्रित करता है। विद्यापति से लेकर भारतेन्दु तक, सभी शृंगारिक एवं भक्त कवियों ने 'वयःसन्धि' का सुन्दर चित्रण किया है। इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि आधुनिक लेखक किसी शृंगारिकता के आग्रह के कारण, नारी की वयःसन्धि का चित्रण करता है। जैनेन्द्र आदि आधुनिक युग के कथाकार रीतिकालीन शृंगारिक कविता से प्रेरणा न ग्रहण कर, फ्रायड आदि के 'नूतन मनोविज्ञान' से प्रभावित होकर, चरित्र की सभी भंगिमाओं को उभारने के लिये ऐसे 'चित्रण' को आवश्यक मानते हैं।

मृणाल भी उस अवस्था में नहीं जानती कि उसे क्या चाहिये। उसे फिर भी किसी अभाव का सदैव अनुभव होता रहता है। उसे एकान्त-प्रिय है, पतंग के पेंच और चिड़ियों की उड़ान अच्छी लगती है। वह 'प्रमोद' को देखते हुए उसके आर-पार न जाने क्या देख जाती है...इसे वह स्वयं कभी नहीं समझ सकी। मृणाल का प्रत्येक व्यक्ति को आर-पार देख जाना, कहते-कहते रुक जाना, बोलते-बोलते बहक जाना··· कोई नाज और नखरा नहीं था, वरन् चारित्रिक अस्पष्टता है, आधुनिक नारी के मन का 'मनोवैज्ञानिक-स्केच' है। 'उस अवस्था में मृणाल के मन में कुछ ठहरता नहीं था—न विचार, न अविचार। जैसे भीतर बस हवा हो और मन हल्का-फुलका बस उड़-उड़ आना चाहता हो। वह बे-बात हँसती थीं और बे-बात मुझे (प्रमोद को) पकड़कर इधर से उधर खींचती थी।'[1]

मृणाल प्रकट रूप से शीला के प्रति स्नेह रखती है, लेकिन वस्तुतः वह शीला के भाई से प्रेम करती है। वह जानती थी कि उसके चारो ओर समाज ने मर्यादा की लकीर खींच रखी है। अतएव वह कहती है कि 'मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।'[2] चिड़िया के सामने कोई सीमा नहीं, उसे कैद करनेवाला कोई घेरा नहीं, वरन् उसके समक्ष अनन्त आकाश होता है। वह जहाँ चाहे अपनी इच्छा से उड़ सकती है, उसे कोई रोकनेवाला नहीं।

लेकिन कदाचित् मृणाल ने यह नहीं सोचा था कि चिड़िया के समक्ष अनन्त आकाश तो होता है परन्तु उसके बीच भी उसे अपनी एक सीमा बनानी होती है उसके नन्हें-नन्हें पंख होते हैं, उसकी शक्ति भी सीमित होती है। अगर इस सत्य

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ १०, २. 'वही'—पृष्ठ ११।

की उपेक्षा कर वह सारे आकाश का चक्कर लगाना चाहे, तो वह जी नहीं सकती। हवा के बीच ही वह हवा हो जायेगी। अगर चिड़िया बनने से पूर्व मृणाल ने चिड़िया की शक्ति की कल्पना कर ली होती, समुद्र में कूदने से पूर्व तालाब या नदी में हाथ-पाँव चलाकर देख लिये होते, पतंग बनने से पूर्व कटने का भी ध्यान कर लिया होता···तो कदाचित् मृणाल का अंत ही दूसरा होता। वह बीच में ही टूट न जाती, धारा में इस बुरी तरह न बह जाती और उसका इतना हल्का अंत न होता। यही मृणाल की विफलता और पराजय का रहस्य है।

मृणाल के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है—'आत्म-पीड़क विद्रोह'! वह जागरूक है, संवेदनशील है। अपने विवाह से असन्तुष्ट है। वह रूढ़ि और परम्परा की लीक पर चलना नहीं चाहती है। वह अपना रास्ता स्वयं बनाना चाहती है। उसकी आकांक्षाएँ बुरी नहीं, फिर भी वह सहारे के अभाव में पथभ्रष्ट हो जाती है। वह स्वयं कहती है, सोचती है और उसकी अन-चीन्ही आँखों में यह प्रश्न भी बराबर तैरता है—'मैं कुछ चाहती हूँ, पर अरे कोई बतायेगा कि क्या?'[1]

इसी 'अव्यक्त' तथा अनजानी 'चाह' के पीछे वह स्कूल में मास्टर से बेंत खाती है, प्रमोद की माँ से पिटती है और अन्त में पति के हाथों से भी बेंतों की चोटें बर्दाश्त करती है। 'कोयलेवाला' भी उसे पीटकर छोड़ जाता है।[2] वह सहनशील है। उसमें अगर कोई कमजोरी है, तो अत्यधिक भावुकता की। वह आसमान के सीने पर तैरनेवाले काले और सफेद बादलों को अपनी बाहों में भरने का स्वप्न देखती है। इसी रंगीन 'स्वप्न' ने उसके आत्मविकास को रोका है। यदि मृणाल ने मिट्टी की धरती पर अपने पाँव रखे होते तो उसकी जिंदगी का नक्शा ही दूसरा होता। निर्भीक स्पष्टवादी मृणाल शीला के भाई के पत्र की चर्चा अपने पति से करती है, लेकिन आश्चर्य है कि वह अपने 'अनमेल विवाह' का विरोध क्यों नहीं करती? वह विवाह से पूर्व ही अपनी अभिलाषा क्यों नहीं प्रगट करती? असन्तोष को मृणाल कभी नहीं व्यक्त करती। सहनशील होना अच्छी बात है, परन्तु अन्याय का विरोध करना उससे भी उत्तम है।

प्रश्न होता है कि क्या पति-तिरस्कृता मृणाल के समक्ष केवल एक यही रास्ता था कि वह अपने शरीर को कोयलेवाले के हाथ सौंप देती? एक पढ़ी-लिखी लड़की से क्या हम यही आशा कर सकते हैं? मृणाल के पास कुछ खाने-पहनने को भी था, वह स्वयं कमा भी सकती थी (जैसा बाद में ट्यूशन कर उसने कमाया भी)! फिर इस प्रकार अपना 'तन' ऐसे व्यक्ति को सौंपने की क्या आवश्यकता थी, जिसपर नारी के रूप का मोह नशा बनकर छाया हुआ था? वह अपने पाँव पर क्यों नहीं खड़ी हुई? क्यों नहीं उसने शीला के भाई (अपने पूर्वप्रेमी) की ओर अपना हाथ बढ़ाया, जिसने आजन्म उसके वियोग में अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी! कोयलेवाले के समक्ष मृणाल का आत्म-समर्पण—नयी नैतिकता और नयी वास्तविकता के नाम पर भी

---

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ १९, २. वही—पृष्ठ ६४।

समाज (या व्यक्ति) के लिये कल्याणप्रद और स्वस्थ नहीं माना जा सकता। इस आदमी से उसे क्या सुख मिल सकता है, इसे मृणाल जानती है। लेकिन फिर भी वह उस दिन की धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करती है कि जब वह स्वयं उसे छोड़कर चला जाय। ऐसे निष्करुण व्यक्ति के प्रति भी 'करुणा' प्रदर्शित करना, 'भवितव्य' के आवरण में ही मानवीय माना जा सकता है। मृणाल के दुःख बढ़ते जाते हैं और वह ठोकरें खाती हुई ऐसे गन्दे स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ मनुष्य रह नहीं सकता। वहीं मृणाल का देहावसान हो जाता है।

दुःख के प्रति सहानुभूति स्वाभाविक ही है। अतएव मृणाल के प्रति भी पाठक की सहानुभूति होती है। परन्तु हम यह कहीं जान भी नहीं पाते कि वास्तव में उसकी कामना क्या है? किस प्रकार उसका दुःख दूर हो सकेगा? अतएव हमारी सहानुभूति अनिश्चित एवं अनिर्दिष्ट-सी बनी रहती है, उसका कोई सुदृढ़ आधार नहीं बन पाता। स्वभावतः प्रश्न होता है करुणा किसके लिये और क्यों?

एक स्थान पर मृणाल अपनी जैसी आश्रयहीन नारियों का एक संगठन तैयार करती हुई दिखाई गई है। वह प्रमोद के आग्रह पर भी उसके साथ घर लौटना नहीं चाहती। वह उससे रुपया माँगती है। उसके अनुसार—'···फिर रुपया छोड़ने में तेरा अपना भी भला है। खूब कमा और कमा कर सब इस गड्ढे में ला पटका कर।···रुपये के जोर से यह नरक-कुण्ड स्वर्ग बन सकता है, ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी रुपया कुछ न कुछ काम आ सकता है।'[1]

लेकिन प्रमोद बुआ के इस कथन से सहमत नहीं है। वह इतना रुपया नहीं देता। केवल बुआ के स्वास्थ्य को दृष्टिगत रखकर, एक परिचित वकील को कुछ रुपये चिकित्सा के लिये दे जाता है।

उपन्यास के प्रारम्भ से ही हम मृणाल के चरित्र में एक अस्पष्टता पाते हैं। उसका मन भी अस्थिर है। प्रमोद को वह कभी बेटा कहती, कभी भैया कहती, कभी कुछ भी नहीं कहती सिर्फ 'गदहा' कहती।[2] वह प्रमोद की माँ अर्थात् अपनी भाभी को सदैव—'तेरी माँ'[3] कह कर सम्बोधित करती है। यह संकेत उसके मानसिक तनाव की ओर है।

'जहाँ पैर नहीं टिकता, तैरा वहीं जाता है।' मृणाल के इस कथन में यदि तनिक भी सच्चाई है तो फिर प्रमोद के उस कथन से कैसे इन्कार किया जा सकता है—'मैंने रस्सी फेंकी। उन्होंने उसे नहीं पकड़ा और हँस दिया।'[4]

अथाह सागर में एक बार जाकर फिर मृणाल लौटना नहीं चाहती। यह किसकी भूल है? किसका अन्याय है? समाज गलत नहीं है, मृणाल गलत है। समाज नहीं टूटता, मृणाल टूटती है। समाज की जिन्दगी वैसे ही आगे बढ़ती जाती है। उसके क्रम में तनिक अन्तर नहीं आता। फिर भी इस समाजविरोधी, अस्वस्थ एवं

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ ७८-७९, २. वही—पृष्ठ ८, ३. वही—पृष्ठ ८, ४. वही—पृष्ठ ७३।

अनैतिक पक्ष की पुष्टि के लिये लेखक ने अपने 'तत्वज्ञान' का सहारा लिया है। लोक-दृष्टि और लेखक की स्थापना के बीच विरोध की इतनी बड़ी खाई है कि सारा उपन्यास ही नहीं, स्वयं मृणाल भी आदि से अन्त तक जिज्ञासु पाठकों के लिये एक 'अनबूझ पहेली' बनकर रह जाती है।

इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं जैनेन्द्रजी ने एक पत्र में लिखा है—"···आप चाहते हैं मृणाल जो हुई वह न होती। मैं जनक माना जाऊँ तो भी मृणाल के साथ मैं जबर्दस्ती नहीं कर सकता।···"

मैं नहीं समझ पाया कि जैनेन्द्रजी 'जबर्दस्ती' की क्या सीमाएँ मानते हैं?

अन्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

'त्याग-पत्र' में कुछ गिने-चुने पात्र हैं। 'मृणाल' यदि कथानक की आत्मा है तो 'प्रमोद' प्राण-संस्थापक शरीर। लेखक ने इन दो पात्रों के चरित्र की एक एक पर्त सूक्ष्म ढंग से खोलकर हमारे समक्ष रख दी है। 'मृणाल' के मनोभाव एवं उसके चरित्र की प्रमोद के मन पर कैसी प्रतिक्रिया (Reaction) होती है, इसे सफलता-पूर्वक लेखक ने शब्दांकित किया है। इनके अतिरिक्त प्रमोद के माता-पिता, शीला के भाई एवं कोयलेवाले आदि के भी सांकेतिक, प्रतीकवत् चित्र मिलते हैं। प्रायः ये सभी पात्र वर्गीय विशेषताओं (Typical qualities) से युक्त हैं, वैयक्तिक स्पंदन अत्यंत सूक्ष्म रूप से चित्रित किये गये हैं।

'मृणाल' के बाद अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के कारण, 'प्रमोद' सबसे अधिक हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। उसमें मृणाल की अपेक्षा अधिक मानवीयता एवं स्वाभाविकता है। उसके जो अन्दर रहा, वही बाहर था। वह जानता है कि उसकी माँ कुशल रमणी थी, लेकिन कोमल नहीं।[1] वह माँ से अधिक अपनी 'बुआ' को प्यार करता है। उनके 'अंक' में, उनके 'छाती के घोंसले'[2] में सर दुबकाकर—वह यदा-कदा अपना प्यार भी प्रकट करता है। माँ जब बुआ को बेंत से पीटती हैं, तो प्रमोद भी बुआ के लिये रोना चाहता है। जब उसकी 'घूँघटवाली बुआ' पति-गृह को जाने लगती हैं, तो प्रमोद शर्म छोड़कर साहसपूर्वक कहता है—'मैं बिना बुआ के अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा!' माँ से कहता है—'तू राक्षस है और मैं इस घर में पैर नहीं रक्खूँगा!'[3] लेकिन बुआ की सूजी आँखों और मीठे आग्रह के समक्ष, प्रमोद का हठ गल जाता है।

शीला के भाई के पास प्रमोद ही मृणाल का पत्र लेकर जाता है। वहाँ 'शीला' उसे भी अच्छी लगती है। वह सोचता है कि कोई बहाना लगे तो मैं यहाँ रोज आया करूँ। मृणाल केवल प्रमोद से प्यार ही नहीं करती थी, वरन् उस पर उसका अटूट विश्वास भी था। वह उससे अपने दिल की बात कहती है—'तेरी माँ ने मुझे धक्का देकर पराया बना दिया है। पर मुझे जहाँ भेज दिया है, प्रमोद, मेरा मन वहाँ का

---

१. 'त्यागपत्र'—पृष्ठ ६, २. वही—पृष्ठ ११, ३. वही—पृष्ठ १३।

नहीं है !'[१]....'तू कुछ नहीं जानता। तू गधा है। मेरे दिल में आग लग रही है।'[२] वह प्रमोद के साथ ही कभी रहने का प्रस्ताव करती है, कभी उसे बेंतों से पीटना चाहती है। उससे ही यह 'रहस्य' प्रकट करती है कि 'वहाँ' (पति-गृह) भी बेंतों की मार सहनी पड़ती है। फिर भी 'पति का घर स्वर्ग होता है। स्वर्ग बड़े आराम की जगह होती है। वहाँ देवता रहते हैं।'[३] इस प्रकार वह प्रमोद के आगे अपना दिल खोलकर बिछा देती है।

और प्रमोद ? उसके भी दिल में एक आग जल रही है। वह इकन्नी की जगह दुअन्नी देकर भी जानना चाहता है कि फूफा की बड़ी-बड़ी नोकीली मूँछों को खींचना कैसा लगेगा ? फूफा के समक्ष वह अपना असन्तोष प्रकट करना चाहता है, उनके मानापमान का उसे तनिक ख्याल नहीं है !

फूफा पूछते हैं—'किस दर्जे मे पढ़ते हैं ?'

'इस छःमाही इम्तहान में फेल हो गया हूँ !' प्रमोद उत्तर देता है। यही नहीं—'मैं फेल होने से नहीं डरता।' फिर—'मैं आठवें दर्जे में पढ़ता हूँ और इस इम्तहान में अव्वल आया हूँ !'[४]

इस प्रकार प्रमोद को सन्तोष होता है कि ऐसा कहकर पिताजी का बदला ले सका हूँ। जिस समय उसके फूफा 'मृणाल' को बिदा कराके ले जा रहे हैं, उस समय प्रमोद के मानसिक घात-प्रतिघात का व्यंजक चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है।—'मैंने प्रण किया था कि मैं नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा। मुझे बेहद गुस्सा मालूम होता था कि मैं क्यों कुछ उत्पात नहीं किये डाल रहा हूँ।...कोई मुझसे झगड़ता क्यों नहीं है।...किसी से टक्कर लेने को जी होता है। मैं अकेला सब कुछ से निबट लूँगा।'[५]

उस बिदा के समय में एक अहेतुक त्रास प्रमोद को दाबे हुए था। वह झल्लाया हुआ था। उसे आशा थी कि कोई करिश्मा होगा, भूचाल आयेगा, कुछ न कुछ होगा, और आखिर में सब ठीक हो जायेगा।

यही प्रमोद एक बड़ा वकील और जज बनता है। लेकिन वह सोचता है कि—'कामयाब वकालत और इस जजी के इतने मोटे शरीर में क्या राई जितनी भी आत्मा है ? समाज की जिस मान्यता पर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ वह स्वयं किसके बलिदान पर खड़ी है। समाज के ऊपर चढ़ बैठकर मैं उसे दबा सकता हूँ, बदल नहीं सकता। मेरी जजी मुझे शाप दीखती है और जान पड़ता है वही प्रवंचना है।...दर्द मानव की मानस मणि है।...भीतर का दर्द मेरा इष्ट हो। धन न चाहूँ, मन चाहूँ। धन मैल है, मन का दर्द पीयूष है।'[६]

लेकिन प्रमोद का एक दूसरा पक्ष भी है। यह उसके जन्मजात संस्कारों का प्रभाव ही लक्षित होता है। वह गन्दी कोठरी में रहनेवाली बुआ का पूरा 'लेक्चर'

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ १५, २, वही—पृष्ठ १८, ३. वही—पृष्ठ २७, ४. वही—पृष्ठ ३२-३३, ५. वही—पृष्ठ ३४-३५, ६. वही—पृष्ठ ३७-३८,।

सुनकर सोचता है—'पति-गृह को छोड़कर यहाँ गन्दे व्यभिचार में रहनेवाली नारी पति-धर्म की बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा हुआ मुझ जैसा समझदार युवक उस नारी को लांछित नहीं करता बल्कि उसके प्रति और खिंचकर रह जाता है। ओः असह्य है!'[1]

प्रमोद अनुभव करता है—'कहीं कुछ गड़बड़ है। सृष्टि गलत है। समाज गलत है। जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटाँग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ होना होगा, जरूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ? वह क्या है जो भवितव्य है और जो कर्त्तव्य है?'[2]

प्रमोद की सबसे बड़ी दुर्बलता, उसका समाज से पलायन है। वह मृणाल के झोली फैलाने पर भी उसे द्रव्य नहीं देता। लेकिन फिर भी मृणाल से प्यार करता है? उसकी सहानुभूति में समाज से सन्यास ग्रहण करता है। कदाचित् वह अपने किये का प्रायश्चित्त करता है—'तोल-तोल कर चला और तराजू अपने हाथ में रक्खी। इसीलिये आज जो असली तराजू है उसमें हलका तुल रहा हूँ।...समय पर प्रेम के प्रतिदान से चूक गया। यह सब मैल है जो मैंने बटोरा है। मैल है, कि मेरी आत्मा की ज्योति को ढँक रहा है।'[3]

प्रमोद के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष उस समय प्रस्फुटित होता है, जब वह अपने होनेवाले सास-ससुर को स्पष्टतः यह बता देता है कि मृणाल उसकी बुआ है। सम्बन्ध टूट जाता है।

प्रमोद ने चाहे कुछ भी न किया हो, उसने मृणाल को जी भर प्यार किया है, प्यार दिया है। प्रमोद ने अपनी सहानुभूति के साथ ही, पाठक की भी सहानुभूति, सहज ही 'मृणाल' के प्रति आकृष्ट की है। उसके शब्दों में—'वह बुआ जिन्होंने बिना लेये दिया। जिन्होंने कुछ किया, मुझे प्रेम ही किया। जिनकी याद मेरे भीतर अब अंगार-सी जलती है। जिनका जीवन कुछ हो, ऊपर उठती लौ की भाँति जलता रहा। धुआँ उठा तो उठा, पर लौ प्रकाशित रही।...उन्हीं बुआ को एक तरफ डालकर मैं किस भाँति अपनी प्रतारणा करता रहा?'"[4]

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रमोद की अभिलाषा, उसकी सहानुभूति, आदर्श-वादिता और जजी भी मृणाल की विद्रोही ज्वाला और ज्योति के समक्ष निष्प्रभ और अर्थहीन है। मृणाल को यदि कर्मण्यता और अनुष्ठान का प्रतीक माना जाय तो प्रमोद केवल सदभिलाषा का उदाहरण है। एक में समर्पण और बलिदान की पुकार है, दूसरे में केवल शाब्दिक सहानुभूति और झूठे आत्म-सम्मान तथा गौरव का संभार है।

कथोपकथन

श्रीमती एलिजाबेथ बोवेन ने अपने सुप्रसिद्ध निबंध 'उपन्यास की रचना' में, 'संवादों' का महत्त्व दिखाया है। उनके अनुसार सम्वाद में अस्पष्टता का होना उसका गुण

---

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ ५८, २. वही—पृष्ठ ६३, ३. वही—पृष्ठ ८०, ४. वही—पृष्ठ ८०।

है। वक्ता स्वयं निश्चित न हो कि मैं क्या चाहता हूँ ? वक्ता जितना कहना चाहता हो—उतना कह न पाये। जैसे इंजन में जब इतनी स्टीम भर जाती है कि वह पूरी निकल नहीं पाती तो वह गतिमान हो जाता है। बातें असंगत हों—उसमें व्यंजना हो, अनिश्चितता हो, उससे पता न चले कि आगे इसका अभिप्राय क्या है, उसमें प्रतिध्वनि की शक्ति हो ![1]

'त्याग-पत्र' के सम्वादों में ठीक यही विशेषता परिलक्षित होती है। जैसे—

"प्रमोद, एक रोज नहर के पुल चलना चाहिये। चलोगे ?' 'बताओ तुम्हें कौन-सी मिठाई अच्छी लगती है ? घेवर ! घेवर भी कोई मिठाई है ! छिः 'देखो तुम पतंग नहीं लाये न !' "प्रमोद, मैं शीला के घर रह गई थी। तेरी माँ को कुछ ख्याल तो नहीं हुआ होगा !"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी एक व्यवस्थित श्रृङ्खला या सिलसिला नहीं है। एक और उदाहरण देखिये—

बुआ ने पूछा—'बंदूक तुझे अच्छी लगती है ?'

मैंने कहा—'बंदूक से कौओं को मारा करूँगा। कौए मुझे बड़े बुरे लगते हैं।'

बुआ बोली—'बंदूक से आदमी भी मर जाते हैं, भइया। इसीसे खिलौना लाई हूँ।—मरना क्या होता है, क्यों रे, तू जानता है ?'

'जानता हूँ !'

'भला क्या होता है ?'

'मर कर आदमी—मर जाता है !'[3]

बात कहीं चल रही है, कथोपकथन कहीं और से प्रारम्भ हो जाते हैं। अन्त में बात कहीं और पहुँच जाती है। जैनेन्द्र के कथोपकथन बड़े कौशल से लिखे हुए होते हैं। 'मरना क्या होता है ?'—के उत्तर में 'मर कर आदमी—मर जाता है', सुनकर पाठक लेखक और पात्र की सरलता एवं भोलेपन पर सहज ही पसीज जाता है। यह नया 'टेकनीक' है। कुछ आलोचक इसीलिये जैनेन्द्र को हिन्दी में 'शरत्' का अवतार मानते हैं।

संवाद द्वारा लेखक ने कहीं-कहीं अत्यंत कौशल से मानसिक उतार-चढ़ाव दिखाया है। जिस समय मृणाल घर से विदा हो रही है, उस समय उसे रोते हैं, स्वभावतः उसके भाई (प्रमोद के पिता) के नेत्रों में भी जल भर आता है। लेकिन अपने मनोभाव छिपाकर, उसे सांत्वना देते हुए कहते हैं—'क्या है ? क्या है ?' "कुछ नहीं, कुछ नहीं ?' 'रोओ मत, रोओ मत', 'ठिट् ठिट् रोते हैं !'[4]

इसप्रकार के छोटे-छोटे संवाद चरित्र के बारीक से बारीक रेशे खोलकर हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। चरित्र के सूक्ष्म पक्ष पर प्रकाश डालने में यह संवाद अत्यंत

---

१. 'उपन्यास की रचना—अनु० श्री कृ० प्र० गौड़—पृष्ठ ९, २. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ १०, ३. वही—पृष्ठ १६, ४. वही—पृष्ठ ३४।

सहायक सिद्ध होते हैं। लेखक बड़े कौशल से पाठक की आयाम सहानुभूति आकर्षित करने के लिये इन संवादों द्वारा, पाठक के दिल-दिमाग पर हल्की चोटें जड़ता चलता है, जैसे रबड़ की हथौड़ी से कुछ ठोंका-पीटा जाय! इनमें (suggestiveness) भी मिलती है।

कथोपकथन की भाषा में वैयक्तिक प्रयोगों का अभाव है। सभी पात्रों की भाषा और वाक्य-रचना एक समान ही है।

इस छोटे से उपन्यास के 'सम्वाद' अत्यंत कलात्मक ढंग से कथानक के बीच में नियोजित हैं। उनका अपना एक अलग माधुर्य तथा आकर्षण है।

भाषा-शैली

जैनेन्द्र ने हिन्दी-गद्य को एक नया रूप दिया है। इनके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। प्रेमचन्द की भाषा में सरलता उर्दू के शब्दों की सादगी के कारण है। जैनेन्द्र की भाषा में सरलता हिन्दी के देशज शब्दों की सादगी के कारण है। यह सादगी सुनियोजित है। सावधानी से असावधानी का प्रदर्शन किया गया है। यह सादगी स्वाभाविक न होकर चेष्टित है। जैनेन्द्र एक सचेत कलाकार (consious artist) हैं। प्रेमचन्द की सादगी और भाषा की सरलता—वेगपूर्ण और स्वाभाविक है। परन्तु जैनेन्द्र कुमार ने, लगता है कि, वक्रतापूर्वक बात कहने के शिल्प का अभ्यास किया है। इनकी शैली—'चिन्तनशील' है। सोचने के ढंग को जैसा का तैसा अविकल रूप में प्रस्तुत करना, जैनेन्द्र की अपनी विशेषता है। यह चिन्तनशीलता प्रेमचन्द में हमें नहीं मिलेगी। जैनेन्द्रकुमार ने संयुक्त वाक्य बहुत कम लिखे हैं।

जैनेन्द्र स्वयं कहते हैं—'भाषा है माध्यम, मन उलझा है तो भाषा सुलझी कैसे बनेगी? बनाने से भाषा के बिगड़ने का अन्देशा है।...यह विश्वास रखा जाय कि मैं सुगम होना चाहता हूँ, क्योंकि पाठक से घनिष्ठ और अभिन्न होना चाहता हूँ।'[१]

'त्याग-पत्र' में जैनेन्द्र ने कुछ एकदम नये और ताजे प्रयोग किये हैं। जैसे—'बुआ हँस आई।'[२] ऐसे प्रयोगों से भाषा में मधुरता और संगीत की हल्की गूँज भर गई है। इसी प्रकार उपन्यास का प्रारम्भ भी अत्यंत आकर्षक एवं सजीव है। शैली में आत्मीयता का भाव है। चिन्तन-शील शैली का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

कुछ प्रांतीय प्रयोग भी हैं, जैसे—'मैं कौन हूँ?' 'मौत के दसियों वर्ष पहले जानता था!' 'मेरी हठ' आदि। 'आइडियल', 'क्लास', 'ट्यूशन' आदि अंग्रेजी के शब्द, 'इम्तहान', 'अव्वल', 'जमात' आदि उर्दू-फारसी के शब्द तथा 'कपार', 'गिरस्ती', 'करम' आदि देशज शब्दों का भी यथास्थान सुन्दर प्रयोग मिलता है।

डा० देवराज भी मानते हैं कि जैनेन्द्रकुमार का उपन्यास पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम किसी ऊँचे धरातल पर चढ़ रहे हैं। इनकी एक और विशेषता है। बीच-बीच में दार्शनिक उक्तियाँ सरल ढंग से गैरकिताबी रूप में कह जाते हैं,

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—जैनेन्द्रकुमार। २. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ १६।

जो पाठक के हृदय में बस जाती हैं। 'त्याग-पत्र' में ऐसी अनेक अर्थपूर्ण उक्तियाँ मिलती हैं। जैसे—

'जीना एक बार शुरू करके, मौत आकर छुट्टी न दे दे तब तक, जीना ही होता है।' 'ओ जगत्पिता! तेरी लीला के नीचे यह सब आर्तनाद क्या है? लीला तेरी है, जीते मरते हम हैं!'[1]

'जिन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिये थमता है? मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिनको जीना है वे तो मुर्दों को लेकर वक्त से पहले मर नहीं सकते! गिरते के साथ कोई गिरता है? यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उसे उठाने की सोचने में तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो!'...[2]

जैनेन्द्र की भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता, जो इस उपन्यास में लक्षित होती है, उनके उस 'शिल्प' में है जहाँ वे 'प्रतीक-पद्धति' से अपने तथा पात्रों के भाव प्रकट करते हैं। प्रारम्भ में मृणाल का पतंगों और चिड़ियों से प्रेम, उसके मानस की उठती-गिरती चंचल भावनाओं का एक चित्र हमारे सामने खड़ा कर देता है। मृणाल स्कूल में 'बेंत' से पिटती है, फिर प्रमोद की माँ उसे बेंत से मारती है एवं पति के हाथों भी वह बेंतों की मार सहती है। 'बेंत' यहाँ सामाजिक अत्याचारों का प्रतीक बनकर आई है।

प्रमोद अपने फूफा का और कुछ न देखकर, केवल 'नोकीली-मूँछें' ही देखता है। क्यों? वस्तुतः जैनेन्द्र संकेत द्वारा रूखेपन, शुष्कता और कठोरता का संकेत करना चाहते हैं। मृणाल किसी के भी साथ भाग सकती थी, फलवाले, दूध बेचनेवाले या कपड़ा सीनेवाले के साथ? लेकिन 'कोयलेवाले' के साथ ही भागना—सोद्देश्य चित्रित है। 'कोयला'—गंदगी का प्रतीक है, चारित्रिक कालिमा प्रकट करता है। मृणाल के बाहर 'कोयला' है, अन्दर नहीं। उसका मन उज्ज्वल है। लेकिन काजल की कोठरी में जाकर विरला ही बिना कालिख के बाहर निकलता है। फिर मृणाल ही इसका क्यों अपवाद बनती?

जहाँ तक भाषा शैली का प्रश्न है, जैनेन्द्र का समूचा व्यक्तित्व ही 'त्याग-पत्र' में मुखर हो उठा है। जैनेन्द्र की भाषा का पूरा कौशल, माधुर्य और लोच—'त्याग-पत्र' में देखते ही बनता है।

'त्याग-पत्र' का प्रभाव

मनोविश्लेषकों के मतानुसार जैनेन्द्र की सामाजिक आधार-रहित साहित्य-सृष्टि की पृष्ठभूमि में, स्वयं लेखक की पलायन वृत्ति, दुःखवादी (Sadistic) भावना और अतृप्त वासना वर्तमान है। इस प्रवृत्ति को लेखक ने कुशलतापूर्वक दार्शनिक आवरण दे दिया है। अतएव उनके सभी प्रमुख पात्र एवं मृणाल भी दार्शनिक चोले में प्रकट हुए हैं। इसी प्रकार नैतिक आदर्शों को जैनेन्द्र जी के साहित्य में कोई स्थिर मान्यता

१. त्याग-पत्र—पृष्ठ ३६, २. वही—पृष्ठ ४१।

प्राप्त नहीं है। रूढ़िबद्ध सामाजिक नैतिकता का विरोध बुरा नहीं है। परन्तु उस मनोविज्ञान से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है जो समस्त सामाजिक व्यवहारों पर एक प्रश्न-चिह्न लगाकर रह जाता है और बदले में कोई नया निर्देश या रचनात्मक सुझाव नहीं देता?

वाजपेयीजी के अनुसार मृणाल के विवाह-पूर्व आचरण को रहस्यात्मक रीति से छिपाकर उसके प्रति हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति प्राप्त कर ली है। शीला के भाई के प्रति मृणाल के व्यवहार को एक रहस्यात्मक आवरण में ही लेखक ने रहने दिया है। पति-तिरस्कृता मृणाल का नैतिक पतन दिखाया है। प्रश्न होता है बिना मृणाल के चरित्र को नया उत्कर्ष दिये, हमारी सहानुभूति कहाँ तक स्थिर रह सकती है? उपन्यास के आरम्भ में ही मृणाल के आचरण के सम्बन्ध में नैतिक प्रश्न उठाया गया है, यह कि वह दोषिनी है कि नहीं। लोक-दृष्टि और लेखक की स्थापना के बीच विरोध की इतनी बड़ी खाई है कि पाठक के लिये आदि से अन्त तक उपन्यास एक असाधारण जिज्ञासा का विषय बना रहता है। परन्तु इस नैतिक प्रश्न के साथ आर्थिक और वर्गगत समस्या का भी लेखक ने सफलतापूर्वक अंकन किया है। मृणाल प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न घराने की लड़की है। असहायावस्था में जब वह गरीबों एवं समाज के 'उच्छिष्टों' के बीच रहने लगती है, वहाँ—जहाँ नगर की सड़ाँद रहती है; जैनेन्द्र ने उस जीवन का अत्यन्त यथार्थ एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

मृणाल के शब्दों में—"…जिन लोगों के बीच बसी हूँ वे समाज की जूठन हैं। जूठन हैं और कौन जानता है कि वे जूठन होने योग्य भी नहीं हैं। लेकिन आखिर तो इन्सान हैं। …मैं किसी भी और बात पर जिन्दा रहना नहीं चाहती; उनकी बुझती और जगती इन्सानियत के भरोसे ही रहना चाहती हूँ। दर दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि दुर्जन लोगों की सद्भावना के सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती। …मुझको ऐसा अनुभव हो रहा है कि इन लोगों में जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, कई तह पारकर वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध-सी श्वेत सद्भावना का सोता ही फूट निकलता है। …इसीसे मैं अभी यहाँ से टूटकर उखड़ना नहीं चाहती।'[1]

'यहाँ का लाभ?—तुम पूछोगे। लाभ बहुत है। यहाँ किसी को यह कहने का लोभ नहीं है कि मैं सच्चरित्र हूँ। यहाँ सच्चरित्रता के अर्थ में मानव का मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही मानो कीमती है।……जो बाहर हो, वही भीतर। ऊईवाला सदाचार यहाँ खुलकर उघड़ रहता है। यहाँ खरा कञ्चन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचन की माँग नहीं है, पीतल से घबराहट नहीं है। इससे भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखनेवाला लोभ यहाँ छन भर नहीं टिकता है! बल्कि यहाँ पीतल का मूल्य है। इसीसे सोने के धैर्य की यहाँ परीक्षा है।……यहाँ कोमलता और उच्चता नहीं है। यहाँ गन्दगी और जड़ता है।'[2]

प्रसादजी के अनुसार लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात ही यथार्थ है। अतएव 'त्याग-पत्र' के इस अन्तिम अंश में यथार्थ सजीव हो उठा है।

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ ७४-७५, २. वही—पृष्ठ ७५-७६।

जैनेन्द्रकुमार के अनुसार—'पुस्तक के पात्र बिना शरीर होते हैं, हमारी भावनायें ही हैं उनका शरीर।'[१]

लेकिन जैनेन्द्र गांधीवादी लेखक माने जाते हैं। कुछ विद्वान् आलोचक मृणाल की पराजय में गांधीवादी दर्शन की छाप देखते हैं। गांधीवाद के अनुसार समाज अपने को सदैव व्यक्ति के माध्यम से प्रकट करता है। समाज से विद्रोह करना, परन्तु सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत। दूसरे को प्रभावित करने के लिये आत्मबलिदान या आत्मोत्सर्ग करना, गांधीवादी दर्शन की भाँति, जैनेन्द्र को भी इष्ट है। आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने दूसरे पक्ष की ओर भी महत्त्वपूर्ण संकेत किया है। उनके अनुसार—"गांधीजी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में जितने बड़े आदर्शवादी और अध्यात्मवादी थे, अपने सामाजिक मंतव्यों में उतने ही कठोर, साधनाप्रिय और नीतिवादी रहे हैं। उनकी सामाजिक नीतियों और आचरणों पर भावुकता की छाया नहीं थी। हल्की भावुकता से वह कोसों दूर थे। जैनेन्द्र की रचनाओं में जिन नारियों के दर्शन हमें होते हैं, वे गांधीजी की नारी-कल्पना से नितान्त भिन्न हैं। रचना के क्षेत्र में जैनेन्द्र न तो गांधीवादी हैं और न आदर्शवादी हैं।"[२]

वाजपेयी जी ने 'त्याग-पत्र' के सम्बन्ध में दो प्रधान शंकाएँ उठाई हैं—"प्रश्न यह है कि मृणाल के चरित्र में वास्तविक गरिमा लेखक कहाँ तक ला सका है? दूसरा प्रश्न है कि मृणाल को बिना वास्तविक चारित्रिक गरिमा दिए उसके प्रति हमारी संवेदन आकृष्ट करना कहाँ तक स्वस्थ साहित्यिक उद्देश्य कहा जा सकता है?"[३]

निःसन्देह उपर्युक्त प्रश्न महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं। परन्तु इन प्रश्नों का सही उत्तर जैनेन्द्र ने 'परख' की भूमिका (लेखक के कुछ शब्द) में कई वर्षों पूर्व ही दे दिया था—"सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूं, उसी स्थल पर, समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम ही, और पशु से ऊपर ही। इस तरह किसे अपनी सहानुभूति देने से इन्कार कर दिया जाय?......पाठकों से एक विनय है। मुझे भी वह अपनी सहानुभूति देते रुकें नहीं। सफल हूँ तो, असफल हूँ तो। उनकी सहानुभूति मुझे चाहिए ही; क्योंकि मैं जानता हूँ, मैं क्या हूं।"[४]

लेखक ही नहीं, मृणाल भी हमारी सहानुभूति की अधिकारिणी है। वह अपने प्रा॰ ईमानदार है। वह प्रमोद से ही नहीं, अपने सभी कटु आलोचकों से भी, विनयपूर्वक निवेदन कर, अपनी 'लघुता' को सहर्ष स्वीकार कर लेती है—"...बता, आज मैं तेरी क्या हूँ! कभी यह सत्य था कि मैं तेरी बुआ थी, पर उस बात को मैंने अपने हाथों से

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—जैनेन्द्रकुमार। २. 'आधुनिक साहित्य' पं॰ नन्ददुलारे वाजपेयी—पृष्ठ १६३, ३. वही—पं॰ नन्ददुलारे वाजपेयी—पृष्ठ १५९, ४. 'लेखक के कुछ शब्द' (परख)—जैनेन्द्र—पृष्ठ ५।

तोड़-ताडकर धूल में पटक दिया है। धूल में से उठाकर उसी के निर्जीव छूछे पिंजर को तू हठपूर्वक सामने लाकर सत्य कहना चाहता है। यही झूठ है।"[१]

लेकिन यह 'झूठ' ही सबसे बड़ा सत्य है। यह सत्य का ऐसा प्रकाश-पुञ्ज है जिस पर आँखें देर तक नहीं टिकतीं। इस आँच में केवल प्रकाश ही नहीं 'अग्नि' भी है। इस सत्य-दीपक की 'लौ' में, अज्ञान और स्वार्थ के पतंगे जल जाते हैं। प्रमोद ही नहीं, अपने को सामाजिक सदाचार के ठेकेदार समझनेवाले एवं कला के उन्मुक्त क्षेत्र में भी स्थूल नैतिकता का आग्रह करनेवाले पाठक भी यह सोचने और समझने को स्वतंत्र हैं—"चला जाऊँ उसी अपनी दुनिया में जहाँ वस्तुओं का मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना बनाया है और खुद को खोजने की जरूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञा का द्योतक है।"[२]

यह मानना ही पड़ता है कि 'त्याग-पत्र' के लेखक की कलम में कुछ ऐसा जादू है, जो पतग, घेवर, बन्दूक, और नोकीली मूछों के बीच भी हृदय को छू जाता है। एक 'शॉक' (धक्का) सा लगता है और हम स्तब्ध रह जाते हैं। दिल और दिमाग दोनों में हलचल मच जाती है। लगता है, कुछ ऐसा है जो धीरे-धीरे टूट रहा है। हमारी मान्यताओं की ऊँची दीवार में कहीं एक दरार पड़ गई है। उसकी ईंटें धीरे-धीरे नीचे की ओर सरक रही हैं। मन में एक गाँठ सी पड़ जाती है। हम कुछ सोचने और समझने को विवश हो उठते हैं। लगता है, कहीं कुछ गड़बड़ है। लेकिन क्या? लेखक यह नहीं बताता, इसे पाठकों के मनन-चिंतन के लिये छोड़कर वह 'संन्यास' ग्रहण कर लेता है। संभव है इसी अधूरेपन के कारण कुछ लोगों के अनुसार 'त्याग-पत्र' उतनी सफल रचना न बन पड़ी हो, फिर भला यह हिन्दी का युगान्तरकारी उपन्यास कैसे माना जा सकता है? लेकिन कुछ विद्वान् समीक्षक 'अधूरेपन' में ही 'कला' की उच्चता एवं पूर्णता समझते हैं। यह 'अधूरा' है, इससे पूर्व और इससे आगे—यहाँ से वहाँ तक हिन्दी के विस्तृत उपन्यास के ऊर्वर धरातल पर, कोई भी ऐसा 'अधूरा' उपन्यास नहीं मिलता। यही इसकी सीमाएँ हैं और सफलता का एक बड़ा रहस्य भी। इसीलिये मैंने इसे हिन्दी का एक युगान्तरकारी उपन्यास मानने का साहस किया है।

एक बात और। शरत् के 'श्रीकान्त' की यह पंक्तियाँ, 'त्याग-पत्र' और 'मृणाल' को समझने के लिये, मैं समझता हूँ—पर्याप्त 'प्रकाश' देंगी—"याद रखना कि जिन लोगों के भीतर आग जल रही है और जिनमें केवल राख ही इकट्ठी होकर रह गई है उनके कर्मों का वजन एक ही बाट से नहीं किया जा सकता?"

---

१. 'त्याग-पत्र'—पृष्ठ ७०, २. वही—पृष्ठ ५८।

चित्रलेखा

अनातोले फ्रांस की 'थाया' की भाँति 'चित्रलेखा' भी एक युगान्तरकारी उपन्यास है।

श्री भगवतीचरण वर्मा के शब्दों में—'मेरी चित्रलेखा में और अनातोले फ्रांस की थाया में उतना ही अन्तर है जितना मुझमें और अनातोले फ्रांस में। चित्रलेखा में एक समस्या है, मानव-जीवन को तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के देखने का मेरा अपना दृष्टिकोण है और मेरी आत्मा का अपना संगीत भी है।'[1]

१६३३ में 'चित्रलेखा' प्रकाशित हुई। वह प्रेमचन्द-युग था। उस समय तक प्रेमचंद का 'गोदान' प्रकाशित नहीं हुआ था। उस युगधारा में 'चित्रलेखा' एक नया द्वीप बन गई। इससे पूर्व ही जैनेन्द्रकुमार भी 'परख' द्वारा अपने आगमन की सूचना दे चुके थे। वर्तमान जीवन की कुरूपताओं से ऊबे हुए उपन्यास-पाठकों को 'चित्रलेखा' गुलाब-जल की भाँति मनमोहक एवं शीतल लगी। मानवतावादी वर्माजी ने कला के माध्यम से एक विप्लवकारी नवीन विचारधारा का प्रचार किया। १६३३ ई० में वर्माजी ऐसे प्रगतिशील लेखक ही यह लिख सकते थे—'ईश्वर मनुष्य का जन्मदाता है और मनुष्य समाज का जन्मदाता है। धर्म ईश्वर का सांसारिक रूप है।···सत्य एक है, धर्म उसी सत्य का दूसरा नाम है। यदि नीतिशास्त्र धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है तो वह नीतिशास्त्र नहीं वरन् अनीति-शास्त्र है। उचित और अनुचित, न्याय-अन्याय इन सबकी कसौटी धर्म है···।'[2] 'अपनी आवश्यकता को पूरी करने के लिए ही समाज ने उस ईश्वर को जन्म दिया है।···अन्तरात्मा ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है, वरन् समाज द्वारा निर्मित है।···मनुष्य की अन्तरात्मा केवल उसी बात को अनुचित समझती है जिसको समाज अनुचित समझता है।'[3]

वर्माजी की प्रतिभा कविवर प्रसादजी की भाँति ही सर्वतोमुखी है। वे कवि, नाटककार, कहानी एवं उपन्यास लेखक हैं। परन्तु वर्माजी मानते हैं कि वे कवि बाद में हैं, कहानीकार और उपन्यासकार पहले हैं। हिन्दी में वर्माजी पहले प्रगतिवादी कवि माने जाते हैं, जिन्होंने सन् ३५ के लगभग अपनी प्रसिद्ध कविता 'भैंसागाड़ी' लिखकर प्रगतिवादी कवियों को राह दिखाई। 'चित्रलेखा' में भी वर्माजी ने 'कला कला के लिये' इस पुराने साहित्यिक मानदण्ड का विरोध किया है। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'इब्सन' तथा 'बर्नर्ड शॉ' ने यथार्थवादी कृतियों द्वारा 'कला-कला के लिये' नामक सिद्धान्त का विरोध किया था। वर्माजी भी इसी विचारधारा से प्रभावित लगते हैं। 'चित्रलेखा' भी एक समस्यामूलक रचना है।

वर्माजी व्यक्तिवादी हैं, परन्तु उनके व्यक्तित्व में गतिशीलता है। १६३६ ई० में वर्माजी का दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास 'तीन-वर्ष' प्रकाशित हुआ जिसमें आधुनिक समाज

---

१. 'चित्रलेखा'--भूमिका पृष्ठ ३, २. वही—पृष्ठ ४१, ३. वही—पृष्ठ ४२-४३।

का चित्रण है। समाज में धन की महत्ता बढ़ गई है और मनुष्य का मूल्य कम हो गया है। जीवन से दग्ध मनुष्य की कौतूहलपूर्ण कहानी इस उपन्यास में वर्णित है। 'चित्रलेखा' में अतीत का चित्रपट मिलता है। परन्तु दोनों उपन्यासों के मूल में एक ही विचारधारा है, केवल दो विभिन्न आवरण हैं। दोनों ही कथानकों में वर्माजी ने मनुष्य को परिस्थितियों का दास दिखाया है।

पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी मानते हैं—'चित्रलेखा मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है। पश्चिमी उपन्यास 'थाया' की भी यही भूमिका है, परन्तु भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' दो पुरुष पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यह कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण कराना चाहते हैं। परन्तु 'चित्रलेखा' एक प्रश्न बनकर रह गई है।'

चित्रलेखा और उपन्यास के विविध प्रकार

प्रश्न होता है क्या 'चित्रलेखा' कोई उपन्यास है? उपन्यास की परिभाषा देते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन होना चाहिये तथा जीवन का सम्पूर्ण चित्र होना चाहिये। 'चित्रलेखा' का कथानक केवल एक वर्ष की अवधि में सीमित है। परन्तु फिर भी जीवन के अनेक मार्मिक पक्षों पर इसमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जीवन का सम्पूर्ण चित्र न होकर, खंड-चित्र इसमें मिलता है—वह भी अपने आप में एकदम पूर्ण है। इस प्रकार उपन्यास के कथा-शिल्प में भी एक नवीनता मिलती है। आज हिन्दी में ऐसे भी अनेक उपन्यास लिखे जा चुके हैं जिसके कथानक की अवधि केवल चौबीस घंटे में सीमित है, जैसे श्री गिरधर गोपाल का प्रसिद्ध उपन्यास 'चाँदनी के खँडहर पर'! आज उपन्यास के कथा-शिल्प एवं टेकनीक में इतनी प्रगति हो गई है कि कोई केवल पृष्ठ ही गिनकर उपन्यास को कहानी का फतवा नहीं दे सकता। जैनेन्द्र का 'परख' एवं 'त्यागपत्र' हिन्दी के सुप्रसिद्ध लघुतम उपन्यास हैं। शरत् की अनेक कहानियों को पृष्ठों के आधार पर 'उपन्यास' एवं उनके अनेक लघु-उपन्यासों को इसी आधार पर कहानी मान लिया जाता था। लेकिन अब ऐसी भ्रांति की सम्भावना नहीं रही। अतएव 'चित्रलेखा' को उपन्यास मानने में आज दो मत नहीं हो सकते।

'चित्रलेखा' को कुछ समीक्षक ऐतिहासिक उपन्यास मानते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के लिये आवश्यक है कि उसके पात्र ऐतिहासिक हों। 'चित्रलेखा' में केवल सम्राट् चन्द्रगुप्त और मन्त्री चाणक्य, ये दो ऐतिहासिक पात्र हैं। परन्तु उपन्यास के मूल-कथानक से इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और ये केवल नाम-मात्र के पात्र हैं। ऐतिहासिक उपन्यास में कोई ऐतिहासिक घटना वर्णित होती है; परन्तु 'चित्रलेखा' में किसी भी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं मिलता। 'चित्रलेखा' में लेखक ने कुछ

ऐतिहासिक वातावरण का विवरण देने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह उतना सजीव नहीं बन सका है। अतएव 'चित्रलेखा' को ऐतिहासिक उपन्यास नहीं माना जा सकता।

'चित्रलेखा' को चरित्र-प्रधान उपन्यास भी नहीं माना जा सकता। सभी पात्र कठपुतली सदृश हैं एवं दार्शनिकता के रंग में रँगे हुए हैं। चरित्र-चित्रण लेखक का उद्देश्य नहीं लगता, क्योंकि चरित्र के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। 'चित्रलेखा' के चरित्र का जो मार्मिक, करुण और प्रभावोत्पादक पक्ष हो सकता था, वह उसका नर्तकी बनने से पूर्व का जीवन था। परन्तु केवल एक पृष्ठ में उस सम्पूर्ण जीवन का चित्रण कर लेखक आगे बढ़ गया है, इससे स्पष्ट है कि चरित्र की विभिन्न भाव-भंगिमाओं पर प्रकाश डालना लेखक को इष्ट नहीं है। अस्तु 'चित्रलेखा' चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं है।

'चित्रलेखा' को घटना-प्रधान उपन्यास भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसकी सारी घटनाएँ केवल दो पृष्ठ में वर्णित की जा सकती हैं। यह 'सामाजिक-उपन्यास' भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें सामाजिक कुरूपताओं या असंगतियों का भी वर्णन नहीं मिलता है। व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्धों या दायित्वों का भी बहुत कम वर्णन मिलता है। व्यक्ति का व्यक्ति से ही कुछ सम्पर्क दिखाया गया है। इसे 'वातावरण प्रधान' उपन्यास भी नहीं माना जा सकता है। देश-काल विशेष से क्या प्रतिध्वनि निकलती है, इस दृष्टि से भी चित्रण नहीं मिलता।

वस्तुतः 'चित्रलेखा' एक 'समस्या-प्रधान' उपन्यास है। वर्मा जी ने स्वयं स्वीकार किया है—'इसमें एक समस्या है'! इस उपन्यास की वास्तविक समस्या है—'पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है?' उपन्यास ऐतिहासिक की अपेक्षा समस्या-मूलक अधिक है। समस्या से शैली भी प्रभावित हुई है। उपक्रमणिका एवं उपसंहार के माध्यम से लेखक ने मूल समस्या एवं उसका संभावित समाधान प्रस्तुत किया है। कथा द्वारा सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन हुआ है। उपन्यास के सभी पात्र प्रतीकवत् हैं, जिनसे समस्या को ज्वलंत रूप में प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है। पाप की समस्या से उपन्यास प्रारम्भ होता है और उसी के विश्लेषण से समाप्त होता है। समस्या के अनुरूप ही पाप पुण्य, प्रेम-वासना, योग-भोग, सुख-दुःख, दैव और परिस्थितियाँ, प्रकृति और कृत्रिम जीवन आदि की व्याख्या मिलती है। समस्या को दृष्टिगत रखकर ही कुछ चुने हुए पात्रों की जीवन-कथा उपन्यास में वर्णित की गई है।

मार्क्स से प्रभावित २० वीं सदी में 'भोगवादी दर्शन' को प्रमुखता प्राप्त हुई। भौतिकवादी इस युग में भौतिक सुख अधिकतम मात्रा में प्राप्त करना ही प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य बन गया है। प्रत्येक प्राणी के दृष्टिकोण के अनुरूप ही सुख के केन्द्र भी भिन्न हैं। परन्तु जब स्वार्थ आपस में टकराते हैं, एक ही केन्द्र की ओर सबकी दृष्टि लग जाती है, तब कलह तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। वर्मा जी ने इस समस्या-मूलक उपन्यास द्वारा वर्तमान युग के भौतिकतावादी दर्शन को एक आध्यात्मिक ढाँचे की पीठिका देकर प्रस्तुत किया है। अर्थात् पाप और पुण्य वस्तुतः कुछ भी नहीं हैं,

केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का ही दूसरा नाम है। संसार का वास्तविक उद्देश्य 'सुख प्राप्ति' ही है। इसी बात को प्रभावपूर्ण ढंग से कहने के लिये, वर्मा जी ने इस समस्यामूलक उपन्यास का प्रणयन किया है।

'चित्रलेखा' हिन्दी का पहला सफल समस्या-प्रधान उपन्यास है। पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क एवं प्रभाव के कारण ही हिन्दी में समस्या-नाटक रचे गये। श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र का 'मुक्ति का रहस्य' और 'सिन्दूर की होली' उसी युग में रचे गये सफल समस्या-नाटक थे। वर्माजी का 'चित्रलेखा', हिन्दी में अपने ढंग का प्रथम उपन्यास है।

कथा

श्वेतांक ने पूछा—"और पाप?" इस वाक्य से कथा शुरू होती है। महाप्रभु रत्नाम्बर के उत्तर द्वारा कुशल लेखक ने प्रारम्भ में ही उपन्यास की मूल समस्या की ओर संकेत किया है—'हाँ, पाप की परिभाषा करने की मैंने भी कई बार चेष्टा की है, पर सदा असफल रहा हूँ। पाप क्या है, और उसका निवास कहाँ है, यह एक बड़ी कठिन समस्या है, जिसको आज तक नहीं सुलझा सका हूँ।......पर श्वेतांक, यदि तुम पाप जानना चाहते हो तो तुम्हें संसार ढूँढ़ना पड़ेगा?'[1]

इस प्रकार लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया कि पाप की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। और जो बात अध्ययन से नहीं जानी जा सकती है, उसे केवल अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। परन्तु लहरों में बहना तो ठीक है, डूबना अनुचित है। महाप्रभु रत्नाम्बर के दो शिष्य हैं, श्वेतांक और विशालदेव। श्वेतांक क्षत्रिय है तथा विशालदेव ब्राह्मण। श्वेतांक को भोगी बीजगुप्त के पास तथा विशालदेव को योगी कुमारगिरि के पास, महाप्रभु रत्नाम्बर भेजते हैं। उनका आदेश है कि इन दोनों को उनके जीवन-स्रोत के साथ बहना होगा। दोनों शिष्यों ने सहर्ष गुरू की आज्ञा स्वीकार की।

चित्रलेखा का कंठ कोमल था और गति सुन्दर। पाटलिपुत्र का जन-समुदाय चित्रलेखा के कदमों पर लोटा करता था, पर वह असाधारण सुन्दरी विद्युत की भाँति जन-समुदाय के समक्ष एक क्षण को लहर कर चली जाती। बड़े-बड़े शक्तिशाली सरदार और लक्षाधीश नवयुवक उसके प्रणय के आकांक्षी थे। लेकिन कोई उसे पा न सका था। एक दिन बीजगुप्त उसका नृत्य देखने आया। नाचते-नाचते चित्रलेखा की दृष्टि उस पर पड़ी। वह ठिठक गई। उसकी दृष्टि बँध गई। जनसमुदाय को भूलकर वह एकटक बीजगुप्त को देखने लगी। सौंदर्य के वशीभूत होकर बीजगुप्त भी उसकी ओर देख रहा था। पच्चीस वर्षीय युवा बीजगुप्त की आँखें चित्रलेखा की दृष्टि से टकराई। चित्रलेखा सम्हल गई।

नृत्य समाप्त हुआ। बीजगुप्त ने चित्रलेखा के पुनः दर्शन की कामना प्रकट

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ५

की। चित्रलेखा ने उत्तर दिया—'नहीं, मैं व्यक्ति से नहीं मिलती। मैं केवल समुदाय के सामने आती हूँ, व्यक्ति का मेरे जीवन से कोई सम्बंध नहीं।'[1]

बीजगुप्त ने समझाना चाहा कि व्यक्ति से ही समुदाय बनता है, समुदाय की प्यास उसके प्रत्येक व्यक्ति की प्यास है। लेकिन दार्शनिक नर्तकी समुदाय के उल्लास को, समुदाय के व्यक्तियों के रुदन का संग्रह मानती है। अन्त में बीजगुप्त यह कहकर तीर की भाँति चला जाता है—'व्यक्तित्व जीवन में प्रधान है और व्यक्ति से ही समुदाय बनता है। जब व्यक्ति वर्जित है तो उस व्यक्ति को समुदाय का भाग बनना अपना ही अपमान करना है।'[2]

स्वाभिमानी बीजगुप्त चित्रलेखा के हृदय में एक हलचल मचाकर चला गया। यथेष्ट प्रतीक्षा के बाद चित्रलेखा इस निष्कर्ष पर पहुँची कि केवल एक व्यक्ति उसके जीवन में आ सकता है, और वह व्यक्ति बीजगुप्त है। उसीदिन से इन दोनों का साथ हुआ, फिर भी चित्रलेखा वेश्या न थी।

गुरु-भाई एवं सेवक बनकर श्वेतांक, बीजगुप्त के केलि-भवन में प्रवेश करता है। बीजगुप्त उसे चित्रलेखा से परिचित कराता है—'...इनका नाम चित्रलेखा है, और यह पाटलिपुत्र की सर्वसुन्दरी नर्तकी होते हुए भी मेरी पत्नी के बराबर हैं। इसलिए यह तुम्हारी स्वामिनी भी हुई।'[3]

कुमारगिरि योगी था। एक दूसरे काल्पनिक लोक या संसार को प्राप्त करने की आकांक्षा के वशीभूत होकर, उसे इस संसार से विरक्ति हो गई थी। संयम और नियम, इन पर उसे विश्वास था, इच्छाएँ उसके वशीभूत थीं। उसने वासनाओं को दबा दिया था क्योंकि इनके वशीभूत होकर ही मनुष्य पाप करता है। वह विचार-सागर में निमग्न रहता, अतएव सुखी था। मधुपाल, योगी कुमारगिरि का शिष्य था। उसे अपने गुरु के अखंड ज्ञान पर गर्व था, और गुरु के अच्युत होने पर विश्वास।

कुमारगिरि आचार्य रत्नाम्बर के आग्रहवश विशालदेव को दीक्षित करने के लिये ग्रहण कर लेते हैं। वह विशालदेव से स्पष्ट कह देते हैं—'...मेरे साथ रह कर तुम्हें पाप का अनुभव न हो सकेगा। मेरा क्षेत्र है संयम और नियम—और संयम और नियम से पाप दूर रहता है।...मैं तुम्हें पुण्य का रूप दिखला दूँगा, और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे।'[4]

श्वेतांक ब्रह्मचारी था। स्त्री को वह न जानता था और यौवन की मादकता से वह अपरिचित था। बीजगुप्त के भवन में श्वेतांक की गणना बीजगुप्त के छोटे भाई की तरह होती थी। बीजगुप्त के सेवक भी उसे अपना स्वामी समझते थे। नगर के प्रभावशाली व्यक्तियों से उसका परिचय हो गया था एवं भोग-विलास के साधन उसके समक्ष उपस्थित रहते। श्वेतांक नर्तकी चित्रलेखा की ओर आकर्षित होता है। उसके हाथ से

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ १२, २. वही—पृष्ठ १३, ३. वही—पृष्ठ १६, ४. वही—पृष्ठ २१।

अनिच्छा होते हुए भी मदिरा ग्रहण करता है। प्रेम-निवेदन करते ही उसकी आँखें खुलती हैं। एक नर्तकी से वह पराजित होता है। चित्रलेखा उसे एक भाई के रूप में ग्रहण कर अपना प्यार दे सकती है। श्वेतांक अपने अपराध की गुरुता का विचार कर बीजगुप्त के चरणों पर बिछ जाता है। बीजगुप्त उसे दण्ड न देकर, क्षमा-दान करता है। बीजगुप्त जानता है कि परिस्थितियों से बाध्य होकर ब्रह्मचारी श्वेतांक ने वैसा आचरण किया था। और अपराध कर्म में होता है, विचार में नहीं। श्वेतांक को नित्य की भाँति भविष्य में भी चित्रलेखा को उसके भवन तक पहुँचाने का दण्ड बीजगुप्त देता है।

विशालदेव ने कुमारगिरि में महान् आत्मा देखी। उनके ज्ञान एवं तेज के समक्ष वह श्रद्धा से नतमस्तक हो गया। कुमारगिरि को योग्य शिष्य प्राप्त हुआ, और विशालदेव को योग्य गुरू।

एक दिन सूर्यास्त की वेला में पथ भूलकर बीजगुप्त नर्तकी चित्रलेखा के साथ योगी कुमारगिरि की कुटिया में रात्रि भर के लिए आश्रय की कामना से उपस्थित होते हैं। कुमारगिरि सहर्ष आश्रय देने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु साथ में स्त्री को देखकर चौंकते है। वे बीजगुप्त से अपनी झिझक प्रकट करते हैं। बीजगुप्त उत्तर देता है—'भगवन्, मुझे यह तो ज्ञात है कि यह एक योगी की कुटी है, पर यह नहीं सोचा था कि एक इंद्रियजीत योगी को केवल रात्रिभर के लिए स्त्री को, और उस स्त्री को जो एक पुरुष के साथ है आश्रय देने में संकोच होगा।'[1]

कुमारगिरि स्त्री के प्रति अपनी दुर्भावना प्रकट करते हैं। चित्रलेखा अपने अकाट्य तर्कों से योगी कुमारगिरि को अभिभूत कर लेती है। योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा, और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य। दोनों एक दूसरे से संतुष्ट न थे, पर प्रभावित अवश्य थे। चलते हुए चित्रलेखा ने कहा—'योगी! तपस्या जीवन की भूल है, यह मैं तुम्हें बतलाये देती हूँ। तपस्या की वास्तविकता है आत्मा का हनन। अच्छा, श्रीचरणों को नर्तकी चित्रलेखा का प्रणाम!'[2]

बीजगुप्त का मन किसी भावी आशंका की कल्पना कर काँप उठा। चित्रलेखा ने कुमारगिरि को मूर्ख कहकर बीजगुप्त को धोखा दे दिया, पर वह अपने को धोखा न दे सकी। मन ही मन उसने कहा—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है!'[3]

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के नीति-कुशल मंत्री चाणक्य को योगी कुमारगिरि ने पराजित किया। पूरा दरबार इस बात का साक्षी था। योगी ने सबको ईश्वर की प्रकाश-किरण दिखाकर मोहित एवं प्रभावित कर दिया। चाणक्य उस प्रकाश-किरण को न देख सके थे, फिर भी सम्राट् चन्द्रगुप्त पर विश्वास कर उन्होंने सहर्ष अपनी पराजय स्वीकार कर ली। नर्तकी चित्रलेखा ने भ्रम का आवरण हटा दिया। योगी को सत्य विवश मन से स्वीकार करना पड़ा। विजय का मुकुट सम्राट् की सहमति से चाणक्य ने

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ३४, २. वही—पृष्ठ ३८, ३. वही—पृष्ठ ३९।

चित्रलेखा के मस्तक पर रख दिया। योगी के अनुचित आचरण का उचित दंड देने का सम्राट ने अपना मंतव्य प्रकट किया। योगी के नेत्र क्रोध से रक्तिम वर्ण के हो उठे। भला उन्हें दंड देने का साहस किसमें था। चित्रलेखा ने साहस किया। दण्डस्वरूप अपना विजय-मुकुट योगी कुमारगिरि के मस्तक पर रख दिया। नृत्य पुनः प्रारम्भ हो गया। कुमारगिरि इस दण्ड और पराजय पर विचार करते तेजी से बाहर चले गये।

अपमानित और पराजित योगी को एक नया अनुभव हुआ। एक स्त्री से पराजित होना, ज्ञान के क्षेत्र में—योगी के हृदय में हलचल मच गई। सारी तपस्या एवं एकांत-साधना पर घड़ों पानी पड़ गया। परन्तु चित्रलेखा उन्हें आश्वस्त करना चाहती है—'योगी ! तुम पराजित नहीं हुए। तुम विजयी हो !'[१]

विचित्र संयोग था। पराजित नर्तकी प्रफुल्लित थी, विजयी योगी व्यग्र था। योगी इस विजय-युक्त पराजय पर चकित था। चित्रलेखा योगी से दीक्षा लेना चाहती है। योगी झिझकता है, पर चित्रलेखा के असाधारण सौन्दर्य ने उसके अन्तराल में कम्पन उत्पन्न किया। मुख के पराग ने उनके विरक्त दार्शनिक जीवन में मीठी सुगंध घोल दी। वह अपनी दुर्बलता नर्तकी के समक्ष काँपते मन से स्वीकार कर लेते हैं। चित्रलेखा योगी के संयम को रूप की मदिरा के प्रभाव से डिगा देती है।

बीजगुप्त दूरदर्शी है। वह श्वेतांक से कहता है—'जिसे तुम चित्रलेखा की विजय समझते हो वह उसकी बहुत बड़ी पराजय है। चित्रलेखा और कुमारगिरि कोई भी विजयी नहीं है, दोनों ही पराजित हुए हैं। परिस्थिति का चक्र तेजी के साथ घूम रहा है, उसी चक्र के फेरे में ये दोनों प्राणी फँस गये हैं।'[२]

बीजगुप्त की आत्मा रो उठी। श्वेतांक अपने स्वामी की रहस्यभरी बातों को न समझ सका। बीजगुप्त के आदेशानुसार श्वेतांक विजय पर बधाई देने चित्रलेखा के निवास-स्थान पर जाता है। चित्रलेखा से प्रतीक्षा के बाद भेंट होती है। चित्रलेखा एकदम बदल चुकी है। बीजगुप्त का कथन अक्षरशः सत्य देखकर श्वेतांक स्तंभित हो उठता है। चित्रलेखा स्वीकार करती है—'सुनो ! मेरी आज की विजय वास्तव में मेरी विजय न थी वरन् मेरी पराजय थी। कुमारगिरि ने मेरे जीवन को बुरी तरह प्रभावित कर दिया है।'[३]

चित्रलेखा अपने जीवन का प्रधान अभिनेता कुमारगिरि को मानती है और उससे प्रेम भी करने लगती है। श्वेतांक शपथ ग्रहण करता है कि वह अपने स्वामी बीजगुप्त से चित्रलेखा के प्रेम का रहस्य प्रकट न करेगा। इसीलिये वह स्वामी के समक्ष असत्य बोलता है। बीजगुप्त मानता है—'मनुष्य स्वतन्त्र विचार वाला प्राणी होते हुए भी परिस्थितियों का दास है। और यह परिस्थिति-चक्र क्या है पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान है। मनुष्य की विजय वहीं सम्भव है जहाँ वह परिस्थितियों के चक्र में पड़कर

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ५२, २. वही—पृष्ठ ६२, ३. वही—पृष्ठ ६७।

उसीके साथ चक्कर न खाये, वरन् अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार रखते हुए उस पर विजय पाये।'[1]

यह पहला अवसर था जब चित्रलेखा और बीजगुप्त में इतनी दूरी उत्पन्न हो गई थी। चित्रलेखा स्वीकार करती है—'इस परिवर्तनशील संसार में किसी भी चीज का बदल जाना अस्वाभाविक नहीं है।'[2]

आर्यश्रेष्ठ मृत्युञ्जय पाटलिपुत्र के समृद्ध एवं वयोवृद्ध सामन्त थे, जो जन्मना क्षत्रिय होते हुए भी कर्म से ब्राह्मण थे। नगर में उनकी यथेष्ठ प्रतिष्ठा एवं सम्मान था। धन और वैभव की इस एकान्तवासी क्षत्रिय के पास कमी न थी। उनकी केवल एक संतान थी, वह थी सुन्दरी पुत्री यशोधरा। युवती यशोधरा के प्रणय के आकांक्षी बड़े-बड़े सामन्त युवक थे। लेकिन अनुभव-वृद्ध मृत्युञ्जय ने बीजगुप्त को योग्य पात्र समझा। यशोधरा की वर्षगाँठ के अवसर पर उसे चित्रलेखा के साथ ही आमंत्रित किया गया।

चित्रलेखा अपना अपमान नहीं सह सकती थी। आर्य मृत्युञ्जय के यहाँ उत्सव में बीजगुप्त के आग्रह पर चित्रलेखा नृत्य करती है। कुमारगिरि का स्वागत करने के लिए मृत्युञ्जय वीणा रखकर, बीच ही में उठकर बाहर चले जाते हैं। चित्रलेखा इसे अपना अपमान समझकर वहाँ से जाना चाहती है। वह बीजगुप्त के पूछने पर बताती है—'मेरी दृष्टि में कला का सर्वोच्च स्थान है। जो मनुष्य कला का अपमान करता है वह मनुष्य नहीं है, पशु है। मृत्युञ्जय को कुमारगिरि का स्वागत करने के लिए नृत्य को बन्द कर देना मेरा अपमान नहीं तो क्या है?'[3]

कुमारगिरि के आग्रहवश वह जाने से रुक जाती है और यशोधरा के आग्रह पर पुनः नृत्य करती है। कुमारगिरि को संसार में आकर्षण का अनुभव हुआ। अनुराग की सजीवता विराग की अकर्मण्यता पर विजय पा रही थी।

मृत्युञ्जय उत्सव के बाद बीजगुप्त से विवाह का प्रस्ताव करते हैं। बीजगुप्त के अनुसार स्त्री-पुरुष के चिर-स्थायी सम्बन्ध को ही विवाह कहते हैं। शास्त्रानुसार यद्यपि उसका विवाह नहीं हुआ है, फिर भी वह अपने को विवाहित मानता है और चित्रलेखा को अपनी पत्नी। वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि उसके प्रेम की अधिकारिणी कोई दूसरी स्त्री नहीं हो सकती। मृत्युञ्जय समझाते हैं—'...विवाह पुत्रोत्पत्ति के लिए होता है और इसलिए आवश्यक है। चित्रलेखा की सन्तान बीजगुप्त की सन्तान न होगी और न वह सन्तान बीजगुप्त की उत्तराधिकारी ही हो सकती है। कभी इस पर भी विचार किया है?'[4]

चित्रलेखा भी बीजगुप्त के कल्याण के लिए त्याग को प्रस्तुत है। योगी कुमारगिरि भी उसके कथन का समर्थन करते है। बीजगुप्त को आश्चर्य होता है कि योगी कैसे एक व्यक्ति को विराग का उपदेश दे रहे हैं, जबकि उसे बंधन में बँधने को प्रोत्साहित कर रहे हैं। कुमारगिरि उत्तर देते हैं कि बीजगुप्त विराग के योग्य नहीं हैं। चित्रलेखा

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ७२, २. वही—पृष्ठ ७८, ३. वही—पृष्ठ ८६, ४. वही—९१-९२।

प्रश्न करती है कि योगी, क्या मुझे गुरुदीक्षा देने के लिए तैयार हो? योगी इसे असम्भव बताते हैं।

बीजगुप्त को सुखी बनाना अपना कर्त्तव्य मानकर, चित्रलेखा त्याग को प्रस्तुत होती है। सारे आभूषण उतार कर एक केसरिया रंग की रेशमी साड़ी पहनकर, अपने भवन का समस्त भार विश्वस्त दासी सुनयना के हाथों सौंपकर, चित्रलेखा ने प्रस्थान किया। खुले केशों के साथ समस्त वैभव का परित्याग कर बीजगुप्त के नाम एक पत्र लिखकर उसने रथ पर बैठकर कुमारगिरि की कुटि को प्रस्थान किया। राजमार्ग पर चित्रलेखा ने रथ को भी छोड़ दिया। उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र था।

कुमारगिरि की कुटी में पहुँचकर उसने देखा वे ध्यानावस्थित बैठे थे। चित्रलेखा भी पास ही नेत्र बन्द कर बैठ गई। योगी की समाधि टूटी, शान्त और तेज से भरी चित्रलेखा के सौन्दर्य पर दृष्टि पडी। कुमारगिरि चित्रलेखा की हरिणी की सी बड़ी-बड़ी आँखों के आगे काँप उठे। वे कहते हैं—'तुम्हें दीक्षा देने के अर्थ होते हैं गिरना, नीचे गिरना। कहाँ? नीचे ही नीचे जहाँ अन्त ही नहीं है। मैं तुम्हें जानता हूँ और मैं अपने को भी जानता हूँ। तुम्हें ऊपर उठाना कठिन है, स्वयम् नीचे गिरना सरल है।'[1]

चित्रलेखा स्पष्टतः स्वीकार कर लेती है कि वह योगी कुमारगिरि से प्रेम करने आयी है। कुमारगिरि ने अपने चरणों पर पडी हुई चित्रलेखा को उठाया—'अच्छा देवि! तो फिर तुम्हें दीक्षा दूँगा। भगवान् की इच्छा है कि मैं संसारस्थित वासनाओं से युद्ध करूँ—तो फिर ऐसा ही हो!'[2]

कुमारगिरि आग से खेलने को तैयार हो जाता है। अपने शिष्य विशालदेव की मुस्कराहट से क्रोधित होकर, अपनी ही कुटी में चित्रलेखा को रखने का कुमारगिरि निश्चय करता है। योगी अपने शिष्य से कहते हैं कि यहाँ पर पाप का पता लगाने तुम्हें गुरू ने भेजा है, अब तुम्हें अवसर मिला है कि तुम पाप देखो, और उस पर विजय पाना भी देखो।

बीजगुप्त अनुभव करता है कि उस दिन अकारण ही उससे मृत्युञ्जय का अपमान हो गया। वह क्षमा-याचना के लिए एक पत्र लिखकर श्वेतांक द्वारा मृत्युञ्जय को भेजता है। श्वेतांक जब मृत्युञ्जय के भवन में पहुँचता है, वे कहीं अन्यत्र गये हुए रहते हैं। यशोधरा से भेंट होती है। बातें भी होती हैं। मृत्युञ्जय आते हैं। वे बीजगुप्त की नम्रता पर मुग्ध हो उठते हैं। श्वेतांक अपना परिचय देता है। मृत्युञ्जय अपने यहाँ बीजगुप्त और श्वेतांक को रात्रि में भोजन पर आमंत्रित करते हैं। श्वेतांक इस निमंत्रण से विशेष रूप से प्रसन्न है। उसके मन में यशोधरा के लिये आकर्षण उत्पन्न होता है।

बीजगुप्त यशोधरा के अछूते सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होना चाहता था, लेकिन चित्रलेखा को भूलना उसके लिये नितान्त कठिन था। मदिरा की मादकता से परिचित

---

१. 'चित्रलेखा' पृष्ठ १००, २. वही—पृष्ठ २।

बीजगुप्त, भला कैसे मदिरा छोड़ सकता था। अतएव अपने जीवन में वह यशोधरा ऐसी पवित्र प्रतिमा को नहीं लाना चाहता था। वह जीवन और हलचल का आकांक्षी था।

बीजगुप्त को चित्रलेखा का पत्र भवन पहुँचने पर मिलता है। वह इस आत्म-बलिदान और आत्म त्याग से प्रसन्न नहीं होता। चित्रलेखा और कुमारगिरि कितना विचित्र संयोग था। चित्रलेखा ने बीजगुप्त को छोड़कर एक भयंकर भूल की थी। क्योंकि बीजगुप्त इस संसार में केवल एक स्त्री से प्रेम करता था या कर सकता है—वह थी चित्रलेखा। फिर विवाह और प्रेम में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

बीजगुप्त कुमारगिरि की कुटी में पुनः जाता है। कुमारगिरि उसे देखकर आश्चर्य करते हैं और चित्रलेखा के मुख पर भय छा जाता है। बीजगुप्त अपने लिये विवाह असम्भव बताता है। चित्रलेखा, बीजगुप्त के चरणों पर बिछ जाती है और निवेदन करती है—'बीजगुप्त! तुम पूज्य हो, तुम मनुष्य नहीं हो, देवता हो।······ बीजगुप्त, तुम्हारा विवाह होना ही चाहिये—तुम मुझसे प्रेम करते हो, मुझे सुखी बनाना तुम्हारा कर्तव्य है। मुझे तब तक सुख न होगा जब तक मैं तुम्हें विवाहित न देखूँगी और तुम्हारी सन्तान से माता न कहलाऊँगी।······मैं तुम से सदा प्रेम करती रहूँगी। क्या प्रेम का प्रधान अंग भोग-विलास ही है? क्या बिना भोग-विलास के प्रेम असम्भव है? मैं तुमसे इस समय केवल शारीरिक सम्बन्ध तोड़ रही हूँ, इसकी अपेक्षा हमारा आत्मिक सम्बन्ध और दृढ़ हो जायगा।'[1]

बीजगुप्त खाली हाथ लौट जाता है। कुमारगिरि आश्चर्य करते हैं चित्रलेखा के प्रेम-प्रदर्शन पर। क्या दो व्यक्तियों से एक साथ प्रेम सम्भव है? चित्रलेखा इस शंका का समाधान इस प्रकार करती है—'···गुरुदेव, पुरुष दो विवाह कर सकता है, और वह दोनों पत्नियों से प्रेम कर सकता है, फिर स्त्री क्यों ऐसा नहीं कर सकती। स्त्री अपने पति से उतना ही प्रेम कर सकती है जितना अपने पुत्र से। आत्मिक सम्बंध कई व्यक्तियों से एक साथ सम्भव है।'[2]

चित्रलेखा, इसीलिये बीजगुप्त और कुमारगिरि के साथ एक आत्मिक सम्बंध मानती है, शारीरिक नहीं। कुमारगिरि के लिये चित्रलेखा और उसका प्रेम, दोनों ही एक अबूझ पहेली है। काँपते मन से वे नर्तकी चित्रलेखा को दीक्षा देने को तैयार हो जाते हैं। इसे योगी कुमारगिरि अपनी परीक्षा मानते हैं।

बीजगुप्त ने पाटलिपुत्र छोड़ने का निश्चय किया। श्वेतांक को काशी प्रस्थान करने की व्यवस्था का भार सौंपा। चित्रलेखा को भूलने और यशोधरा के प्रेमभरे शीतल आँचल से दूर रहने का यह एक सरल और सुगम उपाय था।

श्वेतांक इस निर्णय से दुःखी था। वह यशोधरा से दूर नहीं जाना चाहता था। विरोध न कर सका, फिर भी आर्य मृत्युञ्जय से जाने से पूर्व एक बार मिलने की सहमति बीजगुप्त से प्राप्त करता है। बीजगुप्त प्रेम कर पछता रहा था, श्वेतांक प्रेम

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ १२२-२३, २. वही—पृष्ठ १२४।

करने को उत्सुक था। वह यशोधरा के मुख से बीजगुप्त की प्रशंसा भी सहन नहीं कर सकता। वह ईर्ष्याग्नि से जला जा रहा था। उसे बीजगुप्त में भी दोष नजर आने लगे। यशोधरा के फटकारने पर, श्वेतांक स्वीकार करता है—'इसलिये कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।' यशोधरा उत्तर देती है—'बड़े आश्चर्य की बात है आर्य श्वेतांक।'[1]

यशोधरा के मीठे आग्रह पर आर्य मृत्युञ्जय भी बीजगुप्त के साथ काशी-यात्रा का निश्चय कर लेते हैं। श्वेतांक से यह समाचार प्राप्त कर बीजगुप्त प्रसन्न नहीं हुआ। वह यशोधरा की छाया तक से दूर रहना चाहता था। लेकिन बाध्य होकर, शिष्टतावश अपनी सहमति प्रदान करनी ही पड़ी। बीजगुप्त, श्वेतांक, यशोधरा और आर्य मृत्युञ्जय ने काशी के लिये प्रस्थान किया।

कुमारगिरि का मन चित्रलेखा के संसर्ग को प्राप्त कर चंचल हो उठा। कामनाएँ मन में मचलने लगीं। वह विराग के शुष्क क्षेत्र को छोड़कर, अनुराग के सरस, शीतल सरोवर में डुबकियाँ लगाने की सोचने लगे। चित्रलेखा में एक आकर्षण-शक्ति का कुमारगिरि को अनुभव होता है। निराकार को छोड़कर वे साकार की उपासना को उद्यत होते हैं। चित्रलेखा को इस प्रयोग में सहायक नहीं, अपितु लक्ष्य बनाना चाहते हैं। चित्रलेखा मलय समीरण से अठखेलियाँ करने आयी थी, ज्वालामुखी में जलने नहीं आई थी। कुमारगिरि ने चित्रलेखा को आलिंगन-पाश में बाँध लिया और अपने जलते अधर उसके अधरों पर रखकर बोले—'नर्तकी! मैं तुमसे प्रेम करता हूँ।'[3]

चित्रलेखा ने साधना-च्युत योगी को सचेत किया। पागलपन का लोप हो गया। वे उसे छोड़कर बाहर चले गये। चित्रलेखा अब कुमारगिरि के पास जाना चाहती थी। कुमारगिरि भी इस दुर्घटना के बाद अपनी निर्बलता पर विजय पाने की कल्पना करने लगे।

प्रातःकाल चित्रलेखा अपनी भूल विशालदेव के समक्ष स्वीकार करती है। वह यहाँ आकर स्वयं भी नीचे गिरी और योगी कुमारगिरि को भी नीचे गिराया। वह इसे पाप समझती है और इससे मुक्ति पाने के लिये वह विशालदेव से सहायता की कामना प्रकट करती है। संध्यासमय विशालदेव पाटलिपुत्र से लौटकर समाचार देता है कि आर्य बीजगुप्त यात्रा के लिये काशी गये हुए हैं। चित्रलेखा निराश हो उठती है।

चित्रलेखा अपने से सबल व्यक्ति से ही प्रेम कर सकती है। वह कुमारगिरि को अब अपने प्रेमयोग्य भी नहीं समझती। कुमारगिरि चित्रलेखा से रुकने का आग्रह करते हैं, क्योंकि वे उस पर विजय पाना चाहते हैं। चित्रलेखा योगी का भ्रम दूर

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ १३१, २. वही—पृष्ठ १४३, ३. वही—पृष्ठ १५१।

करती है—'योगी, तुम्हें मेरे ऊपर विजय पाना नहीं है तुम्हें अपने ही ऊपर विजय पाना है.........।'[1]

चित्रलेखा बीजगुप्त के जीवन से बिना उसकी इच्छा के चली गई थी, यशोधरा उसके जीवन में बिना उसकी इच्छा के आ गई थी। विचित्र संयोग था। काशी पहुँचकर भी बीजगुप्त का भार कम नहीं हुआ। यशोधरा ने उसके जीवन में आकर, मन का भार द्विगुणित कर दिया था। श्वेतांक के मनोभावों को बीजगुप्त कुछ-कुछ समझने लग गया था। चित्रलेखा को भूलना उसके लिए असम्भव था। वह पाटलिपुत्र लौटने का निश्चय कर लेता है।

बीजगुप्त चकित था। वह बिना अपनी इच्छा के भी यशोधरा की ओर आकर्षित होता जा रहा था। उसने अनुभव किया कि मनुष्य एक लक्ष्यहीन पथिक है। मनुष्य परतंत्र है, परिस्थितियों का दास है। एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती रहती है, मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य स्वावलम्बी नहीं है, वह कर्ता भी नहीं है, साधन-मात्र है।

चित्रलेखा को लेकर कुमारगिरि के मन में द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। वह सोचने लगे—'चित्रलेखा मुझसे क्यों प्रेम नहीं कर सकती? शायद इसलिए कि वह एक व्यक्ति से प्रेम करती है। यदि चित्रलेखा बीजगुप्त से प्रेम करना छोड़ दे तो सम्भव है, नहीं निश्चय है कि वह मुझे आत्मसमर्पण कर दे। बीजगुप्त को चित्रलेखा के मार्ग से हटाना होगा।'[2]

कुमारगिरि प्रतिहिंसा की ज्वाला में जल रहा था। वह चित्रलेखा को धोखा देना चाहता है। वह उससे झूठ बोलता है कि बीजगुप्त यशोधरा के साथ वैवाहिक जीवन का आनन्द भोग रहा है। चित्रलेखा इस पर अविश्वास प्रकट करती है। कुमारगिरि व्यंग को पैना करते हुए उत्तर देता है—'तुम्हारा वासना के वशीभूत होकर पवित्र प्रेम को ठुकरा कर मेरे पास चला आना सम्भव है, और बीजगुप्त का एक स्वर्गीय प्रतिमा से पवित्र वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेना सम्भव नहीं है?'[3]

चित्रलेखा का आत्मविश्वास काँप उठा। उसे लगा कि उसका धन आज लुट गया। चित्रलेखा पराजित हुई। दुःख के आवेग में अवश भाव से उसने कुमारगिरि के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। कुमारगिरि की अभिलाषा पूर्ण हुई। विशालदेव जानता है कि चित्रलेखा की उपस्थिति से इस कुटी की संयम-पूर्ण शान्ति भंग हो रही है। वह चित्रलेखा से प्रार्थना करता है। टूटे मन से चित्रलेखा उत्तर देती है कि तुम बधिक से दया की आशा करते हो—तुम संहार-कर्ता से निर्माण कराना चाहते हो?

विशालदेव नगर जाता है। श्वेतांक से भेंट होती है। उससे पूरा समाचार ज्ञात होता है। चित्रलेखा का भ्रम दूर होता है। उसका और बीजगुप्त का अनुराग

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ १६०, २. वही—पृष्ठ १७९, ३. वही—पृष्ठ १८२।

स्थायी है। वह कुमारगिरि की पशुता को पहचान जाती है। कुमारगिरि को प्रताड़ित एवं लांछित कर वह उस पाप-भरी कुटिया से प्रस्थान करती है।

श्वेतांक से बीजगुप्त को ज्ञात होता है कि चित्रलेखा अच्छी तरह है एवं उसका स्वास्थ्य भी ठीक है। बीजगुप्त को पुनः ठेस लगी। वह यशोधरा से विवाह कर अपने जीवन के सूनेपन को दूर करना चाहता है। चित्रलेखा प्रसन्न और स्वस्थ है, बीजगुप्त दुःखी है—कैसी विषमता है? बीजगुप्त जब यशोधरा से विवाह करने का निश्चय करता है, श्वेतांक उसके समक्ष अपनी वही अभिलाषा रखता है। बीजगुप्त, खिन्न हो उठता है। क्या उसे सुखी रहने का अधिकार नहीं है? पर वह जानता है कि यशोधरा से विवाह कर वह श्वेतांक का जीवन दुःखमय बना डालेगा! और दूसरे के सुख में बाधक बनना, अपने सुख की आशा पर कायरता और नीचता है। बीजगुप्त ऐसा अन्याय नहीं कर सकता।

वह आर्य मृत्युञ्जय के समक्ष प्रस्ताव करता है कि यशोधरा का विवाह श्वेतांक से कर दें। श्वेतांक सम्पन्न पिता का पुत्र नहीं है, वह निर्धन है, अतएव मृत्युञ्जय की दृष्टि में अयोग्य भी है। भला, उससे सम्पन्न पिता की पुत्री यशोधरा का पाणिग्रहण कैसे सम्भव हो सकता है? बीजगुप्त अपनी सारी सम्पत्ति श्वेतांक को देने का निश्चय करता है और राज्याज्ञा मिलने पर सामंत की पदवी भी श्वेतांक को दिलाने का वचन देता है। मृत्युञ्जय विवाह की सहमति दे देते हैं। बीजगुप्त को अपनी मनुष्यता का गर्व था। मृत्युञ्जय की दृष्टि में तो वह देवता ही था। इतना त्याग भला कोई मनुष्य कहाँ कर सकता था!

चित्रलेखा लौट आई। उसने बीजगुप्त के प्रति अपने को अपराधिनी अनुभव किया। उसे अपने से घृणा हो गई थी। वह पश्चात्ताप की अग्नि में जल रही थी। वह अब भ्रष्ट हो चुकी थी। आँसुओं की अनवरत धारा में वह उन दुर्भाग्यपूर्ण क्षणों की कालिमा धो डालना चाहती थी। श्वेतांक से चित्रलेखा को बीजगुप्त के त्याग की गौरवशाली कथा ज्ञात होती है। जीवन के प्रति हो जानेवाले इस विराग का कारण चित्रलेखा स्वयं अपने को मानती है। उसकी श्वेतांक के प्रति एक बड़ी बहिन की ममता है। वह विवाहोत्सव में सम्मिलित होने से इन्कार कर देती है।

विवाह होता है। श्वेतांक को सम्राट सामन्त कहकर सम्बोधित करते हैं। बीजगुप्त सम्पूर्ण वैभव को तृण-तुल्य छोड़कर, सबसे विदा ग्रहण करता है। अन्धकार में ही किसी ने पुकारा—'मेरे देवता!' चित्रलेखा क्षमा-याचना करती चरणों पर गिर पड़ी। बीजगुप्त उसे अपने जीवन का अभिशाप कहता है। चित्रलेखा कहती है—नाथ! मैंने तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया, मैंने तुम्हें मिटा दिया। तुम मुझे शाप दो, दण्ड दो, मुझे ताड़ित करो,—पर मुझसे घृणा न करो!'[1]

बीजगुप्त संसार में केवल चित्रलेखा की बात नहीं टाल सकता। वह उसे क्षमा

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ २०३।

कर देता है। वह उसे एक भिखारिणी के रूप में ग्रहण करने को तैयार हो जाता है। दोनों जीवन में प्रेम को आधार बनाकर, भिखारी रूप में संसार-सागर में गोते लगाने निकल पड़े। त्याग में कितना सुख है और कितनी शान्ति !

एक वर्ष बाद ! श्वेतांक, विशालदेव और महाप्रभु रत्नाम्बर तीनों पुनः मिलते हैं। श्वेतांक बीजगुप्त की सराहना करता है और कुमारगिरि की निन्दा। विशालदेव कुमारगिरि की प्रशंसा करता है और बीजगुप्त की निन्दा। महाप्रभु रत्नाम्बर इन दोनों की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि तुम दोनों विभिन्न परिस्थितियों में रहे हो, अतएव तुम दोनों की पाप की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो गई हैं।

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मनःप्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है—प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है।··· मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?

'···मनुष्य में ममत्व प्रधान है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। केवल व्यक्तियों के सुख के केन्द्र भिन्न होते हैं। कुछ सुख को धन में देखते हैं, कुछ सुख को मदिरा में देखते हैं, कुछ सुख को व्यभिचार में देखते हैं, कुछ त्याग में देखते हैं, पर सुख प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। कोई भी व्यक्ति संसार में अपनी इच्छानुसार यह काम न करेगा जिसमें दुःख मिले—यही मनुष्य की मनःप्रवृत्ति है और उसके दृष्टि-कोण की विषमता है।

'संसार में इसीलिये पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है।···'[1]

संक्षेप में समस्यामूलक उपन्यास 'चित्रलेखा' की यही संक्षिप्त कथा है और उसकी मूल-समस्या का संभावित समाधान ! किन्तु यह समस्या का एक पक्ष है, उसका समाधान नहीं। व्यक्ति के आत्म-पक्ष की पूर्णतया अवहेलना है। वर्मा जी मनुष्य को परिस्थितियों का दास मानते हैं। अतएव उपन्यासकार ने पाप की समस्या पर एकांगी प्रकाश डाला है। 'चित्रलेखा' की कथा का गम्भीर वातावरण अपूर्व है।

कथा-शिल्प

'चित्रलेखा' समस्या-मूलक रचना है। कथा का आरम्भ, उसका विकास एवं अंत सभी पहले से निश्चित करके ही लेखक ने लेखिनी चलाई होगी। इसका कथानक कुशल कलाकार की योजना है। इसमें शुष्कता या नीरसता नहीं है। कथानक का प्रवाह अविरल तथा एकरस है। समस्या के अनुरूप घटनाएँ मोड़ी गई हैं। उपन्यास

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ २०८

में घटनाओं की बहुलता नहीं है। महाप्रभु रत्नाम्बर द्वारा ही कुशल लेखक ने श्वेतांक एवं विशालदेव को निमित्त मात्र बनाकर कथा को दो धाराओं में विभाजित कर दिया है। इन दोनों कक्षाओं का केन्द्र क्रमशः बीजगुप्त एवं कुमारगिरि हैं। नर्तकी चित्रलेखा इन दोनों कक्षाओं के बीच सम्बन्ध-सूत्र का कार्य करती है। यशोधरा की कथा प्रासंगिक होते हुये भी महत्वपूर्ण है। उपन्यास की मूल समस्या से उसका निकट का सम्बन्ध है। प्रारम्भ में परिस्थितियों का परिचय दिया है, फिर उनका संघर्ष दिखाया है। मध्य भाग में यशोधरा की प्रासंगिक कथा द्वारा कथानक में विस्तार होता है। अन्त में कथा का उतार दिखाया है, जो बहुत तीव्र है। केवल एक वर्ष का संक्षिप्त कथानक है। उपन्यास का प्रारम्भ अत्यंत नाटकीय है।

कथा की सभी घटनाएँ स्वाभाविक हैं एवं कलापूर्ण ढंग से नियोजित हैं। पहाड़वाली घटना आरोपित, अवास्तविक एवं अव्यवहारिक प्रतीत होती है। लेकिन बीजगुप्त को मनोवैज्ञानिक रूप रेखा को उभारकर दिखाने के लिये ही संभवतः वर्माजी ने विशेष प्रसंग के अनुकूल इस पहाड़वाली घटना को जोड़ा है। इसी प्रकार योगी कुमारगिरि का राज्यसभा में अपने आत्मबल के द्वारा सबको प्रभावित करनेवाली घटना भी ऐसी नहीं है जिसे सरलता से बुद्धि स्वीकार करे। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का बीजगुप्त के समक्ष मस्तक झुकाना, न केवल अनैतिहासिक या मर्यादा के विपरीत है, वरन् उपन्यास की स्वभाविकता पर भी आघात करता है। उपन्यास घटना-बहुल नहीं है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से भी इसे हिन्दी उपन्यास जगत् में एक 'लैन्ड-मार्क' माना जा सकता है। इसमें स्थान, काल और कार्य की एकता अपूर्व ढंग से समन्वित मिलती है, जो उपन्यास का एक बड़ा गुण माना जा सकता है।[1] पाटलिपुत्र ही 'चित्रलेखा' के सम्पूर्ण कथानक की प्रधान घटनाओं की रंगस्थली है। एकवर्ष के समय में ही सम्पूर्ण कथा का प्रसार सीमित है और पाप का पता लगाना ही उपन्यास का प्रधान कार्य है। अतएव 'टेकनीक' की कसौटी पर भी उपन्यास एकदम खरा उतरता है।

चित्रलेखा और थाया

अनातोले फ्रांस की 'थाया' और 'चित्रलेखा' में कुछ समता का सूक्ष्म आभास मिलता है। लेकिन दोनों उपन्यासों के कथानक, दर्शन एवं देश-काल में पर्याप्त अन्तर है। दोनों उपन्यासो के जीवन-दर्शन की प्रेरणाएँ अलग-अलग हैं। भारत में 'गीता' का दार्शनिक संदेश यह है कि अनासक्त कर्म, योग से बढ़कर है। इसी प्रकार अनासक्त भोग, भोग नहीं होता। बीजगुप्त भी ऐसा ही अनासक्त भोगी है, जिसे 'चित्रलेखा' में दिखाने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु 'थाया' का सन्देश ईसाई धर्मानुमोदित है; यदि पापी मनुष्य पाप करने के बाद उस पर विशुद्ध मन से पश्चाताप करे और अपने

---

१. 'Unity of place, unity of time, unity of action !'

को पाप से अलग रखे, तो उसे ईश्वर अवश्य क्षमा कर देता है। इसी सिद्धान्त को 'थाया' द्वारा प्रकट करने की चेष्टा की गई है।

दोनों ही उपन्यासों में पाप-पुण्य की अपने ढंग से व्याख्या की गई है। एक और विचित्र समता मिलती है। दोनों ही उपन्यासों में योगी का पतन और भोगी का उत्थान दिखाया गया है।

मुख्य अंतर यह है कि 'चित्रलेखा' में प्राचीन सामाजिक पृष्ठभूमि है, और 'थाया' में केवल दार्शनिक। अभौतिक घटनाओं, स्वप्नों और उनकी विवेचना के कारण 'थाया' सामाजिकता की परिधि से हटकर, दार्शनिकता की रंगभूमि में पहुँच जाती है।

अनातोले फ्रांस ने योगी की भोग-लिप्सा का क्रमशः विकास दिखाया है और भोगी को योगी के रूप में परिवर्तित कर चित्रित किया है। वर्माजी का योगी कुमारगिरि अन्त में योगी ही रहता है और भोगी बीजगुप्त भी योग की ओर आकृष्ट न होकर, प्रेयसी चित्रलेखा को गले लगाता है। कुमारगिरि और पफ्नूशियस में वासना के दमन के असफल प्रयास को हम देख सकते हैं। कुमारगिरि में पफ्नूशियस जैसा दृढ़ विश्वास नहीं है। वह पग-पग पर डरता है। चित्रलेखा को दीक्षा देने में भी भयभीत होता है। इसके विपरीत पफ्नूशियस स्वयं थाया को दीक्षा देने के लिये निकलता है। उसका मित्र पैलिमान उसे अपनी जगह छोड़ने को मना करता है। पर पफ्नूशियस 'ईश्वर मेरी रक्षा करेगा' इसी विश्वास के साथ आगे बढ़ता है। तिमोक्लिस के विरोध एवं निशियस की चेतावनी का भी उस पर असर नहीं पड़ता।

चित्रलेखा की भाँति थाया भी परिस्थितियों के आवर्त में पड़कर नर्तकी बनी थी। थाया पियक्कड़ और व्यभिचारी माता-पिता के पीड़न से व्यथित होकर भाग जाती है। नृत्य सीखती है और अन्त में परिस्थितिवश सबको आत्मसमर्पण कर देत है। लेकिन इस पतन की प्रेरक शारीरिक वासना न थी, केवल परिस्थितियों से वह विवश थी। थाया बिल्कुल निष्क्रिय रहती है। वह पफ्नूशियस के प्रति आकृष्ट नहीं होती, और न तर्कशील ही है। उसके पाप-पूर्ण जीवन में पफ्नूशियस आता है, उसे पापों को दिखा देता है। वह बदल जाती है। थाया किसी से प्रेम नहीं करती। वह श्रद्धा-विह्वल हो पफ्नूशियस के सामने आत्मसमर्पण कर देती है और इस प्रकार अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मिटा देती है, लेकिन प्रेम नहीं करती। चित्रलेखा तो स्पष्ट कहती कि वह कुमारगिरि से प्रेम करती है। चित्रलेखा दीक्षा के बाद भी अपने व्यक्तित्व से कुमारगिरि पर शासन करती है। चित्रलेखा का व्यक्तित्व थाया से अधिक दृढ़ और मनोबल अधिक सबल है। कुमारगिरि के पतन में चित्रलेखा निष्क्रिय नहीं रहती।

पफ्नूशियस का मानसिक द्वन्द्व सुन्दर ढंग से लेखक ने चित्रित किया है। न चाहते हुए भी उसके मन में पाप का निवास होने लगता है। लेकिन पतित होने पर भी उसका अहंभाव तिरोहित नहीं होता।

संक्षेप में 'चित्रलेखा' और 'थाया' में यही समता और विषमता है।

चरित्र-चित्रण

उपन्यास के सभी पात्र कलाकार की सृष्टि न होकर उसकी दृष्टि का अनुसरण करते जान पड़ते हैं। सभी पात्र वर्माजी की भावनाओं के वाहन हैं। प्रत्येक पात्र तर्कशील हैं। समस्या के विभिन्न पहलू को उभारने के लिये, दर्शन के किसी विशेष दृष्टिकोण का समर्थन करनेवाले, कठपुतली सदृश पात्रों का लेखक ने निर्माण किया है। उनका अपना स्वतत्र व्यक्तित्व नहीं है। लेखक ने प्रतीकवत् पात्रों को रखा है। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाँति 'चित्रलेखा' के पात्रों की बड़ी भीड़ नहीं लगी है। विभिन्न वर्गों के पात्र न लेकर, लेखक ने कुछ ही गिने-चुने पात्रों को लिया है। उनकी जिंदगी के भी पूरे बहाव को न दिखाकर, जीवन के कुछ महत्वपूर्ण लहमों को पूरी बारीकी के साथ दिखाया है। चित्रलेखा के पात्र 'वर्गीय' (types) न होकर, वैयक्तिक स्पन्दनों से पूर्ण हैं, लेकिन उनका व्यक्तित्व भी साँचे में कसा हुआ है, अतएव मुर्झा गया है।

चित्रलेखा

यह उपन्यास के सम्पूर्ण कथानक की केन्द्रीय धुरी है। व्यक्तित्व बड़ा सबल है। नर्तकी होते हुए भी विदुषी है। जीवन के कठोर अनुभवों ने उसे संसार को परखने की सूक्ष्मदर्शिता दी है। वह केवल अपने से सबल व्यक्ति के समक्ष ही झुक सकती है। उसकी जीवन-गाथा अत्यंत करुण है। उसके चरित्र का विकास परिस्थितियों के आवर्त में पडकर होता है।

अठारह वर्ष की अल्पायु में ही वह विधवा हो गई। कृष्णादित्य ने उसके जीवन में प्रवेश किया। उसका संयम टूट गया। सुन्दरी चित्रलेखा का दबा हुआ यौवन विकसित हो गया, विराग का तेज उल्लास की चमक से दब गया। कृष्णादित्य ने समाज से अपमानित होकर मृत्यु का वरण किया। गर्भवती चित्रलेखा ने एक नर्तकी के यहाँ आश्रय पाया। पुत्र हुआ और होकर मर गया। चित्रलेखा ने संगीत और नृत्य की शिक्षा पाई। उसका कण्ठ कोमल था और शरीर सुन्दर।

पाटलिपुत्र का जन-समुदाय उसके कृपा-कटाक्षों की कामना करता। चित्रलेखा नर्तकी तो बनी, लेकिन वेश्या जीवन को नहीं अपनाया। उसके जीवन में फिर बीजगुप्त आया। उसके सबल व्यक्तित्व के समक्ष वह झुकती है। रत्नाम्बर भी चित्रलेखा को पवित्र नर्तकी के रूप में जानते हैं। अर्ध-रात्री को बीजगुप्त के केलि-गृह में चित्रलेखा को देखकर उन्हें भी आश्चर्य होता है। बीजगुप्त उसे अपनी पत्नी के समान मानता है अतएव श्वेतांक को स्वामिनी के रूप में परिचय देता है।

चित्रलेखा जीवन को एक अविकल पिपासा मानती है। उसे तृप्त करना जीवन का अन्त कर देना समझती है। वह श्वेतांक से स्पष्ट कह देती है—'श्वेतांक,

यह याद रखना कि तुम्हारे जीवन में मेरा आना असम्भव है।...मैं संसार में केवल एक मनुष्य से प्रेम करती हूँ और वह बीजगुप्त है।'[1]

वह श्वेतांक से एक बड़ी बहन की ममता रखती है। विदुषी चित्रलेखा न केवल तर्कशील स्त्री है वरन् उसमें स्वाभिमान भी कूट-कूट कर भरा हुआ है। वह कुमारगिरि को 'प्रकाश पर लुब्ध पतंग को अन्धकार का प्रमाण' कहकर, उसका उपहास करना चाहती है, परन्तु उसके रूप का दर्प उस इन्द्रियजीत योगी के आगे आहत होता है। रूपगर्विता के हृदय पर ठेस लगती है। योगी कुमारगिरि को डिगाने की भावना एक अभिमानिनी नारी की प्रतिहिंसा ही है। राज-दरबार में विजयी योगी कुमारगिरि को चित्रलेखा ही पराजित करती है। लेकिन वस्तुतः चित्रलेखा के जीवन को योगी ने बुरी तरह प्रभावित कर दिया था। वह स्वीकार करती है—'तुम मेरे आराध्य-देव हो!'[2]

चित्रलेखा यह रहस्य श्वेतांक से नहीं, बीजगुप्त से छिपाती है। वह स्पष्ट स्वीकार करती है कि कुमारगिरि ने उसके जीवन को बुरी तरह प्रभावित कर दिया है। कुमारगिरि उसके जीवन का प्रधान अभिनेता बन गया है। और—'मैं कुमारगिरि से प्रेम करने लग गई हूँ। मुझे ऐसा अनुभव होता है मानो मेरा और कुमारगिरि का युग-युगांतर का सम्बन्ध है।...हम दोनों जन्म जन्मान्तरों में बराबर साथ रहे हैं!'[3]

वस्तुतः चित्रलेखा भोगवादी पात्र है। अपने सुख एवं तृप्ति के अनुकूल ही बराबर तर्क एवं दर्शन में परिवर्तन करती जाती है। सर्वप्रथम चित्रलेखा के लिये प्रेम ईश्वरीय था। पति ही उसका सर्वस्व था। आत्मबलिदान में ही उसे सुख एवं तृप्ति प्राप्त हुई। इसके बाद कृष्णादित्य के प्रति मन अनुरक्त हुआ। अब प्रेम दैवी न होकर, प्राकृतिक बन गया। इसमें आत्मविस्मरण और पिपासा का उसने अनुभव किया। बीजगुप्त के साथ प्रेम कर उसने मादकता का अनुभव किया। मदिरा-सेवन भी शुरू कर दिया। कुमारगिरि की ओर फिर वह आकर्षित हुई। इस बार बीजगुप्त के रहते हुए ही वह कुमारगिरि से प्रेम करने लगी। अतएव वह प्रेम को परिवर्तनशील मानती है। अपने को सन्तोष देने के लिए जन्म-जन्मान्तर का प्रेम-सम्बन्ध वह कुमारगिरि से जोड़ती है। फिर यह तर्क भी अकाट्य ही है—'बीजगुप्त को सुखी बनाना मेरा कर्त्तव्य है, उसे मुक्त कर देना ही मेरा महान त्याग होगा और उसके जीवन को सार्थक बनाना होगा। मुझे बीजगुप्त को छोड़ देना ही पड़ेगा, सदा के लिये छोड़ देना पड़ेगा!'[4]

संसार को धोखा देने के लिये कितना आकर्षक बहाना था, परन्तु जैसे ही योगी महिमा के शिखर से च्युत हुआ, वैसे ही नारी का सारा आकर्षण समाप्त हो गया। स्त्री अपने से निर्बल मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकती। जिस मनुष्य पर उसने

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ २९, २. वही—पृष्ठ ५९, ३. वही—पृष्ठ ६८, ४. वही—पृष्ठ ९८।

अधिपत्य जमा लिया वह उसके प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। बीजगुप्त के प्रति वह समभाव से बराबर इसीलिये आकर्षित रही, क्योंकि वह कभी उसके समक्ष दयनीय या छोटा न बना। अन्त में चित्रलेखा अपने देवता बीजगुप्त के चरणों में आश्रय पाती है और क्षमा-दान भी।

चित्रलेखा के चरित्र में सबलताएँ और दुर्बलताएँ दोनों हैं। वह आत्मसम्मान से पूर्ण, जीवन की वास्तविकताओं के प्रति जागरूक, अनुभवी और विदुषी महिला है। उसकी तर्क-शक्ति अपूर्व एवं वाक्-चातुरी अद्भुत थी। वह रूपगर्विता ही नहीं, वरन् स्वाभिमान से पूर्ण नारी है। वह अपना या कला का अपमान नहीं सह सकती। व्यंग करने में भी वह कुशल है।

वर्माजी के उपन्यासों में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' को छोड़कर प्रधान रूप से स्त्री-समस्याओं को अपनाया गया है। नारी सदैव 'भोग्या' रूप में चित्रित हुई है। प्रकृतवादी अभिव्यंजना-शैली के कारण, नारी केवल 'स्त्री' छोड़कर और कुछ नहीं है। चित्रलेखा भी अथ से इति तक केवल 'स्त्री' है, पुरुष की भोग्या।

बीजगुप्त

बीजगुप्त मूर्तिमान अनुराग है। आमोद-प्रमोद ही उसके जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी। रत्न-जटित मदिरा के पात्रों में ही उसके जीवन का सारा सुख है। उसमें सौंदर्य है, और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओं का निवास। ईश्वर पर उसे विश्वास नहीं है और स्वर्ग तथा नरक की उसे कोई चिन्ता नहीं। उसमें स्वाभिमान एवं दृढ़ता चित्रलेखा से अधिक है। इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर चित्रलेखा उसके जीवन में आती है। बीजगुप्त उस नर्तकी को पत्नी रूप में ग्रहण करता है।

बीजगुप्त क्षमाशील भी है। वह श्वेतांक की उच्छृङ्खलता को विशुद्ध मन से क्षमा कर देता है। वह मनुष्य को परिस्थितियों का दास समझता है। उसके अनुसार अपराध कर्म में होता है, विचार में नहीं। वह दूरदर्शी भी है। योगी कुमारगिरि और चित्रलेखा के प्रथम मिलन के अवसर पर ही वह भविष्य का अनुमान कर लेता है। वह चित्रलेखा से कहता है—'हृदय पर एक प्रकार का भार सा मालूम होता है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानों हम दोनों के जीवन पर दुःख के बादल मँडरा रहे हैं। चित्रलेखा! कुमारगिरि योगी है और संभवतः उसमें आकर्षण शक्ति भी है!'[१]

इसीप्रकार राज-दरबार में चित्रलेखा जब कुमारगिरि को पराजित करती है, तब बीजगुप्त श्वेतांक से कहता है—'मनुष्य स्वतंत्र विचारवाला प्राणी होते हुए भी परिस्थितियों का दास है। और यह परिस्थिति-चक्र क्या है पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान है। मनुष्य की विजय वहीं सम्भव है जहाँ वह परिस्थितियों के चक्र में पड़ कर

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ३९।

उसीके साथ चक्कर न खाय, वरन् अपने कर्तव्याकर्तव्य का विचार रखते हुए उस पर विजय पाये। चित्रलेखा परिस्थितियों के चक्र में पड़ गयी है, कुमारगिरि का उसके जीवन में आना उसके लिये घातक है और उसका कुमारगिरि के जीवन में आना कुमारगिरि के लिये घातक है। दुर्भाग्यवश दोनों ही एक दूसरे के जीवन में बिना जाने हुए अपनी-अपनी साधनाओं को भ्रष्ट करने के लिये आ गये हैं—भगवान ही उनकी सहायता कर सकता है।'[1]

बीजगुप्त प्रेम को सागर की भाँति गम्भीर और अपरिवर्तनशील मानता है। वह प्रेम को आत्मिक एवं वासना से श्रेष्ठ मानता है। उन्माद और ज्ञान में जो भेद है वही वासना और प्रेम में है। वह स्त्री-पुरुष के चिर-स्थायी सम्बंध को ही विवाह मानता है। वह स्पष्टवादी है। आर्यश्रेष्ठ मृत्युञ्जय से स्पष्ट कह देता है कि यद्यपि शास्त्रानुसार चित्रलेखा से विवाह नहीं हुआ है, फिर भी वह उसकी पत्नी है। चित्रलेखा के अतिरिक्त संसार की कोई दूसरी स्त्री उसके प्रेम की अधिकारिणी नहीं हो सकती।

वह श्वेतांक को अपना सेवक नहीं, गुरुभाई मानता और कहता है। वह उसके मनोभावों को भी भली प्रकार पहचानता है।

यशोधरा में बीजगुप्त ने एक आकर्षण का अनुभव किया। लेकिन उसमें पवित्रता तो थी, जीवन की हलचल नहीं। वह एक प्रतिमा सदृश थी जिसे हृदय-मंदिर में बिठला कर पूजा जा सकता था, लेकिन उसमें वह मादकता न थी जो रगों में बहनेवाले रक्त को उष्ण बना दे। और 'इसीलिए बीजगुप्त के हृदय में यशोधरा की स्मृति एक भय-मिश्रित सुख—एक भ्रम मिश्रित अनुराग—एक जीवन हीन प्रेम के रूप में थी!'[2]

चित्रलेखा बीजगुप्त के जीवन से बिना उसकी इच्छा के चली गई थी, यशोधरा उसके जीवन में बिना उसकी इच्छा के आ गई थी। बीजगुप्त के लिये यह एक विकट समस्या थी। वह सब कुछ भुलाने के लिये काशी-यात्रा करता है। यशोधरा अपने पिता के साथ ही इस यात्रा में उसके साथ चल पड़ती है। काशी में भी बीजगुप्त को मनोवांछित शान्ति प्राप्त नहीं हुई। वह पुनः पाटलिपुत्र लौटता है।

अब वह यशोधरा को अपनाना चाहता है। अपने जीवन के सूनेपन से वह ऊब उठा है। श्वेतांक अपनी अभिलाषा व्यक्त करता है। बीजगुप्त अपने दुर्भाग्य पर उद्विग्न हो उठता है। अन्त में वह निश्चय करता है—'मुझे कोई अधिकार नहीं कि मैं श्वेतांक का जीवन दुःखमय बनाऊँ। दूसरों के सुख में बाधक होना—केवल अपने सुख की आशा पर कायरता है, नहीं नीचता है!'[3]

यहीं बीजगुप्त के चरित्र का उज्ज्वल एवं त्यागमय रूप प्रकट होता है। वह श्वेतांक के सुख के लिये अपनी सुख-सुविधाओं एवं खुशियों का सहर्ष बलिदान करता है। अपना सब कुछ श्वेतांक को सौंपकर, त्यागी बीजगुप्त जीवन-पथ पर एक भिखारी के सदृश्य निकल पड़ता है। चित्रलेखा उसके चरणों पर गिरती है। विशाल-हृदय

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ७२, २. वही—पृष्ठ ११८, ३. वही—पृष्ठ १९५।

बीजगुप्त अपने जीवन के सबसे बड़े अभिशाप को भी विशुद्ध मन से क्षमा कर देता है। वह पतिता चित्रलेखा को भी एक भिखारिणी के रूप में ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार संसार की दृष्टि में त्यागी बीजगुप्त एक देवता की भाँति महान् बन जाता है।

बीजगुप्त के चरित्र द्वारा वर्माजी ने दिखाया है कि जिसे संसार पापी समझता है, वह वस्तुतः योगी से भी महान होता है। परिस्थितिवश वह भी महान त्यागी बन सकता है। बीजगुप्त में कुमारगिरि से अधिक मानवता थी। उसका हृदय विशाल एवं उदार था। वैभव के रस में डूबे रहने पर भी उसका हृदय कमल के सदृश जल से अछूता था। भोग करते हुए भी वह भोगों से बँधा नहीं था। बीजगुप्त के जीवन का आदर्श उच्च नहीं था। वैभव का पुतला होते हुए भी समय पड़ने पर वह त्याग करने से पीछे नहीं हटता। लेखक के दर्शन की छाप उस पर लगी हुई है। लेखक की अनुभूति ही नहीं, वरन् सहानुभूति भी उसे प्राप्त है। समस्या-उपन्यास की सीमाओं ने बीजगुप्त के व्यक्तित्व को खुलकर खिलने से रोका है।

कुमारगिरि

वह योगी है। संसार से उसे विरक्ति है। उसमें तेज है और प्रताप है, उसने ममत्व को वशीभूत कर लिया है। युवा कुमारगिरि में शारीरिक और आत्मिक दोनों बल हैं। संयम उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य! उसने वासनाओं को दबा लिया है क्योंकि वासनाओं के वशीभूत होकर ही मनुष्य पाप करता है। वह सुखी था। उसके जीवन की अकर्मण्यता पर ज्ञान और विचार का आवरण था।

उसे अपने ज्ञान पर गर्व था। वह विशालदेव से कहता है कि तुम्हें पुण्य का रूप दिखला दूँगा और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे। उसका अहंकार महाप्रभु रत्नाम्बर की अवहेलना करने से भी नहीं हिचकता। वह विशालदेव से कहता है—'भ्रम में पड़े हुए गुरु के शिष्यों में भ्रमों का होना स्वाभाविक ही है!'[1]

कुमारगिरि के अनुसार स्त्री अंधकार है, मोह है, माया है और वासना है। ज्ञान के आलोकमय संसार में स्त्री का कोई स्थान नहीं है। वही योगी स्त्री के निकट रहने पर उसमें एक आकर्षण-शक्ति का अनुभव करता है। अनुराग विराग को पराजित करता है। निराकार की साधना करनेवाला इन्द्रियजीत योगी, साकार के स्वरूप पर मोहित होकर न केवल असत्य एवं छल का ही आश्रय ग्रहण करता है, वरन् पशु-तुल्य हो उठता है।

परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़कर कुमारगिरि का संयम स्खलित होता है, उसका गर्व-खर्व होता है। वह पशु बन जाता है और बीजगुप्त देवता। समस्या को उभारने के लिये ही लेखक ने दो विरुद्ध प्रकृति के सबल पात्रों की अवतारणा की है। कदाचित् इसी उद्देश्य से कुमारगिरि का इतना पतन लेखक ने दिखाया है। वस्तुतः कुमारगिरि

1. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ २३।

का चित्रलेखा के लिये मोह, उसके हृदय का द्वन्द्व और उसका पतन दिखाकर लेखक ने उसे अतिमानव होने से बचा लिया है। उसके चरित्र के दोनों पक्ष प्रकाशपूर्ण एवं अन्धकारमय लेखक ने एक सजग कलाकार की भाँति दिखाये हैं।

कुमारगिरि पलायनवादी है। इस संसार से विमुख वह केवल सुख और शान्ति की लालसा से होता है। वह कर्मक्षेत्र से विमुख हो अकर्मण्य जीवन व्यतीत कर रहा है, कदाचित् इसीलिये उसे लेखक की सहानुभूति भी प्राप्त नहीं है।

श्वेतांक

सम्पूर्ण उपन्यास में मानव जीवन की वास्तविक झलक यदि किसी पात्र में मिलती है, तो वह श्वेतांक है। उसके चरित्र की सबलताएँ एवं दुर्बलताएँ एक साधारण मानव की भाँति हैं। वह दार्शनिकता के घेरे से बाहर है, अतएव अधिक यथार्थ जीवन के निकट है। ब्रह्मचारी श्वेतांक स्त्री के सौन्दर्य एवं मादकता के समक्ष पराजित होता है। लेकिन चित्रलेखा की ताड़ना से उसका उन्माद शान्त हो जाता है। वह अपने स्वामी बीजगुप्त से अपराध के लिये दण्ड माँगता है। बीजगुप्त उसके सारल्य एवं अनुभवहीनता पर पसीज कर, उसे क्षमा कर देता है।

यशोधरा की ओर उसका मन अनुरक्त होता है। बीजगुप्त के प्रति यहीं ईर्ष्या-भाव उसमें उत्पन्न होता है। वह उसकी निन्दा करने से भी नहीं हिचकता। आवेश में एक दिन उसके मुख से स्वामी के प्रति 'नाश हो' निकल पड़ता है। वह चित्रलेखा को दिये हुए अपने वचन का पालन करता है। अन्त में बीजगुप्त के त्याग से उसकी कुँआरी अभिलाषाओं की माँग में सिन्दूर पड़ता है। वह स्वामी के प्रति कृतज्ञ हो उठता है, और उनमें देवत्व का दर्शन करता है।

यद्यपि श्वेतांक के चरित्र का पूरा विकास लेखक ने नहीं दिखाया है, क्योंकि वह पीछे उपन्यास की पृष्ठभूमि में पड़ जाता है, फिर भी उसके चरित्र की संवेदनाओं का मानवीय स्वर, हमारे लिये अविस्मरणीय बन गया है।

यशोधरा

आर्यश्रेष्ठ मृत्युञ्जय की नवयुवती सुन्दरी कन्या यशोधरा, अगाध सम्पत्ति की स्वामिनी थी। उसके लज्जाशील यौवन में सुधा और उल्लास की शीतलता थी। उसके सौन्दर्य को देखकर, सुन्दरी चित्रलेखा का सौंदर्याभिमान एवं आत्म-विश्वास डिग गया। दोनों ही उच्च-कोटि की सुन्दरियाँ थीं। एक में मादकता प्रधान थी, दूसरे में शान्ति ! चित्रलेखा यदि जीवन की हलचल थी तो यशोधरा मृत्यु की शांति !

उसके हृदय में बीजगुप्त के प्रति अगाध श्रद्धा थी। बीजगुप्त को भी यशोधरा में आकर्षण का अनुभव होता है। यशोधरा में भारतीय नारी के उत्कृष्ट गुण वर्तमान थे। उसके पास बैठकर मनुष्य पवित्रता को देख सकता था, उसका अनुभव कर सकता था और पवित्र हो सकता था। वह श्वेतांक से स्पष्ट कर देती है कि वह बीजगुप्त से प्रेम नहीं

करती, लेकिन वह बीजगुप्त की निन्दा भी नहीं सुन सकती। वह श्वेतांक को फटकारते हुए कहती है कि मनुष्य वही श्रेष्ठ है जो अपनी कमजोरियों को जानकर उनके दूर करने का प्रयत्न कर सके। और जीवन में संयम की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। स्वयं यशोधरा मर्यादा का सदैव विचार रखती थी। वह बीजगुप्त द्वारा गले में पहनाये हुए हार को उतार कर कहती है—'आर्य बीजगुप्त! मैं बिना अपने पिता की आज्ञा के यह हार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ!'[1]

यशोधरा की जीवन-कथा प्रासंगिक एवं संक्षिप्त है, परन्तु अत्यंत मार्मिक एवं प्रभावपूर्ण है। सोद्देश्यता के कारण चरित्र का स्वतंत्र विकास नहीं मिलता।

'चित्रलेखा' उपन्यास में कुछ और पात्र है—महाप्रभु रत्नाम्बर, विशालदेव, मृत्युञ्जय, चाणक्य एवं सम्राट चन्द्रगुप्त। सभी पात्र प्रतीकवत् हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु उपन्यास के प्रमुख पात्रों के चरित्र पर ये सहायक पात्र प्रकाश डालते हैं, और इसीलिये इनका महत्त्व भी है।

कथोपकथन

इसके संवाद भी लघु हैं, लेकिन अर्थ-पूर्ण। उनसे दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाई गई हैं। संवाद बुद्धि-प्रधान हैं। चरित्र को उभारनेवाले संवाद कम हैं। फिर भी उसमें नाटकीय रसमयता है। संवादों में बड़ी सजीवता तथा चुस्ती है। प्रेम की मादकता, आस्था सम्बंधी चित्रलेखा और बीजगुप्त के संवाद अत्यंत रोचक हैं। जैसे—

'बीजगुप्त ने कहा—चित्रलेखा! जानती हो जीवन का सुख क्या है?

उसने उत्तर दिया—मस्ती।'

× × ×

'बीजगुप्त हँस पड़ा—सोच रहा हूँ चित्रलेखा, यौवन का अंत क्या होगा?

'जीवित मृत्यु!'

× × ×

'बीजगुप्त ने कहा—तुम मेरी मादकता हो!

चित्रलेखा ने उत्तर दिया—और तुम मेरे उन्माद हो।'[2]

इसीप्रकार गुरु-शिष्य के पांडित्यपूर्ण कथोपकथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

'मधुपाल ने पूछा—देव, संयम का लक्ष्य क्या है?

कुमारगिरि—शांति! और शान्ति जनित आनन्द!

मधुपाल—'देव! संसार की वास्तविक गति क्या है?'

'बाह्य दृष्टि से परिवर्तन, और आन्तरिक दृष्टि से शून्य।.........संसार क्या है? शून्य है। और परिवर्तन उस शून्य की चाल है। परिवर्तन कल्पना है, और कल्पना स्वयम् ही शून्य है।...'[3]

× × ×

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ १७८, २. 'वही'—पृष्ठ ९-१०, ३. वही—पृष्ठ १९।

वर्माजी के संवादों की एक बड़ी विशेषता है, ऊँची से ऊँची दार्शनिक बात भी सरल ढंग से पात्रों से कहला देते हैं। जैसे—

'चित्रलेखा—श्वेतांक! तुम अब भी नहीं समझ सके। पिपासा तृप्त होने की चीज नहीं। आग को पानी की आवश्यकता नहीं होती, उसे घृत की आवश्यकता होती है जिससे वह और भड़के। जीवन एक अविकल पिपासा है। उसे तृप्त करना जीवन का अन्त कर देना है।...'[1]

× × ×

'और संयम का लक्ष्य क्या है?'

'सुख और शान्ति।'

'और जीवन का लक्ष्य?'

'सुख और शान्ति!'

'यहीं पर तुम भूलते हो नवयुवक।...सुख तृप्ति है और शान्ति अकर्मण्यता। पर जीवन अविकल कर्म है, न बुझनेवाली पिपासा है। जीवन हलचल है, परिवर्तन है और हलचल तथा परिवर्तन में सुख और शान्ति का कोई स्थान नहीं!'[2]

उपन्यास में संवादों के माध्यम से एक विशिष्ट ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि की गई है। संवादों में प्रयुक्त सम्बोधन भी मर्यादासूचक हैं। जैसे—'प्रहरी ने आकर सूचना दी—'प्रभु! स्वामिनी का रथ द्वार पर प्रभु की प्रतीक्षा कर रहा है।' इस छोटे से संवाद द्वारा ही उस युग के शिष्टाचार पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। और यह भी संकेत मिलता है कि उस युग में रथों का प्रचलन था। अतएव स्पष्ट है कि उपन्यास के संवाद द्वारा भी लेखक ऐतिहासिक वातावरण को सजीव रूप से प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सफल हुआ है।

भाषा-शैली

'चित्रलेखा' में वर्णन-प्रणाली उत्कृष्टकोटि की है। भाषा पात्रानुकूल एवं सरस है। उपन्यास के गम्भीर वातावरण के अनुकूल ही भाषा सरस, सौम्य, सरल एवं मृदु तथा प्रवाह रोचक है। वर्माजी का कवि-रूप भाषा-प्रवाह के बीच संगीतमय गूँज के रूप में वर्तमान है। जैसे—

'उसके सिर का वस्त्र खिसक गया था और उसके सिर के बाल अंधकार की भाँति काले थे। उन बालों में गुँथी हुई मोतियों की माला प्रकाश की भाँति चमक रही थी।...चित्रलेखा का यौवन उन्माद का प्रतिबिम्ब था, उसके अरुण कपोलों पर लाली थी, उसके अधर मन्द मुसकान के पराग से भींगे हुए थे...।'[3]

वर्णन-शैली का एक और उदाहरण देखिये—'आभूषणों की झंकार में एक प्रकार का विचित्र संगीत था। धर्म का नीरस तथा शुष्क वायुमण्डल पराग से भरे सौंदर्य की मस्ती से विकम्पित हो उठा, काँपती हुई उषा के धुँधलेपन को चीरते हुए मानों

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ २६, २. वहीं—पृष्ठ २७-२८, ३. वही—पृष्ठ २७।

प्रातःकालीन सूर्य के अरुण-प्रकाश ने प्रवेश किया। हेमन्त के शीतल तथा शुष्क वायु में मधुमास के हलके ताप और मतवाले सौरभ का समावेश हुआ।...'[1]

प्रकृति-वर्णन में शब्द-चयन अत्यंत मधुर मिलता है। जैसे—'सौरभ से भरा मधुमास था, कम्पन से भरा मलय था, चाँदनी हँस रही थी, तारकावली मुसकरा रही थी!'[2]

कहीं-कहीं वाक्य दोष भी मिलता है। जैसे—'मृत्युञ्जय को कुमारगिरि का स्वागत करने के लिये नृत्य को बन्द कर देना मेरा अपमान नहीं है, तो क्या है?'[3]...; 'वह बहुत ऊँचे कोटि की स्त्री है!'[4]

डा० धीरेन्द्रवर्मा के शब्दों में—'स्वर्गीय प्रेमचंदजी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की ग्रामीण तथा निम्न श्रेणी की जनता की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरणजी ने अपनी आकर्षक शैली में पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बंध में उनके उलझे हुए मस्तिष्कों की ओर आकर्षित किया है।'[5]

देश-काल

'चित्रलेखा' में देश-काल की अभिव्यक्ति सुंदर तथा प्रसंगानुकूल है। चन्द्रगुप्त के मौर्यकालीन भारत का आधार लेखक ने लिया है। मौर्यकालीन भारत की राजनीति, शासन, संगीत, समाज, उत्सव, परम्परा, राज्य में सामंतों का स्थान, नारी-पुरुष का सम्बंध, अतिथि-सेवा आदि अनेक बातें यथास्थान वर्णित एवं चित्रित हैं। मध्ययुगीन विलास और ऐश्वर्य का जीवन बीजगुप्त द्वारा चित्रित है। राज्य-सभा में होनेवाले वादाविवाद का सजीव चित्रण किया है। कुमारगिरि का सम्मोहन एवं व्यक्तित्व उस युग के मनीषियों का परिचायक है। काशी मौर्यकाल में विद्या का केन्द्र बन चुकी थी।

वस्तुतः एक कल्पित कहानी में ऐतिहासिकता का रंग भरने के लिये उपर्युक्त पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ी। समसामयिक वातावरण के चित्रण में वर्माजी सतर्क एवं सफल रहे हैं। नागरिकों की वेष-भूषा, उनका रहन-सहन, उनका वार्तालाप, इनके चित्रण में गुप्तराज्य की मर्यादा का भी लेखक ने विचार रखा है। उस समय के प्रचलित उत्तराधिकार नियम, समाज में 'धन' की महिमा एवं विवाह आदि संस्कारों का महत्त्व भी दिखाया है। एक स्थल पर सम्राट का बीजगुप्त के समक्ष मस्तक झुकाना, तनिक मर्यादा के विपरीत लगता है।

'चित्रलेखा' समस्या-मूलक उपन्यास है। अतएव इतिहास का चित्रण लेखक का उद्देश्य नहीं है। चाणक्य के संवाद, बीसवीं सदी के प्रगतिशील चाणक्य के विचार लगते हैं। बीजगुप्त जो प्रकृति में अपूर्णता का दर्शन करता है, यह मशीनी-युग के व्यक्ति के विचार लगते हैं, जिसकी आँखों के समक्ष औद्योगिक क्रान्ति हुई

---

१. 'चित्रलेखा'—पृष्ठ ४४, २. वही—पृष्ठ ५४, ३. वही—पृष्ठ ८६, ४. वही—पृष्ठ १००, ५. 'विचारधारा'—पृष्ठ १८८।

है। मृत्युञ्जय सामन्तयुगीन संस्कृति के साथ-साथ आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी दृष्टि में 'धन' ही सबसे बड़ा गुण है। वस्तुतः लेखक अपने युग का प्रतिनिधि होता है।

वर्माजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'चित्रलेखा', 'तीन-वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाँव' और 'टूटे खिलौने' हैं। उनकी विशेष ख्याति 'चित्रलेखा' के कारण ही हुई। संभवतः 'चित्रलेखा' में वर्माजी ने समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है, वह कुछ लोगों को त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो, अतएव ऐसे लोगों को 'चित्रलेखा' पढ़ते समय वर्माजी की ये पंक्तियाँ भी स्मरण रखनी चाहिये—"जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ, जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ, जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत उतरें और मुझे स्वयं अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवन के लिये कुछ आदर्श तो चाहिये ही!"[1]

'चित्रलेखा' हिन्दी का एक श्रेष्ठ युगान्तरकारी समस्या-मूलक उपन्यास है।

———

१. 'हमारी उलझन' (लेख-संग्रह)—'विचार विनिमय'—पृष्ठ ३०।

गोदान

उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का चरम-विकास 'गोदान' में परिलक्षित होता है। 'गोदान' प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसका सामाजिक चित्रपट बहुत व्यापक है। कुछ विद्वान् समालोचक इसे 'राष्ट्रीय महाकाव्य' बताते हैं, जिसमें भारत का बदलता हुआ गतिशील चित्र मिलता है। इसकी तुलना तालसताय के प्रसिद्ध (epic Novel) उपन्यास 'वार एण्ड पीस' (War and Peace) से की जाती है। इससे सहज ही इस युगान्तरकारी उपन्यास का महत्व समझा जा सकता है। 'गोदान' हिन्दी में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है।

'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने अपने युग का व्यापक चित्रण किया है। जिस समय 'गोदान' लिखा जा रहा था, भारत में तेजी से आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे। बढ़ती हुई जन-संख्या के कारण ग्रामों में भूमि पर अधिक भार पड़ रहा था। संयुक्त परिवार का प्राचीन ढाँचा टूटकर बिखर रहा था। भूमि का विभाजन एवं उपविभाजन बढ़ता जा रहा था। महाजन, जमींदार एवं बिरादरी के मुखिया—कृषक के रक्त का चतुर्मुखी शोषण कर रहे थे। अभाव की गोद में पलनेवाले कृषक के सूखे माँस-पिण्ड एवं अस्थि-पंजर के ढाँचे को नोचने एवं तोड़ने के लिये, सभी 'स्वार्थी' गिद्ध-दृष्टि लगाये बैठे थे।

गाँव के बँधे वातावरण से घबराकर कृषक, नगर की ओर भागता है। रेगिस्तान में भटकते प्यासे मृग के लिये, नगर जल से लहराता हुआ शीतल सरोवर नहीं है, केवल मृग-मरीचिका है। नगर में विलास है, श्री है, उच्छृंखलता एवं उन्माद है, लेकिन इस जन-सागर में भी कृषक की भाग्य गागर रीती रह जाती है।

'जुए' या पगहिया को छुड़ाकर कोई बैल भाग निकले, उसे कितनी प्रसन्नता होगी, यह पशु-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ बतायेंगे। लेकिन दुर्भाग्यवश यदि वह किसी दूसरे 'लोहे के पिंजरे' में बन्दी बन जाय, तो उसकी मर्मान्तिक पीड़ा का हम-आप सभी अनुमान कर सकते हैं। जमींदार एवं सूदखोर महाजन के बन्धनों का 'जुआ', गले से उतारकर कृषक-पुत्र 'गोबर' शहर की ओर जाता है। लेकिन 'आकाश से टपका और बबूल में अटका'!

नगर में शोषण का दूसरा रूप है। वहाँ एक ओर मिल-मालिक पूँजीपति खन्ना ऐसे 'जनता के आदमी' हैं, दूसरी ओर 'गोबर' जैसे अभागे लाखों मजदूर! इनके कष्टों एवं शोषण की कहानी भी, कम दर्दीली नहीं है! ये भी अज्ञानांधकार में भटक रहे हैं, राह ढूँढते हैं। इनकी भुजाओं में शक्ति है, मन में कुछ करने का अरमान मचलता है, लेकिन 'दृष्टि' या 'रोशनी' का अभाव है। इनमें एक ओर आपस में फूट है, दूसरी ओर 'स्वार्थी-वर्ग' के नेतृत्व में यह भोले-भाले श्रमजीवी

पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इनके नेता मजे से गुलछर्रे उड़ाते हैं, ये पुलिस की गोलियाँ एवं डंडे सहने को आगे झोंके जाते हैं।

प्रेमचंद इन अभागे मजदूरों की दीन-दशा से द्रवित होकर कहते हैं—(मेहता के शब्दों में) 'आप के मजूर बिलों में रहते हैं—गंदे बदबूदार बिलों में—जहाँ आप एक मिनट भी रह जायँ, तो आपको कै हो जाय। कपड़े जो वह पहनते हैं, उनसे आप अपने जूते भी न पोंछेंगे। खाना जो वह खाते हैं, वह आपका कुत्ता भी न खायेगा।...'[१]

फूट डालो और शोषण करो, यही बड़े आदमियों की नीति की सफलता का राज है। आधुनिक सभ्यता और संस्कृति का यह जो विशाल-रथ, नीति और धर्म के तथाकथित राजमार्ग पर चलता है, उसमें भारत का निरक्षर, दीन-कृषक बैलों की भाँति जोता जाता है। उसी के कन्धों पर यह सभ्यता का शीश-महल खड़ा है। उस रथ के पहिये, शोषण एवं अत्याचार के बने हैं। जिस इन्सान को अज्ञान की चाबुक से मार-मारकर पूँजीपति समाज के तथाकथित नेताओं ने अधमरा कर दिया है, उसे यह पूछने का भी अधिकार नहीं कि उसकी यह दुर्गति क्यों? इन्सानियत के बदले में यह पशुता का अभिशाप किसलिये! सबसे अधिक दुःख इस बात का है कि उन दो बैलों में भी 'एका' नहीं है। यदि एक अड़ जाता है, तो दूसरा आगे बढ़ते हुए उसे घसीटना आरम्भ कर देता है।

प्रेमचन्द ने दिखाया है कि कृषक-कृषक के बीच फूट है। भाई-भाई का गला काटना चाहता है। पिता-पुत्र में जमीन-आसमान का अंतर है। पति-पत्नी में तीन और छः का नाता है। जहाँ इतनी दरारें पड़ गई हों, वहाँ कल्याण अथवा समृद्धि का पौधा कैसे जमे? बिना इन दरारों को पाटे, बिना एकता के सूत्र में बँधे, हम उस जोर और जुल्म के 'महादानव' से टक्कर नहीं ले सकेंगे। हम अपनी गर्दन कभी न उठा सकेंगे।

सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य के अंदर समाज एवं मानव भावनाओं के अधिक से-अधिक जितने चित्र संभव हो सकते हैं, वे सभी समग्र रूप से 'गोदान' में चित्रित हैं। समाज के इस विशाल चित्रपट के अन्दर पूँजीपति-मजदूर, जमींदार-किसान, प्रोफेसर-व्यापारी, डाक्टर-वकील, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-चमार, पत्र-सम्पादक और नेता आदि सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले जीवन्त पात्र हैं। इस दृष्टि से भी 'गोदान' को हम हिन्दी का युगान्तरकारी उपन्यास मान सकते हैं।

वस्तुतः 'गोदान' में प्रेमचन्द की पुरानी मान्यताएँ बदल गई हैं। न तो इसमें समस्या का कोई सुधारवादी हल पेश किया गया है, न किसी एक समस्या पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है। प्रेमचन्द के पूर्व-लिखित उपन्यासों के साँचे में कसकर इसका अंग-विच्छेद भले ही हो जाय, सही मूल्यांकन तो संभव नहीं लगता। 'गोदान' समग्र रूप से एक प्रश्न-चिह्न है। उसके भीतर कई खंड-चित्र हैं, जो अपने आप

---

४. वही—गोदान—पृष्ठ २९१।

में पूर्ण हैं। 'गोदान' का सौन्दर्य इन समस्त खंड-चित्रों को एक साथ रखकर आँका जा सकता है, टुकड़ों में नहीं। कर्ज की समस्या 'गोदान' में अन्य समस्याओं से कड़ी की भाँति जुड़ी हुई है, लेकिन केवल यही मुख्य समस्या नहीं है।

कथा

इस उपन्यास का नायक होरी है। उसकी पत्नी धनिया का छतीसवाँ साल है, पर बाल सारे पक गये हैं। देह ढल गई है। आँखों से कम सूझता है। सुन्दर गेहुआँ रंग साँवला हो गया है। उसकी छः संतानों में अब केवल तीन जीवित हैं। एक सोलह वर्षीय पुत्र गोबर, दो पुत्रियाँ सोना और रूपा, जो क्रमशः बारह और आठ वर्ष की हैं। दवादारू की व्यवस्था न कर सकने के ही कारण, उसकी संतान चल बसी। धनिया को इसका बहुत दुःख था।

होरी मालिक के तलवे सहलाने में अपना कल्याण समझता है। बीस वर्षों से उसके साथ रहनेवाली पत्नी धनिया इसे व्यर्थ मानती है। उसे अनुभव हो चुका है कि चाहे कितनी कतर-ब्योंत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है। पति-पत्नी दोनों ही श्रमजीवी हैं, परिश्रम से जी नहीं चुराते, लेकिन आपस में प्रायः वाद-विवाद हो जाता है।

चिरकाल से होरी के मन में एक गाय की लालसा संचित थी। वह सोचता है कि गोबर दूध के लिये तरसता है, साल भर भी दूध पी ले, तो देखने लायक हो जाय। फिर गऊ से ही तो द्वार की शोभा है। सवेरे सवेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना! वह अनुभव करता है कि मालिकों से मिलते-जुलते ही रहने का तो यह प्रसाद है कि सब उससे राम-राम करते हैं या चिलम पीने का निमंत्रण देते हैं। नहीं तो, पाँच बीघे के किसान की बिसात ही क्या! इसी समय भोला से उसकी भेंट हो जाती है। भोला को बुढ़ापे में भी मेहरिया चाहिये और होरी को गाय। दोनों का अपना स्वार्थ है। लच्छेदार बातें होती हैं। मानव-मनोविज्ञान का व्यावहारिक पंडित होरी, भोला के मर्मस्थल को स्पर्श कर उसका विश्वास प्राप्त करता है। दोनो के कष्टों की अपनी अलग-अलग कहानी है। एक दूसरे के हमदर्द बन दोनों अलग होते हैं। दोनों की साध पूरी होती दृष्टिगत होती है।

बेलारी गाँव का निवासी होरी, अपने मालिक रायसाहब अमरपाल सिंह के यहाँ सेमरी में पहुँचता है। जेठ के दशहरा के अवसर पर होनेवाले धनुष-यज्ञ की तैयारियों में रायसाहब व्यस्त थे। होरी को देखते ही बोले—'अरे! तू आ गया होरी, मैं तो तुझे बुलानेवाला था। देख, अबकी तुझे राजा जनक का माली बनना पड़ेगा, समझ गया न, जिस वक्त श्री जानकीजी मन्दिर में पूजा करने जाती हैं, उसी वक्त तू एक गुलदस्ता लिये खड़ा रहेगा और जानकीजी की भेंट करेगा।

करना और देख, असामियों से ताकीद करके कह देना कि सब के सब शगुन करने आयें।...'[१]

रायसाहब, होरी से अधिक मानव-मनोविज्ञान के पंडित हैं। राजा जनक के माली में उनकी विशेष दिलचस्पी न होकर असामियों के शगुन के रूपये में है। पाँच-सात दिनों में बीस हजार का प्रबंध करना है। वह यह भी जानते हैं कि असामी जितने मन से असामी की बात सुनता है, कारकुन की नहीं सुनता। रायसाहब अपनी दुःख-कथा सुनाकर होरी का मन जीत लेते हैं। वह सोचता है कि हमारी तरह यह बड़े आदमी भी दुःखी हैं। प्रेमचन्दजी ने अपनी व्यंगात्मक शैली में रायसाहब जैसे समाज के फूले हुए गुब्बारों की पोल खोल दी है।

रायसाहब ने होरी को आदेश दिया कि जलसे के लिये उसके गाँव से पाँच सौ रुपये मिलने चाहिए। होरी अपने गाँव पहुँचता है। नई पीढ़ी का नौजवान पुत्र गोबर उससे प्रश्न करता है—'यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके, तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नज़र-नज़राना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करो!'[२]

होरी यह जानते हुए भी अपने मतलब के लिये सलामी करने जाता है। वह कहता है—'जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी चाहे जो कह लो। पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था, पर अब मालूम हुआ कि हमारी गरदन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़कर निबाह नहीं हो सकता!'[३]

होरी ने अपनी पत्नी को रायसाहब की चिन्ताओं की दास्तान सुनाई। बड़े आदमी होकर भी वे हम गरीबों से ज्यादा दुःखी हैं। उन्हें भी मरजाद का पालन करना पड़ता है। उनकी जान को भी सैकड़ों रोग लगे हुए हैं। हाकिमों को रसद पहुँचाओ, उनकी सलामी करो, अमलों को खुश रखो। गोबर इससे सहमत नहीं है। तब होरी समझाता है—'...छोटे-बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं। सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये हैं, उसका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या?'[४]

गोबर उत्तर देता है—'यह सब मन को समझाने की बातें हैं। भगवान सबको बराबर बनाते हैं। यहाँ जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है!'[५]

होरी में पुराने संस्कार अभी शेष हैं। वह सोचता है कि जब हमारा 'उद्धार' संभव ही नहीं, तो अकड़ने से लाभ। वह समझौता कर, पुरानी व्यवस्था के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है। उसे ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता है। लेकिन अज्ञान में डूबा होरी, नई पीढ़ी के गोबर की बात सुनना ही नहीं चाहता! गोबर

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १३, २. वही—पृष्ठ १६, ३. वही—पृष्ठ १७, ४. वही—पृष्ठ १९, ५. वही—पृष्ठ १९।

जानता है कि यदि हमारे 'बाजुओं' में शक्ति है, तो एक दिन इस सड़ी-गली व्यवस्था का लड़खड़ाता ढाँचा अवश्य टूट कर बिखर जायगा ! केवल जागृति की आवश्यकता है ।

अपनी आत्म-प्रशंसा से फूली धनिया उदारतापूर्वक तीन खाँचा भूसा भोला को देती है । होरी और गोबर अपने सरों पर भोला के साथ भूसा लादे, उसके घर जा रहे हैं । रास्ते में होरी एवं भोला के बीच बातचीत होती है । 'सगुन के रुपये का जुगाड़ करना है, माली बनने से, तो गला न छूटेगा'—भोला जब इस अप्रि सत्य को होरी से कहता है, तो उस समय होरी के अन्तर में छिपा वेदना का स्रोत फूट निकलता है । होरी अपनी करुण-कथा सुनाते हुए कहता है—'उसी की चिन्ता तो मारे डालती है दादा ! अनाज तो सबका सब खलिहान में ही तुल गया । जमींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया । मेरे लिये पाँच सेर अनाज बच रहा । यह भूसा, तो मैंने रातो-रात ढोकर छिपा दिया था, नहीं तिनका भी न बचता । जमींदार, तो एक ही है, मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग, मँगरू अलग, और दातादीन पंडित अलग । किसी का ब्याज भी पूरा न चुका । जमींदार के भी आधे रुपये बाकी पड़ गये । सहुआइन से फिर रुपये उधार लिये, तो काम चला । सब तरफ किफायत करके देख लिया भैया, कुछ नहीं होता ! हमारा जनम इसीलिये हुआ है कि अपना रक्त बहायें और बड़ों का घर भरें । मूल का दुगुना सूद भर चुका, पर मूल ज्यों का त्यों सिर पर सवार है ।...'[१]

गाँव में संयुक्त परिवार टूट रहे हैं । भाई-भाई का विरोध करता है, जेठानी-देवरानी में नहीं पटती और पिता-पुत्र में अनबन रहती है । होरी के भाइयों में अलगौझा हो गया है । जब से अलगौझा हुआ है, दोनों घरों में एक जून रोटी पकती है । भोला भी अपने लड़कों की कुचाल से दुःखी है । उनमें आपस में नहीं पटती । खर्च सभी करते हैं, कमाना कोई नहीं चाहता । सारा बोझ भोला के कन्धों पर है । उसके लिये यह गृहस्थी जी का जंजाल है । सोने की हँसिया है, जिसे न उगलते बनता है, न निगलते । बहुएँ हैं, लेकिन गृहस्थी से अधिक मुँह चलाना जानती हैं ।

भोला ने इनका उचित सत्कार किया । गाय ले जाने को कहा । होरी और गोबर दोनों प्रसन्नचित्त घर लौटे । गोबर की कुँआरी अभिलाषाओं की माँग में सिन्दूर पड़ गया । उसे भोला की विधवा नवयुवती पुत्री 'झुनिया' के रूप में एक बहुमूल्य वस्तु प्राप्त हो गई ।

होरी की सारी रात नाना कल्पनाओं में बीती । गाय के स्वप्न के साथ भाइयों के अलगौझे की स्मृति उसे साल रही थी । प्रातः गोबर गाय लेने चला गया । होरी ने दमड़ी बँसार से पचास बाँस काटने का सौदा किया । पच्चीस रुपये की जगह बीस रुपये पर होरी सौदा तय कर लेता है, क्योंकि भाइयों के पूछने पर वह पन्द्रह रुपये सैकड़े का

१. 'गोदान'—पृष्ठ २३ ।

भाव बतायेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि होरी में भी वर्गगत दुर्बलता वर्तमान है। कुछ पैसों के लिये वह भाइयों से भी बेइमानी करने से नहीं हिचकता। हीरा की पत्नी, पुन्नी बाँस काटने का विरोध करती है। झगड़ा बढ़ता है। बँसोर दमड़ी को औरत की मार सहनी पड़ती है। होरी आता है। पुन्नी को रोते देख, खून जोश खाता है। अलगौझे की ऊँची बाँध टूट जाती है। वह चौधरी को एक लात जमाकर बोला—'अब अपना भला चाहते हो चौधरी, तो यहाँ से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारी लहास उठेगी। तुमने अपने को समझा क्या है? तुम्हारी इतनी मजाल कि मेरी बहू पर हाथ उठाओ!'[1]

होरी पर अभी भी तीन सौ कर्ज था। पाँच वर्ष पूर्व मंगरू साह से बैल के लिये साठ रुपये उधार लिये थे। साठ रुपये दे चुका था, पर वह साठ रुपये ज्यों के त्यों बने हुए थे। दातादीन पण्डित से तीस रुपये लेकर आलू बोये थे। आलू तो चोर खोद ले गये, और उस तीस के सौ हो गये। दुलारी सहुआइन से बँटवारे के समय भाइयों को देने के लिये चालीस रुपये लिये थे, उसके भी लगभग सौ रुपये हो गये थे, क्योंकि आने रुपये का ब्याज था। लगान के भी अभी पच्चीस रुपये बाकी पड़े हुए थे और दशहरे के दिन शगुन के रुपयों का भी कोई प्रबंध करना था। एक कौड़ी भी हाथ में आती, तो चारों ओर से लेनदार नोचने लगते। बाँस के रुपये में से पाँच वह शगुन में दे देगा। परन्तु अभी होरी को जीवन के दो बड़े कार्य करने थे। गोबर और सोना का विवाह करना था। लेकिन उसके लिये कम से कम तीन सौ रुपये चाहिये। यह गठरी कहाँ से आयेगी? हर तरह का कष्ट उठाने पर भी गला नहीं छूटता। इसी तरह सूद बढ़ता जायेगा और एक दिन उसका घर-द्वार सब नीलाम हो जायगा, उसके बाल-बच्चे निराश्रय होकर भीख माँगते फिरेंगे। मकड़ी के जाले की भाँति वह चिन्ताओं के जाल में उलझता जाता है। चिलम के धुएँ की पर्तों के बीच भी चिन्ता उड़ नहीं जाती। चारों ओर चिन्ता की काली दीवार उसे कैद करती है। मगर सन्तोष का आधार यह है कि यह विपत्ति अकेले उसीके सिर न थी। प्रायः सभी किसानों का यही हाल था। अधिकांश की दशा इससे भी बदतर थी। शोभा और हीरा पर तीन वर्षों में ही चार-चार सौ कर्ज का बोझ लद गया। झींगुर की दो हल की खेती है और एक हजार कर्ज का बोझ! जियावन महतो के घर भिखारी भीख नहीं पाता, कर्ज का कुछ हाल ही नहीं!

गोबर गाय ले आया। लालसाओं की सजीव प्रतिमा को द्वार पर देखकर, होरी के अरमानों ने उसके गले में बाँहें डाल दीं। होरी के लिये गऊ केवल भक्ति और श्रद्धा की वस्तु न थी, सजीव सम्पत्ति थी। वह उससे अपने द्वार की शोभा और घर का गौरव बढ़ाना चाहता था। उसमें आत्म-प्रदर्शन का भाव भी कम न था।

सारा गाँव गाय देखने आया। शोभा और हीरा न आये। होरी के हृदय में

[1]. 'गोदान'—पृष्ठ ३०।

अपने इन सगे भाइयों के प्रति अब भी ममता थी। उन दोनों को दया दिखाना चाहता था। धनिया उन लोगों की ईर्ष्या से परिचित थी। दबी हुई आग, वायु का स्पर्श पाकर सुलग उठती है। गाँव वालों को मुफ्त का तमाशा देखने को मिला। होरी ने धनिया को डाँटा। उसे किसी प्रकार घसीट कर घर लाया।

उधर गोबर और झुनिया का प्रेम बढ़ रहा था। बिरादरी का झंझट, गोबर की उन्मुक्त विचारधारा में विघ्न उत्पन्न करता। वह सोचता है—'गाँववाले निकाल देंगे, तो क्या संसार में दूसरा गाँव ही नहीं है? और गाँव क्यों छोड़े? मातादीन ने चमारिन बैठा ली, तो किसीने क्या कर लिया। झिगुरीसिंह ने ब्राह्मनी रख ली, उनका किसीने क्या कर लिया?'[1]

झुनिया ऐसा प्रेम चाहती थी, जिसके लिये वह जिये और मरे, जिस पर वह अपने को समर्पित कर दे। वह चाहती है कि गोबर केवल उसका बनकर रहे। एक बार यदि हाथ पकड़े तो फिर जीवन भर निर्वाह करे। वह न रुपये की भूखी है, न गहने-कपड़े की। बस भले आदमी का संग चाहती है, जिसे वह अपना समझे!

रायसाहब के गाँव सेमरी में उत्सव में सम्मिलित होने के लिये, नगर से उनके मित्र मोटरों से आते हैं। 'बिजली' के सम्पादक पंडित ओंकारनाथ, युनिवर्सिटी में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर श्री मेहता एवं असफल वकील तथा सफल दलाल श्री श्यामबिहारी तंखा एक कार से पहले पहुँचते हैं। रायसाहब से इन लोगों की विभिन्न विषयों पर तर्कपूर्ण बातें होती हैं। रायसाहब स्वयं स्वीकार करते हैं—'बस, हमारी दशा उन बच्चों की सी है, जिसे चम्मच से दूध पिलाकर पाला जाता है, बाहर से मोटे, अंदर से दुर्बल, सत्वहीन और मुहताज!'[2]

वार्तालाप के इस प्रवाह के बीच दूसरी मोटर भी आ पहुँची। मिस्टर खन्ना जो एक बैंक के मैनेजर तथा शक्कर मिल के मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं उनके साथ दो स्त्रियाँ भी कार से उतरीं। श्रीमती खन्ना खद्दर की साड़ी पहने हुए हैं तथा मिस मालती, इंगलैंड से डाक्टरी पढ़ आई हैं, अतएव मेक-अप नये युग की तितलियों के समान ही आकर्षक है। बातें बनाने में अधिक कुशल हैं। मेहता के प्रति विशेष आकर्षण है।

इस मंडली के पहुँचने के बाद बातों का वेग, विषय एवं पात्र बदल जाते हैं। पत्र-संपादक के सिद्धान्तों से लेकर विवाह एवं तलाक तक की चर्चाएँ होनी प्रारम्भ हो जाती हैं। मिर्जा खुर्शेद ऐसे जिन्दादिल के पहुँच जाने पर मंडली में नयी जान आ गई। मिर्जाजी की लखनऊ में जूते की सबसे चलती दूकान थी। पंडित ओंकारनाथ शाकाहारी थे। उन्हें शराब पिलाने की जिम्मेदारी मालती ने अपने ऊपर ली। इसके लिये एक हजार फीस तय हुई। मेहता जी पाँच सौ श्रीमती खन्ना से वसूल लाये। इसके लिये उन्होंने झूठ का आश्रय लिया। प्रेमचन्दजी शरा

---

१. गोदान—पृष्ठ ४७, २. वही—पृष्ठ ५५।

प्रोफेसर वर्ग पर व्यंग करते हुए, अपने एक पात्र खन्ना से कहलाते हैं—'जब हमारे प्रोफेसरों का यह हाल है, तो यूनिवर्सिटी का ईश्वर ही मालिक है।'[1]

एक सुन्दर रमणी के हाथों से शराब का प्याला पाकर वह कौन भद्र पुरुष है, जो इन्कार कर दे। यह तो नारी जाति का अपमान होगा। मिथ्या-गौरव एवं प्रशंसा की मदिरा ने सम्पादक ओंकारनाथ को पहले ही उन्मत्त बना डाला था।

सिर झुकाकार ग्लास ग्रहण किया एवं एक ही साँस में खाली कर दिया। बस, फिर क्या था? पिटारी में बन्द कहकहे निकल पड़े। ओंकारनाथ की रसिकता वाचाल हो उठी।

उधर एक पठान ने आकर रंग में भंग कर दिया। सबकी नसें ढीली पड़ गईं। मालती को आश्चर्य होता है कि बीस मर्दों के होते एक उजड्ड पठान उसकी यह दुर्गति कर रहा है। इनके रक्त में तनिक जोश नहीं आता। वह बोली—'आप लोग इतने कायर हैं, यह मैं न समझती थी।'

खान ने मालती का हाथ पकड़कर खींचा। उसी समय होरी ने कमरे में प्रवेश किया। होरी गँवार था। लाल पगड़ी देखकर उसके प्राण निकल जाते थे, लेकिन मस्त साँड़ पर लाठी लेकर पिल पड़ता था। वह कायर न था, मरना और मारना दोनों जानता था। उसने झपटकर खान की कमर पकड़ी और ऐसा अड़ंगा मारा कि खान चारों खाने चित्त जमीन पर गिरा। होरी उसकी छाती पर चढ़ बैठा और जोर से दाढ़ी पकड़कर खींची। दाढ़ी उसके हाथ में आ गई। अरे, यह तो मिस्टर मेहता हैं? मेहता ने मुस्कराते हुए कहा—'जरा इन भले आदमियों की जवाँमर्दी की परीक्षा ले रहा था। जो गुस्ताखी हुई हो, क्षमा कीजिएगा।'[2]

दूसरे दिन शिकार एवं सैर का प्रोग्राम बना। मिसेज खन्ना के सिर में दर्द था, न जा सकीं। सम्पादकजी तो इस मण्डली से जले हुए थे। वे इन लोगों के विरुद्ध एक लेख-माला प्रकाशित करने की सोच रहे थे। सबके सब छटे हुए गुंडे हैं। हराम के पैसे उड़ाते हैं और मूछों पर ताव देते हैं। इन्हें तो अपने भोग-विलास से काम है। 'यह मेहता, जो फिलासफर बना फिरता है, उसे यही धुन है कि जीवन को सम्पूर्ण बनाओ। महीने में एक हजार मार लेते हो, तुम्हें अख्तियार है, जीवन को सम्पूर्ण बनाओ या परिपूर्ण बनाओ। जिसको यह फिक्र दबाये डालती है कि लड़कों का ब्याह कैसे हो, या बीमार स्त्री के लिये वैद्य कैसे आये या अबकी घर का किराया किसके घर से आयेगा, वह अपना जीवन कैसे सम्पूर्ण बनाये! छूटे साँड़ बने, दूसरों के खेत में मुँह मारते फिरते हो और समझते हो, संसार में सब सुखी हैं![3]

शिकार का प्रोग्राम बनता है। मिस मालती—मेहता का साथ चुनती हैं, खन्ना टूटे हुए मन से रायसाहब को अपना साथी चुनते हैं, मिर्जा खुर्शेद और मिस्टर तंखा की अलग टोली बन जाती है। तीनों टोलियाँ विभिन्न दिशाओं में चल देती हैं। सबको विलक्षण अनुभव होते हैं। पात्रों के चरित्र पर इस घटना से विशेष प्रकाश

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ६४, २. वही—पृष्ठ ७५, ३. वही—पृष्ठ ७६।

पड़ता है। लेखक का उद्देश्य इस घटना द्वारा पात्रों के चरित्र की विभिन्न रेखाओं को उभार कर दिखाना है।

नगर के विलासप्रिय इन सैलानियों की हास-विलासमयी जिंदगी के परिपार्श्व में होरी जैसे मेहनती और ईमानदार कृषकों की जिंदगी, सामाजिक असमानता एवं शोषण के प्रति एक जबर्दस्त व्यंग है। यह एक सामाजिक प्रश्न है। जो मेहनत करता है, वह भूखों मरे—और दूसरे उस मेहनती की पसीने की कमाई से ऐश और इश्क का नाटक खेलें ? जिस समाज के रथ के दो पहियों में इतनी असमानता है, वह प्रगति कभी नहीं कर सकती। उसके लड़खड़ा कर गिरने में देर भले ही हो, संदेह लेशमात्र नहीं है।

होरी की गाय भी गाँव के महाजनों की आँख में काँटे के सदृश्य चुभती है। वह ठाकुर झिंगुरीसिंह के पास कर्ज के लिए जाता है। रायसाहब के कारकुन का आदेश है कि जब तक बाकी न चुक जायेगी, खेत में हल न ले जाने दिया जायेगा। किसानों में खलबली मच गई। गाँव के महाजन मँगरू साह, दुलारी सहुआइन एवं पंडित दातादीन की आजकल चाँदी थी। झिंगुरीसिंह सबसे बड़े महाजन थे, जो शहर के किसी बड़े महाजन के एजेण्ट थे। वह पक्का कागज लिखाते थे, नजराना अलग लेते थे, दस्तूरी अलग, स्टाम्प की लिखाई अलग। उस पर एक साल का पेशगी ब्याज काटकर रुपया देते थे। पच्चीस रुपये का कागज लिखाकर सत्रह देते थे। होरी जानता था कि यदि तीन चार साल तक यह रुपये न चुके तो फिर पूरे सौ हो जायेंगे। झिंगुरीसिंह उसके समक्ष प्रस्ताव रखते हैं—'तो एक बात करो, यह नयी गाय जो लाये हो, इसे हमारे हाथ बेच दो। सूद, इसटाम सब झगड़ों से बच जाओ, चार आदमी जो दाम कहें, वह हमसे ले लो। हम जानते हैं, तुम उसे अपने शौक से लाये हो और बेचना नहीं चाहते, लेकिन यह संकट तो टालना ही पड़ेगा ?'

कितनी सहानुभूति है। गाय को अपनी माँ के सदृश्य पूजनेवाले भारतीय कृषक के समक्ष प्रस्ताव किया जाता है, अपनी माँ को बेच दो। इस प्रस्ताव को सुनकर सोना कहती है—'इससे तो कहीं अच्छा है, मुझे बेच डालो। गाय से कुछ बेसी ही मिल जायगा।'[१]

गाय को होरी के भाई हीरा ने ईर्ष्यावश विष दे दिया। होरी ने बात दबानी चाही, लेकिन पेट में न पची। उसने धनिया से कह दिया। धनिया भला क्यों चुप रहती। घर में पूरा हंगामा मच गया। धनिया गाली बकती, होरी घूँसे और लात जमाता। सारा गाँव इस मुफ्त के तमाशे को देखने जमा हो गया।

दातादीन भी पहुँच गये थे। अवसर से लाभ उठाना जानते थे। बोले—'यह बात साबित हो गयी, तो उसे हत्या लगेगी। पुलिस कुछ करे या न करे, धरम तो बिना दण्ड दिये न रहेगा।'[२]

१, गोदान'—पृष्ठ १०५, २. वही—पृष्ठ ११२।

धर्म के सचेत प्रहरी किसी को दो कौर रोटी नहीं दे सकते, परन्तु जले हुए घर की आँच में हाथ सेंकना खूब जानते हैं। शाम को दरोगाजी भी चौकीदार से सूचना प्राप्त कर आ धमके। वे व्यावहारिक मनोविज्ञान के अच्छे ज्ञाता थे। शिकार को दूर से ताड़ लेते थे। अपढ़ होरी के जीवन में यह पहला अवसर था कि वह दरोगा के सामने आया। ऐसा डर रहा था, जैसे फाँसी हो जायेगी। दारोगा ने हीरा के घर की तलाशी लेनी चाही। होरी का रंग उड़ गया। भाई के घर की तलाशी, उसकी अनुपस्थिति में, होरी के जीवित रहते भला किस प्रकार हो सकती थी? गाँव के नेताओं ने होरी के झूठे आत्म-सम्मान की रक्षा का नुस्खा बताया कि दारोगा की जेब गर्म करो। होरी के पास जहर खाने को भी एक कौड़ी इस समय नहीं थी। तलाशी का संकट टालने के लिये रुपये चाहिये। सौ से कम क्या दिये जायँ, नेताओं ने प्रस्ताव रखा। होरी की मनोभावना उस अवसर पर कैसी हो रही थी, इसका कुछ अनुमान, प्रेमचन्द जी की व्यंग एवं कटाक्षपूर्ण इस एक पंक्ति से हम कर सकते हैं—'मरे को मन भर लकड़ी से जलाओ, या दस मन से, उसे क्या चिन्ता!'[१]

पटेश्वरी को उस पर दया आती है। दरोगाजी भी पिघलते हैं—'तो फिर उसे सताने से क्या फायदा। मैं ऐसों को नहीं सताता, जो आप ही मर रहे हों।'

पटेश्वरी ने देखा, निशाना और आगे जा पड़ा। बोले—'नहीं हुजूर, ऐसा न कीजिए, नहीं फिर हम कहाँ जायंगे। हमारे पास दूसरी कौन-सी खेती है।'

'तुम इलाके के पटवारी हो जी, कैसी बातें करते हो?'

'जब ऐसा ही कोई अवसर आ जाता है, तो आपको बदौलत हम भी कुछ पा जाते हैं। नहीं पटवारी को कौन पूछता है!'

'अच्छा जाओ, तीस रुपये दिलवा दो। बीस रुपए हमारे, दस रुपये तुम्हारे!'

'चार मुखिया हैं, इसका ख्याल कीजिए।'

'अच्छा आधे-आध पर रखो, जल्दी करो। मुझे देर हो रही है।'[२]

यह हैं भारत के गाँव! स्वार्थ से अन्धे बने गाँव के नेता, अपने ही गरीब भाई का गला काटने में नहीं हिचकते।

धनिया दारोगा की धमकी का उत्तर देते हुए कहती है—'हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फिर? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा?......पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अक्ल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है, दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात।'[३]

गाँव के स्वार्थी नेताओं की भी वह खबर लेती है। उसकी रोषभरी बातें सुनकर नेताओं के मुख पर कालिख पुत गई, दारोगा के मुख पर झाड़-सी फिर गई। दारोगा ने इधर की कसर उधर निकाली। पचास रुपये गाँव के नेताओं से वसूल किये।

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ११५, २. वही—पृष्ठ ११५-१६, ३. वही—पृष्ठ ११६, ४. वही—पृष्ठ ११७।

हीरा लापता हो गया। होरी ही उसके खेत जोतता एवं बोता है। वह अपने खेत में धान नहीं रोप सकता, लेकिन पुनिया के खेत में रात को भी काम करता है। होरी की इस उदारता के कारण, धनिया एवं गोबर उसकी उपेक्षा करते हैं। बोलचाल भी बन्द हो गई है। होरी बीमार पड़ता है। पुनः पति पत्नी में मेल हो जाता है। एक दिन धनिया से होरी को ज्ञात होता है कि गोबर उनके मुँह में कालिख लगाकर चला गया। गर्भवती झुनिया ने होरी के घर शरण ली है। पहले तो होरी का पारा ऊपर उठा। झुनिया को निकाल बाहर करने की ठानी। परन्तु अपनी साध्वी पत्नी का मीठा आग्रह और झुनिया का चरणों में एकांत आत्म-समर्पण, उसके दृढ़ निश्चय को डिगाने के लिये पर्याप्त थे। उसने अपनी 'बेटी' को आश्रय दिया। धनिया ने चिड़िया की भाँति उस भटकती कन्या को अपने परों में छिपा लिया। झुनिया को तो 'माता' के आँचल की ठंडी छाँह प्राप्त हो गई, परन्तु गोबर इससे वंचित होकर, भटकता हुआ नगर में जा पहुँचा।

बिना जाति-भोज एवं शंखों की मधुर ध्वनि के अविवाहिता, विधवा गर्भवती अहीर कन्या को घर में आश्रय देकर होरी ने समाज के सदाचार की खुली उपेक्षा की। भला बिरादरी क्यों नहीं इस खुले 'चैलेंज' को स्वीकार करती। गाँववालों ने होरी को जाति-बाहर कर उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया। दातादीन एक दिन धनिया को उपदेश देते हैं—'तुम्हें इस दुष्टा को घर में न रखना चाहिये था। दूध में मक्खी पड़ जाती है, तो आदमी उसे निकालकर फेंक देता है, और दूध पी जाता है।······ वह कुलटा घर में न रहती, तो कुछ न होता। लड़कों से इस तरह की भूल-चूक होती ही रहती है। जबतक बिरादरी को भात न दोगे, ब्राह्मणों को भोज न दोगे, कैसे उद्धार होगा?······होरी तो पागल है ही, तू कैसे धोखा खा गयी!'[१]

दातादीन की इस मीठी वाणी से कोई धोखा न खा जाय, अतएव 'धर्म की ध्वजा' बननेवाले इस पोंगा-पंडित का भी राज प्रेमचन्द उसी स्थल पर प्रकट कर देते हैं। इनका पुत्र मातादीन एक चमारिन से फँसा हुआ था। फिर भी वह तिलक लगाता, पोथी-पत्रा बाँचता और उसकी प्रतिष्ठा में तनिक भी कमी नहीं हुई। धनिया तीव्र स्वर में उत्तर देती है—'हमको कुल-परतिष्ठा इतनी प्यारी नहीं है महाराज, कि उसके पीछे एक जीव की हत्या कर डालते। ब्याहता न सही, पर उसकी बाँह तो पकड़ी है मेरे बेटे ने ही। किस मुँह से निकाल देती। वही काम बड़े-बड़े करते हैं, मुदा उनसे कोई नहीं बोलता, उन्हें कलंक ही नहीं लगता। वही काम छोटे आदमी करते हैं, तो उनकी मरजाद बिगड़ जाती है, नाक कट जाती है। बड़े आदमियों को अपनी नाक दूसरों की जान से प्यारी होगी, हमें तो अपनी नाक इतनी प्यारी नहीं।'[२]

बिरादरी के डर से हत्यारे का काम करने से होरी एवं धनिया दोनों इन्कार कर देते हैं। सामाजिक सदाचार के ठेकेदार गुप्त-योजना द्वारा इनको दंड देने का

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १२७, २. वही—पृष्ठ १२८।

निश्चय करते हैं। पंचायत फैसला करती है कि होरी पर सौ रुपये नकद और तीस मन अनाज डाँड़ लगाया जाय। समाज के अत्याचारी पहियों के नीचे पिसती हुई धनिया, अन्तिम बार कराहते हुए करुण स्वरों में, शोषित मानवता की व्यथा को प्रकट करती है—'पंचो, गरीब को सताकर सुख न पाओगे, इतना समझ लेना। हम तो मिट जायेंगे, कौन जाने, इस गाँव में रहें या न रहें, लेकिन मेरा सराप तुमको भी जरूर से जरूर लगेगा। मुझसे इतना कड़ा जरीबाना इसलिये लिया जा रहा है कि मैंने अपनी बहू को क्यों अपने घर में रखा, क्यों उसे घर से निकालकर सड़क की भिखारिन नहीं बना दिया, यही न्याय है, ऐं ?'[1]

परन्तु होरी पंच में परमेश्वर का निवास मानता है। दुनिया में सब अंधेर कर सकते हैं, परन्तु सर्व शक्तिमान परमेश्वर कोई गलती नहीं कर सकते। भगवान के समक्ष आत्मसमर्पण कर ही कल्याण होता है। होरी भी उस निर्णय के समक्ष घुटने टेक देता है। धनिया इस अन्याय को न सह सकी। जब उसकी मार्मिक अपील से भी अन्यायी नेताओं के कानों के छेद न खुले, तब धनिया अपने स्वाभाविक चण्डी रूप में आ गई। प्रेमचन्द ने मानो धनिया के द्वारा पूरी सड़ी-गली, जर्जर समाज-व्यवस्था को ही खुली चुनौती दे दी है—'हमें नहीं रहना है बिरादरी में! बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जायगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की कमाई खायेंगे !'[2]

होरी के संस्कार दूसरे हैं। वह अन्याय से लड़ना नहीं जानता। उसके अनुसार बिरादरी ही तारेगी तो तरेंगे। बिरादरी उसके जीवन में वृक्ष की भाँति जड़ जमाये हुए थी और उसकी नसों तथा रोम-रोम में बिंधी हुई थी। बिरादरी का वह आतंक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपने हाथों अपनी कब्र खोद रहा हो। कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोखे लेती थी, पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार था। जिस समय धनिया पोते के जन्मोत्सव में लड़कियों के साथ अकेली गला फाड़कर सोहर गा रही थी, जिसमें सारा गाँव सुन ले; होरी झिंगुरीसिंह के हाथ अपना घर गीरो रख रहा था। जहाँ बजती हैं शहनाइयाँ, मातम भी वहीं होता है !

गोबर लखनऊ पहुँचता है। दिलदार मिर्जाजी से उसकी भेंट होती है। कबड्डी का नाटक समाप्त होने के बाद, पन्द्रह रुपये माहवार पर उसे खुर्शेद साहब नौकर रख लेते हैं। रहने को वहीं एक कोठरी भी प्राप्त हो जाती है।

होरी की सारी फसल बिरादरी को भेंट चढ़ गई। पुन्नी होरी की कृतज्ञ थी। अब वह अपने पति हीरा को गऊ-हत्यारा कहकर गाली भी देती है। होरी के पुरुषार्थ से इस बार उसकी फसल अच्छी हुई थी। वह भूख से तड़पते धनिया के दुःखी परिवार की उचित अवसर पर सहायता करती है। धनिया कृतज्ञता से भींगकर मन ही मन अपनी पराजय स्वीकार कर लेती है। भोला अपनी गाय के रुपयों के बदले होरी के दोनों बैल खोल-

---

१.

ले जाता है। उसके दोनों हाथ ही कट जाते हैं। लेकिन धर्म-भीरु होरी इस अन्याय को भी सह लेता है। गाँव-वाले इस अन्याय का विरोध करने का क्षणिक उत्साह तो अवश्य प्रदर्शित करते हैं, परन्तु 'धर्म' के आगे उनकी भी जिह्वा बन्द हो जाती है।

रायसाहब को जब गाँव की वारदात की खबर हुई तो उन्होंने नोखेराम को बुलाया। उसे फटकारा—'पंचों को मेरे और मेरी रिआया के बीच में दखल देने का हक क्या है। इस डाँड़-बाँध के सिवा इलाके में और कौन सी आमदनी है। वसूली सरकार के घर गई। बकाया असामियों ने दबा लिया। तब मैं कहाँ जाऊँ? क्या खाऊँ, तुम्हारा सिर! यह लाखों रुपये साल का खर्च कहाँ से आये!...'[१]

यह है राष्ट्रवादी, देश-भक्त कौंसिलर रायसाहब का सच्चा रूप। लाखों रुपये की वसूली, होरी जैसे बेकसूर एवं दीन लाखों कृषकों को पीसकर ही की जा सकती है। नोखेराम से रायसाहब ने सब हराम का माल वसूलना चाहा। उसने पटेश्वरी से मिल-कर 'बिजली' सम्पादक पंडित ओंकारनाथ के नाम एक गुमनाम पत्र डाल दिया। उसमें रायसाहब के असामियों पर किये जानेवाले जुल्म की कहानी थी। पंडित ओंकारनाथ को मुँहमाँगी मुराद प्राप्त हुई। रायसाहब ने सौ व्यक्तियों के नाम फ्री पत्र जारी करवाके चन्दा देने का वचन दिया। ओंकारनाथ का कृतज्ञतावश सिर झुक गया। वह भी सोचते हैं कि एक के ठीक हो जाने से तो देश से अन्याय नहीं मिट जायेगा? इस प्रकार शंकालु मन को तर्क से संतुष्ट कर वे उस दान को स्वीकार कर लेते हैं। फिर भी वह अनुभव करते हैं कि अपने आदर्श से तनिक च्युत हो गये हैं, परन्तु जो गरीबों को लूटता है, उसको लूटने में आत्मा तनिक कलुषित नहीं होती।

बैलों के बिना होरी के खेत किसी अनाथ अबला के घर की भाँति सूने पड़े थे। पण्डित दातादीन से साँझे में होरी की खेती होने लगी। उधर खन्ना की शक्कर मिल खुल गई। उनके कारिन्दे और दलाल गाँव-गाँव घूमकर किसानों की ऊख मोल ले रहे थे। गाँव के महाजन दाँत गड़ाये बैठे थे। कृषकों को ज्ञात था कि ऊख के रुपये उनके हाथ न लगेंगे। झिंगुरीसिंह से बचकर कोई कहाँ जायेगा। इन सूदखोर महाजनों के प्रति कृषक का न केवल तीव्र आक्रोश ही है, वरन् वह इन पूँजीपतियों के हथकंडों से भी परिचित हैं।

प्रेमचन्दजी कृषक को जगाने के लिए सोभा द्वारा चेतावनी दिलवाते हैं—'कटघरे में फँसे बैठे रहना तो कायरता है। फन्दा और जकड़ जाय बला से, पर गला छुड़ाने के लिये जोर तो लगाना ही पड़ेगा। यही तो होगा झिंगुरी घर-द्वार नीलाम करा लेंगे, करा ले नीलाम! मैं तो चाहता हूँ कि हमें कोई रुपये न दे, लेकिन पैसेवाले उधार न दें तो सूद कहाँ से पाये। एक हमारे ऊपर दावा करता है तो दूसरा हमें कुछ कम सूद पर रुपये उधार देकर अपने जाल में फँसा लेता है।...'[२]

मुर्गी के आगे चारा फेंकते रहने से ही तो अंडा प्राप्त होगा। महाजन, कृषक को

सोने का अंडा देनेवाली मुर्गी समझता है। यदि उसकी गर्दन पर छुरी फेर देगा, तो फिर अंडा कहाँ से मिलेगा। महाजन जानता है कि वह कृषक के मुर्दे तक से अपने रुपये वसूल कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत का दीन कृषक ऋण में ही जन्म लेता, उसी में पलता और उसे अपने बच्चों के लिए विरासत में छोड़कर मर जाता है। पिता का ऋण चुकाना, पुत्र का पहला धर्म है। बिना इसके पिता की आत्मा को मुक्ति अथवा शान्ति ही नहीं प्राप्त होती। धर्म भी शोषण का एक सफल अस्त्र, इस पूँजीवादी समाज में बन गया है।

होरी को ऊख के एक सौ बीस रुपये मिलते हैं। झिंगुरीसिंह ने अपने पूरे रुपये सूद समेत काटकर कोई पच्चीस रुपये होरी को दिये। होरी ने रुपये की ओर उदासीन भाव से देखकर कहा 'यह लेकर मैं क्या करूँगा ठाकुर, यह भी तुम्हीं ले लो। मेरे लिये मजूरी बहुत मिलेगी।'[1]

झिगुरी ने पचीसों रुपये जमीन पर फेंक कर घुड़की दी। होरी ने धीरे से रुपये उठाये और बाहर निकला। नोखेराम ने ललकारा। होरी ने जाकर पचीसों रुपए उनके हाथ पर रख दिये और बिना कुछ कहे जल्दी से भाग गया। उसका सिर चक्कर खा रहा था। यह दशा केवल होरी की ही नहीं है, शोभा, गिरधर आदि दूसरे लोगों के साथ भी यही बीती। गिरधर कहता है—'एक इकन्नी मुँह में दबा ली थी। उसकी ताड़ी पी ली। सोचा, साल भर पसीना गारा है, तो एक दिन ताड़ी तो पी लूँ...। एक आने में क्या नशा होगा। हाँ, झूम रहा हूँ, जिसमें लोग समझे खूब पिये हुए है। बड़ा अच्छा हुआ काका, बेबाकी हो गयी। बीस लिये, उसके एक सौ साठ भरे, कुछ हद है!'[2]

इसप्रकार कृषक की देह में जब रक्त नहीं रह जाता, तो वह मजदूरी करने के लिये विवश होता है। सूखे हाड़-माँस से किसी की मजूरी ही की जा सकती है, अपनी खेती कहाँ! होरी भी मजूरी करने का निश्चय करता है। धनिया शंका करती है कि इस गाँव में कौन सा मुँह लेकर मजूरी करोगे? 'महतो' नहीं कहलाते! होरी इसका अत्यंत मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी उत्तर देता है—'मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाय तो किसान हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न होता तो यह सब बिपत क्यों आती? क्यों गाय मरती? क्यों लड़का नालायक निकल जाता?'[3]

भाग्यवादी कृषक इसीप्रकार मन को संतोष देता है। इसका कारण भी उसका 'अज्ञान' है। इसी समय होरी के कानों में शंख-ध्वनि पड़ती है। वह आरती लेने जाना चाहता है, लेकिन खाली हाथ कैसे जाय? उसके पास एक ताँबे का खोटा पैसा भी न था! मर्यादा के पीछे आरती का पुण्य क्यों छोड़े? अन्त में वह दृढ़ निश्चय कर वहाँ चल पड़ता है।

गोबर पर शहर का रंग चढ़ गया। मूल में वह अब भी देहाती है। परिश्रम से जी नहीं चुराता और पैसे को दाँत से पकड़ता है। पहले मजूरी कर, आधा पेट खाकर

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १८९, २. वही—पृष्ठ १९०, ३. वही—पृष्ठ १९०।

थोड़े से रुपए बचा लिये। फिर कचालू-मटर, चाय-शर्बत का रोजगार करने लगा। रोजाना आमदनी ढाई-तीन रुपये हो गई। नौकरी छोड़ दी। अंग्रेजी फैशन के बाल कटवा लिये, महीन धोती और पम्प शू पहनता है। सिगरेट का शौकीन भी हो गया। अब वह छोटा-मोटा महाजन है। पड़ोस के एक्केवालों, गाड़ीवानों और धोबियों को सूद पर रुपये उधार देता है। मिर्जाजी भी उससे रुपये उधार लेते हैं। गोबर मिर्जाजी को भी उपदेश देता है। शहर के छोटे तबके के लोगों में आपस में पर्याप्त प्रेम-भाव रहता है। हिन्दू-मुसलमान, सब एक दूसरे के दुःख-दर्द के साथी थे। गोबर अलादीन की नमाज को उठा-बैठी कहता, अलादीन पीपल के नीचे स्थापित सैकड़ों छोटे-बड़े शिवलिंगों को बटखरे बनाता। लेकिन साम्प्रदायिक द्वेष का नाम भी न था।

गोबर एक वर्ष बाद गाँव जाता है। वहाँ विपन्नता का साम्राज्य था। होरी मजदूर बन गया है। धनिया की साड़ी में कई पेबंद लगे हुए थे। सोना की साड़ी सिर पर फटी हुई थी और उसमें से उसके बाल दिखाई दे रहे थे। रूपा की धोती में चारों तरफ झालरें-सी लटक रही थीं। सभी के चेहरे रूखे, किसी की देह पर चिकनाहट नहीं। झुनिया से गोबर को घर का पूरा हाल-पता चलता है। धनिया ने गोबर से घर का हाल छिपाया था क्योंकि वह अपने पुत्र को चिन्ता की आँच न लगने देना चाहती थी।

झुनिया से अत्याचार की दर्दीली कथा सुनकर, शहराती गोबर का रक्त खौल उठा। गोबर की कमर में उस समय दो सौ रुपये थे। उसकी गर्मी यों भी कम न थी; यह हाल सुनकर तो उसके बदन में आग लग गई। वह एक-एक से समझेगा! वह कहता है—'मेरा गधापन था कि घर से भागा। नहीं देखता, कैसे कोई एक धेला डाँड़ लेता है।[1]'

झुनिया जानती है कि शहर की हवा लग जाने के कारण ही गोबर की आवाज बदल गई है। वह झुनिया को शहर ले जाना चाहता है। लेकिन झुनिया सास-ससुर को छोड़ना नहीं चाहती। इसके बाद गोबर गाँव की दिग्विजय करने निकलता है। चुन-चुनकर सबको खरी-खोटी सुनाता है। झिंगुरीसिंह को उपदेश देता है कि संसार में इलम की कदर नहीं है, ईमान की कदर है। दातादीन को बनाते हुए कहता है—'तुम्हारे घर में किस बात की कमी है महाराज, जिस जजमान के द्वार पर जाकर खड़े हो जाओ, कुछ न कुछ मार ही लाओगे। जनम में लो, मरन में लो, सादी में लो, गमी में लो, खेती करते हो, लेन-देन करते हो, दलाली करते हो, किसी से कोई भूल-चूक हो जाय तो डाँड़ लगाकर उसका घर लूट लेते हो, इतनी कमाई से पेट नहीं भरता? क्या करोगे बहुत-सा धन बटोरकर, कि साथ ले जाने की कोई जुगुत निकाल ली है?'[2]

गोबर में जितना वाक्-कौशल था, उतना ही व्यावहारिक ज्ञान भी। वह भोला के यहाँ से बैलों की जोड़ी ले आता है। होली पर उत्सव होता है। होली के एक महीना

१. 'गोदान'—पृष्ठ २१३, २. वही—पृष्ठ २१५।

पहले से एक महीना बाद तक फाग उड़ती है। महाजन की धमकियाँ और कारिन्दे की बोलियाँ इस समारोह में बाधा नहीं डाल सकतीं। घर में अनाज नहीं है, देह पर कपड़े नहीं हैं, गाँठ में पैसे नहीं हैं, कोई परवाह नहीं। हँसे बिना तो जिया नहीं जा सकता। इस बार गोबर ने गाँव के सारे नवयुवकों को अपने द्वार पर खींच लिया है। पास-पड़ोस के गाँव से भी लोग इस तमाशे को देखने आए हैं। गोबर ने दिल खोलकर खर्च किया। गिरधर ने अपनी नकलों द्वारा गाँव के पंचों की पगड़ी भी उछाल दी है।

होरी तथा गोबर की विचारधारा में पूरी एक पीढ़ी का अन्तर था। दोनों के अपने अलग रास्ते एवं विश्वास थे। पिता-पुत्र में नहीं पटती। गोबर माता-पिता से सम्बन्ध तोड़कर, झुनिया के साथ लखनऊ चला जाता है। उनके चले जाने के बाद धनिया का घर सूना हो गया। उसे बार-बार अपने पौत्र मुन्नू की याद आती। शहर में एक सप्ताह की बीमारी भोगकर बालक मर गया। झुनिया पुनः माता बनी। गोबर को बुरे व्यसनों की लत पड़ गई। शराबी गोबर के लिये पत्नी को पीट देना अत्यंत साधारण बात थी। खन्ना की मिल में मजदूर-आन्दोलन होता है। गोबर भी खन्ना की शक्कर मिल का मजदूर बन जाता है। नेताओं का प्रोत्साहन पाकर मजदूर आगे बढ़ते हैं। बुरी तरह पिटे जाते हैं। आन्दोलन असफल हो जाता है। गोबर भी मार खाता है।

खन्ना साहब की मिल जल जाती है। मित्रों की उन्हें सहानुभूति प्राप्त होती है। लेकिन खन्ना महोदय पर इस घटना का जबर्दस्त मानसिक प्रभाव है। उनकी पत्नी गोविन्दी खन्ना से उन्हें स्नेह एवं सेवा प्राप्त होती है। जिस साध्वी पत्नी की जीवन भर वे उपेक्षा करते रहे, उसी के आँचल की ठंडी छाँह में संतप्त खन्ना को सच्ची शान्ति प्राप्त हुई।

रायसाहब का सितारा बुलन्द था। रायसाहब की कन्या की शादी धूमधाम से हो गई। मुकदमा जीत गये। निर्वाचन में केवल सफल ही नहीं हुए, वरन् होम-मेम्बर भी बन गये। कर्ज की मात्रा अवश्य बढ़ गई, लेकिन मुकदमे में विजय के फलस्वरूप एक बड़ी जायदाद उनके हाथ लगी। हिज-मैजेस्टी के जन्म-दिवस के शुभ अवसर पर उन्हें राजा की पदवी भी प्राप्त हो गई। इस प्रकार उनकी समस्त महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण हो गईं। उनका पुत्र रुद्रपालसिंह एम० ए० का विद्यार्थी था। सूर्यप्रताप सिंह ने अपनी कन्या के विवाह का उसके लिये प्रस्ताव किया। रायसाहब (अब राजा साहब !) फूल उठे। मगर पुत्र ने आशाओं पर पानी फेर दिया। वह मालती की बहन सरोज से विवाह करना चाहता है। रायसाहब बहुत दुःखी होते हैं तथा अपनी असहमति प्रकट करते हैं, लेकिन पुत्र पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। रुद्रपाल सरोज के साथ विलायत चले जाते हैं। पिता-पुत्र के सम्बन्ध प्रतिद्वन्द्वियों सदृश हो गये। मिस्टर तंखा अब रुद्रपाल के सलाहकार एवं पैरोकार बन गये थे।

इधर उनकी पुत्री मीनाक्षी एवं उनके दामाद दिग्विजयसिंह में सम्बन्धविच्छेद हो गया। उनकी पुत्री मीनाक्षी ने दुराचारी पति को पीटने तक का साहस किया। इस प्रकार रायसाहब ने पारिवारिक सुख के स्वर्ग का जो रंगीन स्वप्न देखा था, वह बीच ही में टूट गया।

डा० मेहता परीक्षक से परीक्षार्थी बन गये। मालती की सेवा एवं त्यागनिष्ठा ने उन्हें प्रभावित किया। अब वे मालती के बंगले में दो बड़े कमरे लेकर रहने लगे थे। उनकी फिजूलखर्ची को मालती ने सफलतापूर्वक रोका। पन्द्रह रुपये वेतन पर गोबर को मालती ने नौकर रख लिया। वह बाग़ में माली का कार्य करता। उसे रहने को भी एक कोठरी वहीं प्राप्त हो गई। झुनिया के बालक मंगल को मालती प्यार करती है। वह बीमार पड़ता है। मालती उसकी रात-दिन जागकर दिल से सेवा करती है। मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुँच गई, जहाँ से वह प्रकाश के एक नक्षत्र-सी दृष्टिगत होती थी। मेहता के लिये अब वह प्रेम की नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी।

मातादीन की प्रेमिका सिलिया चमारिन को भी धनिया आश्रय देती है। 'घायल की गति घायल जाने', दुःखी मनुष्य ही दूसरे पर करुणा कर सकता है। नोहरी से रुपये की सहायता प्राप्त कर होरी सोना का विवाह सम्पन्न मथुरा से कर देता है। सिलिया को पुत्र प्रसव होता है। मातादीन का धर्म जड़ से काँप उठता है। उसका पुत्र रामू दो साल का होकर गुजर जाता है। मातादीन का पितृत्व जाग उठता है। वह नकली धर्म की दीवार तोड़कर, सच्चे धर्म-पालन का व्रत लेता है। वह कहता है—"मैं ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धरम पाले वही ब्राह्मण है, जो धरम से मुँह मोड़े वही चमार है!"[1]

होरी की दशा दिन प्रति दिन गिरती जा रही थी। जीवन-संघर्ष में सदैव उसकी हार हुई, पर उसने हिम्मत नहीं हारी। खाया नहीं, उड़ाया नहीं, लेकिन उपज ही न हो और जो हो भी, वह कौड़ियों के मोल बिके, तो किसान क्या करे? होरी का सब कुछ लुट गया, अब केवल फूल-सी कोमल बेटी रूपा बची है। दातादीन जैसे शोषक अपनी गिद्ध-दृष्टि उस कन्या-रत्न पर लगाये हैं। सर से पाँव तक कर्ज में डूबे हुए होरी से, धर्म के महाजन कन्या-विक्रय का निन्दाजनक प्रस्ताव करते भी नहीं लजाते! पंडित दातादीन इसे भी अपना उपकार मानते हैं। उनके अनुसार—'लड़की सयानी हो गयी है, और जमाना बुरा है। कहीं कोई बात हो जाय, तो मुँह में कालिख लग जाय। यह बड़ा अच्छा औसर है। लड़की का ब्याह भी हो जायगा, और तुम्हारे खेत भी बच जायेंगे। सारे खरच-बरच से बचे जाते हो।'[2]

वर मरे चाहे कन्या, यहाँ तो दक्षिणा से काम है। कितनी सहानुभूति है। काजीजी दुबले क्यों, शहर के अंदेसे से। इससे बढ़कर पंडित जी के लिये दूसरा कौन-सा

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ३५०, २. वही—पृष्ठ ३५१।

सुअवसर आता ? यहाँ तो आम के आम और गुठली के दाम भी बन रहे थे। प्रस्तावित निर्धन-कन्या-उद्धारक वर रामसेवक की उम्र चालीस के ऊपर थी, बाल खिचड़ी हो गये थे। सत्य तो यह था कि समाज की बलिवेदी पर रूपा का बलिदान करके भी, होरी मुक्त नहीं हो सकता था। उसके प्राण कई शोषकों के पंजों में छटपटा रहे थे।

भाग्यवादी होरी एवं धनिया ईश्वर के न्याय के भरोसे, मुख पर कालिख लगा कर एवं छाती पर सौ मन पत्थर रखकर, अग्नि को साक्षी देकर, धर्म की सप्तपदी द्वारा कन्या की जीवन डोर, सदा और हमेशा के लिये रामसेवक के चाँदी के चमकीले हाथों में सौंप देते हैं। गोबर इस विवाह के नाटक में सम्मिलित होता है। उसके टूटे मन के खँडहर पर, इस गिरते हुए घर पर मँडराने वाली छायाएँ तैर जाती हैं। वहाँ रहकर वह दुःख की आँच से संतप्त माता-पिता को, सेवा एवं परिश्रम द्वारा शीतलता प्रदान करना चाहता है, लेकिन होरी अपने दुःख की छाया भी पुत्र पर पड़ते नहीं देखना चाहता। वह उससे कर्ज भी छिपाता है।

कृषक होरी अब मजदूर बन गया है। सूरज की आग झेलकर भी वह पत्थर से आग उत्पन्न करता। दिन भर गिट्टियाँ तोड़ने पर उसे आठ आना रोज मजदूरी मिलती। वह अपने पौत्र मंगल के दूध के लिये गाय लेना चाहता था। मगर इसी बीच वह कर्मवीर, परिश्रम करते हुए चल बसा। इस बड़े उपन्यास का अन्त इस प्रकार होता है—'और कई आवाजें आईं—गो-दान करा दो, अब यही समय है।

'धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लायी और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—'महाराज, घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गो-दान है।'…… और पछाड़ खाकर गिर पड़ी ?'[1]

'गोदान' की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यही है, जिसके पास कफन का पैसा तक नहीं, जिसे जीवन में चुल्लूभर दूध नहीं मिल सका, उससे भी धर्म के ठेकेदार 'गोदान' कराते हैं ? तिल से तेल ही नहीं, खली तक निकाल लेते हैं। बकरे को हलाल कर ही नहीं छोड़ देते, उसकी खाल तक नोचवा लेते हैं।

वस्तु-कौशल

'गोदान' के वस्तु-कौशल में एक नवीनता है। कथानक चयन, उसके अनुबंधन एवं जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी कुछ नयापन मिलता है। प्रेमचन्द का उपन्यास के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग था। प्रेमचन्द जी अपने सम्पूर्ण युग-धर्म को इस उपन्यास द्वारा प्रकट करना चाहते थे। अपने ढंग का यह हिन्दी का अकेला उपन्यास है। 'गोदान' के रचनात्मक कलापक्ष या वस्तु-कौशल पर विद्वानों ने अनेक आक्षेप

१. 'गोदान'—पृष्ठ ३६८।

लगाये हैं। मुख्य आक्षेप यह है कि 'सेवासदन' सा इसमें सुसंगठन या सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता नहीं है। कथानक में बिखरापन है। शहरी और ग्रामीण जीवन-कथाओं का ठीक से मेल नहीं बैठता है। ग्रामीण कथानक के साथ नागरिक जीवन-गाथा, फटी धोती के पेबन्द की भाँति ऊपर से जोड़ी गई जान पड़ती है।

श्री जैनेन्द्रकुमार ने 'गोदान' को चित्र की भाँति असमाप्त और कालप्रवाह के समान अनिर्दिष्ट बताया है। वे 'गोदान' के वस्तु-संगठन को 'सेवासदन' की अपेक्षा अधिक अनियंत्रित एवं ढीला (loose) बताते हैं। सच तो यह है कि 'गोदान' का सही मूल्यांकन हम तभी कर सकते हैं, जब हम प्रेमचन्द को किसी 'साँचे' से बाहर रखकर देखें। अर्थात् 'सेवासदन' की कसौटी पर 'गोदान' की परीक्षा कर, हम लेखक के साथ न्याय न कर सकेंगे। 'गोदान' में प्रेमचन्द अपनी पुरानी मान्यताएँ छोड़कर बहुत आगे बढ़ गये हैं।

'गोदान' का चित्रपट (Convas) इतना व्यापक एवं विशाल है कि उसके कथानक में ढीलापन स्वाभाविक प्रतीत होता है। गोदान राष्ट्रीय उपन्यास (epic Novel) है। अतएव कथा में ढीलापन कोई दोष नहीं माना जा सकता है। टाल्सटाय के प्रसिद्ध राष्ट्रीय उपन्यास 'वार एण्ड पीस' की भाँति इसका भी चित्रपट अत्यंत विशाल है। कलात्मक सफलता लेखक की उन बिखरे चित्रों को एक सूत्र में पिरोने में है। पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी 'गोदान' को ग्रामीण जीवन का उपन्यास मानते हैं। उनके अनुसार 'गोदान' उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहनेवाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है।[1]

चित्र में तभी पूर्णता आती है जब वहाँ प्रकाश को उज्ज्वल बनाने के लिये अन्धकार की भी तनिक पृष्ठभूमि चित्रित हो! 'गोदान' की यही सफलता एवं पूर्णता, कुछ आलोचकों की दृष्टि में दोष बन गई। ग्राम में सरलता है, दुःख है, अज्ञान का गहन अन्धकार है और नगर में कुटिलता है, सुख है एवं सभ्यता की टीमटाम, लिपिस्टिक की चमक और किताबी ज्ञान का प्रकाश है। एक ही शाखा है लेकिन दो रंग के पुष्प हैं। एक ही चित्र है, परन्तु उसके दो पहलू हैं। एक ही मकान है, लेकिन दो खंड हो गये हैं। प्रेमचन्द इनमें भेद उत्पन्न करने वाली दीवार को गिराना चाहते थे। इसीलिये गोबर शहरी जीवन का अनुभव प्राप्त कर अन्याय एवं शोषण के समक्ष घुटने टेकने से इन्कार कर देता है। मेहता एवं मालती ग्रामीण जीवन के अध्ययन द्वारा सरलता एवं सेवा का आडम्बरहीन मार्ग चुनते हैं। इस प्रकार 'गोदान' के लेखक का उद्देश्य कथानक द्वारा भारतीय ग्रामीण और नागरिक जीवन की विषमता दिखाना है।

'गोदान' में आधिकारिक और प्रासंगिक दो कथाएँ पाई जाती हैं। ग्रामीण

---

१ '[illegible]' ... ४८।

पात्रों एवं उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कथा आधिकारिक कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करनेवाली कथा प्रासंगिक है। रायसाहब एवं गोबर द्वारा लेखक ने इन दोनों कथाओं के बीच सम्बन्ध-सूत्र स्थापित किया है। दुहरा कथानक हो गया है। अतएव 'गोदान' की तुलना एकहरे कथानक वाले उपन्यासों से करना असंगत होगा। कथा-शिल्प की दृष्टि से 'रंगभूमि' की शैली पर ही प्रेमचन्द ने 'गोदान' लिखा है। परन्तु 'गोदान' में वस्तु-कौशल अधिक निखरा एवं सुलझा हुआ मिलता है। 'गोदान' की कथा-वस्तु का विषय एक नहीं अनेक है, फिर भी सब एक माला में पिरोया हुआ लगता है। 'गोदान' वास्तव में मानव-चरित्र का चित्र मात्र है। कथा-वस्तु बहुत ही शान्त और सरल गति से पाठक के अनुभव के साथ-साथ आगे बढ़ती है। कथानक में अनेक उतार-चढ़ाव हैं। केवल पारिवारिक जीवन के खंड-चित्र ही नहीं वरन् समुदायों की दुरावस्था के भी सजीव चित्र मिलते हैं।

'गोदान' में प्रेमचन्दजी की बहु-वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। गाँव के खेतों की मिट्टी की सुगंध है और शहर की मिलों की चिमनियों का काला धुआँ भी है। एक तरफ होरी की बँधी दुनियाँ है, दूसरी ओर मेहता और खन्ना का खुला संसार है। धनिया के सोहर का दर्दीला स्वर हवा में तैरता है और दूसरी ओर मालती के भाषण, फुलझड़ी की भाँति मुख से झरते हैं। ग्राम और नगर के जीवन की झलक के साथ-साथ, प्रेमचन्दजी ने अलग-अलग कौटुम्बिक जीवन के दृश्य दिखाये हैं। परिवार में भी स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-भाई और माँ-बेटी के व्यक्तिगत सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक आदर्शों एवं विश्वासों का, विभिन्न वर्गों के दृष्टिकोण के अनुरूप, व्यंजक चित्र उपस्थित किया है। इसप्रकार वैयक्तिक एव वर्गीय मनोवृत्तियों के सूक्ष्म उद्घाटन के लिये—प्रेमचन्द ने इतना विशाल चित्रपट चुना। कोई कोना छूटने नहीं पाया है। उनकी पर्यवेक्षण शक्ति अत्यंत सूक्ष्म थी। अनुभव, ज्ञान एवं विवेक के नेत्र सदैव खुले रहते थे। कथा केवल मनोरंजन ही नहीं करती, हमारे हृदयस्थ भावों का परिष्कार भी करती है। मनुष्य की अन्तःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिलती है, वह इनसे पूर्व के किसी उपन्यासकार में नहीं मिलती।

प्रेमचन्द की सफलता का रहस्य, उनके कथा कहने के ढंग में छिपा हुआ है। पाठक ऊबता नहीं है। 'कथा-मालिका' की प्रणाली की भाँति कथा में उपकथा निकलती जाती है। कथा कहने में फुर्सत का भाव मिलता है। बैठकबाजों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रेमचन्द को अवश्य होगा। लच्छेदार भाषा-शैली में पृष्ठ रँगते चले जा रहे हैं, लेकिन क्या मजाल कि पाठक तनिक भी ऊब जाय। गोबर-झुनिया की भेंट होती है। झुनिया अपने अनुभव सुनाने लगती है। एक पंडितजी का हाल सुनाती है, गपड्डू काश्मीरी की कथा सुनाती है, इस प्रकार बात शुरू कहीं से [illegible] जाती है। इसी प्रकार शिकार का प्रसंग है, जिसमें तीन

विवरणात्मक वर्णन उपन्यास की चर्बी को बढ़ाता अवश्य है, लेकिन फिर भी उसमें एक रस मिलता है, वर्णन में लेखक की तन्मयता दृष्टिगत होती है।

परन्तु अपनी वर्णना-शक्ति के आवेग में पड़कर कहीं-कहीं वे असावधान भी हो जाते हैं। प्रारम्भ में श्रीमती खन्ना का नाम कामिनी खन्ना बताया है, आगे चलकर गोविन्दी खन्ना हो गया है। गोबर के प्रथम पुत्र का नाम कहीं मुन्नू लिखा है कहीं लल्लू! सबसे अधिक अस्वाभाविक कोदई का प्रसंग है। गोबर जो उसे उपदेश देता है, वह लेखक का स्वर ही लगता है। मिर्जा खुर्शेद जिस कबड्डी का आयोजन करते हैं, वह भी अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद ही घटना लगती है। कबड्डी के लिये मिर्जा साहब चार सौ मजदूर पकड़ ले जाते हैं। मिर्जा साहब चाहे कितनी ही रोमानी प्रकृति के क्यों न हों, लखनऊ में उनकी भी कुछ प्रतिष्ठा है। जूतों की बड़ी दूकान है। वे कौंसिल के मेम्बर भी हैं। लखनऊ ही नहीं, किसी भी बड़े शहर में आपको चार सौ बेकार मजदूर एक स्थल पर खड़े हुए न मिलेंगे। चार सौ व्यक्ति एक साथ कबड्डी तो नहीं खेल सकते हैं, हाँ, युद्ध अवश्य हो सकता है। मिर्जा साहब का हाता इतना विशाल है कि दो-दो सौ मजदूर अलग-अलग दो पालियों में खड़े हैं, दो हजार प्रतिष्ठित एवं साधारण व्यक्ति भी दर्शक रूप में वहाँ उपस्थित हैं। इस विशाल संख्या और हाते का अनुपात कदाचित् लेखक भूल गया है। फिर मिर्जा के साथ प्राध्यापक एवं दार्शनिक मेहता भी जाँघियाँ पहन कूद पड़े हैं। कदाचित् इ[illegible] असाधारण दृश्य को दिखाने के लिये लेखक ने इस बहु-विज्ञापित कबड्डी में टिकट भी लगवा दिया है। मेहता की सुदृढ़ जाँघों और पिंडलियों से यूनानी प्रतिमा की तुलना के लिये, जंगल के एकांत वातावरण में मिस मालती तथा जंगली लड़की के समक्ष, बिना टिकट कुएँ से पानी निकालते हुए दार्शनिक मेहता का दृश्य उतना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता, जितना इस 'पब्लिक शो' में गूंगे का पार्ट अदा करते हुए मेहता की गर्दन पर सवार मिर्जाजी और बीच में हस्तक्षेप करती हुई लेडी डाक्टर मिस मालती का अनोखा दृश्य असाधारण एवं अस्वाभाविक प्रतीत होता है। वस्तुतः ऐसी अनावश्यक घटनाओं से उपन्यास का कलेवर भारी बन जाता है। लेकिन प्रेमचन्द की रोचक वर्णनशैली के कारण इन घटनाओं में भी पाठक को पूरा रस प्राप्त होता है।

संक्षेप में 'गोदान' उपन्यास वस्तु-कौशल या कथा-शिल्प की दृष्टि से प्रेमचन्द की एक प्रौढ़ रचना है।

———

चरित्र-चित्रण

' देखकर तो मैं और
न मागेगें !'

उपन्यास वस्तु-प्रधान भी होते हैं और चरित्र प्रधान भी। प्रेमचन्द ...क मृदुता तत्त्वों का उपयुक्त सम्मिश्रण मिलता है। घटना-चक्र में पड़कर ही इनके पात्रों का ...त न प्रस्फुटित होता है और पात्रों की चरित्रगत विशिष्टता ही नयी घटनाओं को जन्म दे... है। प्रेमचन्द ने चरित्र का दुर्बल एवं सबल दोनों पक्ष उद्‌घाटित किया है।

'गोदान' में प्रेमचंद के चरित्र-चित्रण का पुराना मानदंड भी बहुत कुछ बदल गया है एवं उसका शिल्प विधान भी! जब भी किसी नये पात्र को लेखक ने सामने उपस्थित किया है, एक सचेत समीक्षक के रूप में उसके चरित्र की पूरी व्याख्या कर दी है। शील-निरूपण की यह प्रणाली केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं, नाटकीय भी मिलती है। कथोपकथन एवं पात्रों के व्यवहारों द्वारा लेखक ने नाटकीय ढंग से उनका चरित्र प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द अपने पात्रों को अत्यन्त सजीव ढंग से उपस्थित करते हैं। उनके पात्र हाड़-माँस के बने व्यक्ति हैं।

प्रेमचन्द जी के अनुसार प्रत्येक पात्र के चरित्र-चित्रण की कुंजी है, 'जो जैसा दिखाता है, वह वस्तुतः उससे भिन्न है!' अच्छा व्यक्ति हो तो क्या, उसमें कुछ न कुछ बुराई अवश्य होगी। इसी प्रकार बुरे एवं पतित मनुष्य का भी कोई उज्वल पक्ष अवश्य होगा। उनके चित्रण में स्वाभाविकता एवं सजीवता का मूल कारण, उनके चरित्र के इस मनोवैज्ञानिक सत्य पक्ष की अचूक पकड़ ही है। प्रेमचन्द ने यथार्थ के नाम पर भी कहीं 'नग्नता' को प्रश्रय नहीं दिया है। उनके पात्रों का चरित्र वर्गीय विशेषताओं के साथ ही वैयक्तिक स्पन्दन लिये हुए होता है।

'गोदान' के सभी पात्र विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जमींदार रायसाहब, पूँजीपति खन्ना, ब्रोकर तखा, व्यापारी मिर्जा खुर्शेद, नये युग की तितली इंगलैंड रिटर्न मालती, सम्पादक पंडित ओंकारनाथ, पतिव्रता पुरानी रुढ़ियों से बँधी मिसेज खन्ना, स्वच्छंदता प्रिय सरोज एवं रायसाहब के पुत्र रुद्रपाल सिंह और दार्शनिक प्रोफेसर मेहता का संसार नागरिक जीवन के विभिन्न पक्षों का उद्‌घाटन करता है। कौंसल मेम्बर, पत्नी को पीटनेवाले एवं पत्नी से मार खानेवाले, जनाना-क्लब के संस्थापक, विभिन्न स्तर एवं जीवन-दर्शन के पात्र हैं और जीवन चरित्रों की इस भीड़ द्वारा नागरिक वातावरण सजीव हो उठा है। दूसरी ओर गाँव की दुनियाँ है। मेहनती लेकिन अभागा होरी है, उसकी साहसी पत्नी धनिया, जवान बेटा गोबर और सोना तथा रूपा बेटियाँ हैं। भोला उसकी बेटी झुनिया और दूसरी रंगीली पत्नी नोहरी एवं निखट्टू बेटों का एक अलग कुनबा है। इसके अतिरिक्त अज्ञानाधंकार में भटकनेवाले, भाई का गला काटनेवाले हीरा, शोभा और पुनिया आदि हैं। कृषक के शोषक झिंगुरी, पटेश्वरी, सहुआइन, मँगरू तथा नोखेराम हैं। धर्म के ठीकेदार और लूट के धन को छिपाने के लिये रामनामी चादर ऊपर ओढ़नेवाले दातादीन हैं, उनका रसिया बेटा मातादीन है जिसकी चमारिन सिलिया से आशनाई हो गई है, फिर भी धर्म की चादर

विवरणात्मक वर्णन है। लेकिन सभी पात्रों का उपन्यास में अपना महत्त्व है। सभी एक रस मिलता है, उपस्थित होते हैं। इन पात्रों के चरित्र की रेखाओं से ऊभरकर प्रभावी आँखों के आगे तैरने लगता है। ग्रामीण पात्रों के नाम अत्यन्त हो छोटी हैं। होरी और धनिया प्रौढ़ावस्था के साँचे में ढले हुए चरित्र हैं, इनके पूरक गोबर तथा झुनिया लगते हैं।

'गोदान' के यथार्थवादी प्रेमचन्द भी अपने पुराने आदर्शवादी रूप को छोड़ नहीं सके हैं। यद्यपि 'गोदान' ऐसी प्रौढ़-कृति में आदर्श स्थूल रूप से नहीं मिलता, लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर आदर्शवाद स्पष्ट हो जाता है। होरी का भ्रातृ-स्नेह एवं साधुता, उसके चरित्र का नैसर्गिक गुण न लगकर आदर्श का पलेथन लगता है। मातादीन, मालती आदि के चरित्र की कायापलट भी आदर्श-प्रेरित लगती है। आदर्शवाद के अनुरूप ही कुवाँरे मेहता और मालती का मित्रवत आजीवन गठबन्धन होता है। गोबर, धनिया, झुनिया, सिलिया, दातादीन, नोखेराम, झिंगुरी, रायसाहब, खन्ना, ओंकारनाथ आदि अनेक पात्रों के चरित्र में यथार्थ का रंग बहुत गहरा मिलता है।

प्रेमचन्द जी ने चरित्र-चित्रण करते समय किसी वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं किया है। उन्होंने ग्रामीण पात्रों की यदि चरित्रगत दुर्बलता दिखाने का साहस किया है तो साथ ही नागरिक पात्रों के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष पर भी प्रकाश डाला है। पहली बार 'गोदान' में उनके दृष्टिकोण में यह नवीनता तथा संतुलन लक्षित होता है।

होरी

होरी उस समूचे कृषक-वर्ग का प्रतीक है, जो शोषित और पीड़ित है। होरी अकेला है। उसका साथ देनेवाले, गाँव के लोग तो क्या, अपने सगे भाई-बन्द भी नहीं है। संकुचित दृष्टिकोण, अंधविश्वास एवं स्वार्थी मनोभाव उसे पुरखों से विरासत में प्राप्त हुए हैं। वह मालिक की खुशामद करने में भी पीछे नहीं हटता, क्योंकि वह जानता है कि जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है। दुःख के मलबे के नीचे दबा हुआ होरी सहृदय भी है। मालिक के पास होरी को जाना है। धनिया ने होरी की लाठी, मिरजई, जूते, पगड़ी और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिया।

होरी कहता है—'क्या ससुराल जाना है, जो पाँचों पोसाक लायी है? ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं बैठी है, जिसे जाकर दिखाऊँ।'

धनिया ने लजाते हुए कहा—'ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी!'

होरी ने फटी हुई मिरजई को बड़ी सावधानी से तह कर खाट पर रखते हुए कहा—'तो क्या तू समझती है, मैं बूढ़ा हो गया! अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते हैं।'

'जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी

अंजन लगाने तक को तो मिलता नहीं, पाठे होंगे। तुम्हारी दशा देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा? किसके द्वार भीख मागेंगे?'

कहाँ वह मृदु-विनोद, कहाँ यह दारुण विपन्नता! होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गई। बोला—'साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया! इसके पहले ही चल देंगे।[1]

यह है भारत के परिश्रमी कृषक के जीवन का दर्द। और उसका सपना भी कितना छोटा सा है, लेकिन असाध बन गया है? होरी के जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध, सबसे रंगीन लालसा एक गाय की थी। गाय से द्वार की शोभा बढ़ती है। उसके दर्शन से नेत्र पवित्र होते हैं। उसके दूध से गोबर की सूखी हड्डियों को पुनः नया जीवन प्राप्त होगा। अतएव बरसों से होरी के मन में एक गाय की लालसा हिलोरें ले रही थी। भोला की गायों को देखकर उसकी व्यवहारिक बुद्धि जाग उठी। चापलूसी करने में होरी पूरा माहिर था। भोला की सच्चरित्रता का गुणानुवाद कर, धनिया का कल्पित प्रसंसा पत्र उसे अर्पित कर और एक सुयोग्य घरनी का आश्वासन देकर, होरी ने भोला का मन जीत लिया। वह उसे गाय देने को तैयार हो गया।

होरी पर चार सौ रूपये का कर्ज था, परन्तु वह उधार को एक प्रकार से मुफ्त ही समझता था। स्वार्थ-सिद्धि के लिये थोड़ा-बहुत छल करना वह बुरा नहीं समझता। घर में दो चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रूई में कुछ बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज था। फिर भी होरी ने किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना न सीखा था। होरी भोला के भूखे बैलों के लिये सहर्ष भूसा देने को तैयार हो जाता है, परन्तु बदले में गाय लेने से इन्कार कर देता है। संकट की चीज लेना पाप है, यह बात जन्म-जन्मांतरो से उसकी आत्मा का अंश बन गई थी!

होरी मानता है कि भगवान ने उसे गुलाम बनाया है, इसलिये अपने मतलब के लिये मालिक की सलामी करना वह बुरा नहीं समझता। वह यह भी मानता है कि सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है और मनुष्य अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार दुःख या सुख भोगता है। भाग्यवादी होरी का सारा अनाज खलिहान में तुल जाता है। केवल पाँच सेर उसके लिये बचता है। जमींदार तो एक हैं, मगर महाजन अनेक हैं। जिसके शरीर से इतनी जोंकें चिपकी हो, उसका रक्त एक दिन अवश्य चुक जायेगा! होरी कहता भी है—'हमारा जनम इसी लिये हुआ है कि अपना रक्त बहायें और बड़ो का घर भरें!'[2]

होरी का पारिवारिक जीवन विशेष अच्छा न था। उसके भाई सोभा और

---

१. 'गोदान' पृष्ठ—५, २. वही—पृष्ठ २३।

हीरा साथ होते तो तीन हल एक साथ चलते। धनिया ने परिवार के लिये अपने को मिटाकर भी, देवरानियों का सद्भाव प्राप्त नहीं किया। तीनों भाइयों में अलगौझा हो गया, घर की साख जाती रही। वह अपने पुत्र गोबर को दूध भी नहीं पिला सकता। एक पैसा बचता ही नहीं, गोबर और सोना की शादी कैसे हो! लड़की की सगाई न हुई तो सारी बिरादरी हँसेगी, इसकी भी होरी को चिन्ता थी।

होरी भाइयों के लिये अभी भी जान देने को तैयार है। वह ढाई-रुपये बाँस में बेईमानी करने का साहस करता है, परन्तु अन्त में लज्जित होता है। होरी के घर में गाय आती है। सारा गाँव देखने आता है। होरी को भाइयों की याद आती है। अलग हो गया तो क्या, रक्त तो वही है। वह कभी भाईयों का बुरा नहीं सोच सकता। होरी भाईयों के मुख से अपनी निन्दा सुनकर, उन पर अपना क्रोध नहीं प्रकट करता। वह गाय को खोलकर वापस कर देना चाहता है। धनिया रोकती है। अन्त में धनिया उनसे लड़ने पहुँच जाती है। होरी झगड़ा नहीं चाहता। वह पत्नी को पीटने से भी नहीं हिचकता। उसे घसीटकर घर ले आता है।

होरी के पेट में बात नहीं पचती, वह धनिया से दिल का राज खोल देता है। हीरा गाय को विष देता है। होरी ने उसी रात में गाय के पास हीरा को खड़े देखा था। विषकांड के बाद रात्रि में उसके द्वार पर जमघट लगता है। हीरा भी हत्यारे को रोष में गालियाँ देता है। होरी भाई का विचार कर उस समय चुप रह जाता है। धनिया से वह अपना सन्देह स्पष्ट करता है, परन्तु चेतावनी भी दे देता है कि किसी से भूलकर इसका जिक्र नहीं करना!

धनिया इतनी सहनशील न थी। होरी उसे पीटता है। लेकिन उसकी जबान नहीं बन्द होती। होरी उसे शान्त करने के लिये बेटे की झूठी कसम खाने से भी नहीं हिचकता। संध्या समय थानेदार गाँव में चौकीदार से सूचना प्राप्त कर जाँच के लिये आते हैं। होरी के लिये 'जीवन में यह पहला अवसर था कि वह दारोगा के सामने आया। ऐसा डर रहा था, जैसे फाँसी हो जायगी। धनिया को पीटते समय उसका एक-एक अंग फड़क रहा था। दारोगा के सामने कछुए की भाँति भीतर सिमटा जाता था!...'[1]

आदर्शवादी होरी अपने भाई की 'इज्जत' बचाने के लिये दारोगा से भी झूठ बोलता है। होरी जीते जी अपने भाई हीरा के घर में तलाशी नहीं होने देना चाहता। तलाशी से बचने का केवल एक ही रास्ता है। दारोगा की जेब गर्म करने की नेक सलाह गाँव के मुखिया उसे देते हैं। कर्ज में सर से पाँव तक डूबा हुआ होरी, अपने भाई की 'इज्जत' बचाने के लिये और कर्ज लेने को तैयार हो जाता है। प्रेमचन्दजी ने व्यंगपूर्वक होरी की इस सात्विक मनोवृत्ति पर कटाक्ष करते हुए लिखा है—'और होरी के लिये सौ और पचास में कोई अन्तर न था। इस तलाशी का

१. 'गोदान'—पृष्ठ ११३।

संकट उसके सिर से टल जाय। पूजा चाहे कितनी ही चढ़ानी पड़े। मरे को मन-भर लकड़ी से जलाओ, या दस मन से, उसे क्या चिन्ता!'[१]

होरी की इस आदर्श-निष्ठा को कुछ समालोचक प्रेमचन्द के आदर्शवाद के साथ जोड़ते हैं। वस्तुतः यह अज्ञान-जनित 'आदर्शवाद' है। इसकी खिल्ली स्वयं प्रेमचंदजी ने धनिया के मुख से उड़ायी है।

होरी अपने भाई हीरा की अनुपस्थिति में उसके खेतों की स्वयं देखभाल करता है। पहर रात-रात काम करके उसके धान रोपे। फलतः पुनिया के बखार में धान रखने की जगह न मिली और होरी को खरीफ की फसल में बहुत थोड़ा अनाज मिला। धनियाँ से उसकी बोलचाल बन्द हो गई। माँ बेटे ने उसका बहिष्कार कर दिया था। दो नावों पर सवार होनेवालों की भाँति उसकी दुर्गति होती थी। होरी को ज्वर आया। एक महीने तक वह खाट पर पड़ा रहा। इस बीमारी के कारण पुनः पति-पत्नी में बोलचाल शुरू गई। होरी लजाता हुआ बोला—'अब उसकी चर्चा न कर धनिया! मेरे ऊपर कोई भूत सवार था। इसका मुझे कितना दुःख हुआ है, वह मैं ही जानता हूँ।'

'और जो मैं भी उस क्रोध में डूब मरी होती!'

'तो क्या मैं रोने के लिए बैठा रहता? मेरी लहास भी तेरे साथ चिता पर जाती!'[२]

यह है दाम्पत्य-प्रेम का उत्कृष्ट रूप। पति-पत्नी आपस में लड़ते हैं, एक दूसरे को जली खोटी भी सुना देते हैं, परन्तु फिर भी प्रेम करते हैं। एक दूसरे पर जान देने को तैयार हैं।

होरी की विपन्नता कितनी करुण है। माघ की शीत से सिहरती रात में वह खेत अगोरने के लिए मँड़ैया पर लेटा हुआ है। 'चाहता था, शीत को भूल जाय और सो रहे, लेकिन तार तार कम्बल और फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल।......बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर और हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था। पाँच साल हुये यह मिर्जई बनवायी थी। धनियाँ ने एक प्रकार से जबर्दस्ती बनवा दी थी......और कम्बल तो उसके जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज यही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है...!...उसकी (धनियाँ की) साड़ी फट गई है, मगर कल मुझसे कहा भी, तो सोना की साड़ी के लिये अपनी साड़ी का नाम तक न लिया। सोना की साड़ी अभी दो एक महीने गलियाँ लगाकर चल सकती है। उसकी साड़ी तो मारे पेबंदों के बिलकुल कथरी हो गयी है!'[३]

गोबर झुनिया को घर पर छोड़कर भाग जाता है। होरी पहले झुनिया को घर से निकालने का निश्चय करता है, परन्तु धनिया का आग्रह और रोती हुई अभागिन

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ११५, २. वही—पृष्ठ १२०, ३. वही—पृष्ठ १२१।

झुनियाँ को देख उसका क्रोध पानी-पानी हो जाता है। पाँवों पर गिरी झुनियाँ की पीठ पर हाथ फेरते हुए पितृत्व का सारा वात्सल्य उस पर उड़ेलते हुए वह कहता है—'डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह जैसी तू भोला की बेटी है, वैसी ही मेरी बेटी है। जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिन्ता मत कर। हमारे रहते कोई तुझे तिरछी आँखों न देख सकेगा। भोज-भात जो लगेगा, वह हम सब दे लेंगे, तू खातिर जमा रख!'[१]

होरी सच्चा मर्द है। अपने कौल का पक्का है। वह अपनी बिरादरी के ठेकेदारों से स्पष्ट कह देता है कि बिरादरी के डर से हत्यारे का काम नहीं कर सकता। वह यह भी जानता है कि गाँव में कोई दूध का धुला नहीं है। कोई ऐसा पंच नहीं जिसके उजले वस्त्र पर कीचड़ का दाग न हो। लेकिन उनका विरोध कौन करे? जल में रहकर मगरमच्छ से वैर कर जिया नहीं जा सकता है। उसकी दया पर भी अवलम्बित रहकर प्राण कहाँ बचता है जो उससे वैर ठाना जाय! पंचायत होती है। होरी पर सौ नकद और तीस मन अनाज का डाँड़ लगाया जाता है। होरी पंचों के आगे सर झुका देता है—'...पंच में परमेश्वर रहते हैं। उनका जो न्याय है, वह सिर आँखों पर, अगर भगवान् की यही इच्छा है कि हम गाँव छोड़कर भाग जायँ, तो हमारा क्या बस। पंचो, हमारे पास जो कुछ है, वह अभी खलिहान में है। एक दाना भी घर में नहीं आया, जितना चाहो, ले लो। सब लेना चाहो, सब ले लो। हमारा भगवान मालिक है, जितनी कमी पड़े, उसमें हमारे दोनों बैल ले लेना!'...[२]

कितना निरीह आत्म-समर्पण है। डूबते को भले ही भगवान न ऊबारे, उसके लिये तो केवल भगवान का नाम ही पर्याप्त है। जो धारा की भँवर में बलात् चक्कर देकर डुबाया जा रहा हो, उसका आँख बन्द कर लेना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता! होरी के लिये बिरादरी का वह आतंक था कि अपने सिर पर लादकर अनाज ढो रहा था, मानो अपनी कब्र खोद रहा हो। जमींदार, साहूकार, सरकार किसका इतना रोब था? कल बाल-बच्चे क्या खायेंगे, इसकी चिन्ता प्राणों को सोख लेती थी, पर बिरादरी का भय पिशाच की भाँति सिर पर सवार आँकुस दिये जा रहा था। बिरादरी से पृथक् जीवन की वह कल्पना ही न कर सकता था। डाँड़ के रुपये के लिये होरी अपने घर को झिंगुरीसिंह के हाथ गिरो रखता है। नोखेराम तो चाहते थे कि उसके बैल ही बिकवा लिये जायँ। लेकिन उनकी न चली।

बिरादरी की बलि-वेदी पर होरी सब कुछ होम कर देता है। होरी के चरित्र का यही दुर्बल पक्ष है। वह धनिया के साथ मिलकर बिरादरी के अन्याय का विरोध नहीं करता, वरन् धनिया के विरोधी स्वर को भी कुचल देना चाहता है। परन्तु यही प्रेमचन्द के चरित्र-चित्रण की सफलता का रहस्य है। उनके पात्र सिद्धान्तों के साँचे में गढ़े पुतले नहीं होते, वरन् हाड़-माँस के जीवित मानव होते हैं। उनमें सब अच्छा

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १२५, २. वही—पृष्ठ १३१।

और उजला ही नहीं होता। साधारण मानव चरित्र की दुर्बलताएँ उन पात्रों के चरित्र में मानवता का बीजारोपण करती हैं। होरी धर्म के नाम पर भोला को बैल ले जाने से भी नहीं रोकता। और अब होरी के खेत किसी अबला के घर की भाँति सूने पड़े रहते हैं।

होरी के प्राण महाजनों के चंगुल में फँसे छटपटा कर रह जाते हैं। होरी के जीवन की महत्त्वाकांक्षा भी अत्यन्त साधारण है। वह कहता है कि इस जन्म में तो महाजनों से गला छूटने की कोई आशा नहीं। और—'हम राज नहीं चाहते, भोग-विलास नहीं चाहते, खाली मोटा-झोटा पहनना, और मोटा-झोटा-खाना और मरजाद के साथ रहना चाहते हैं। वह भी नहीं सधता।'[1]

वस्तुतः वह जाल में फँसा हुआ था, जितना ही फड़फड़ाता उतना ही और उलझता तथा जकड़ता जाता था। सोने का अंडा देनेवाली इस मुर्गी को चारा देकर महाजन जिन्दा रखना चाहता था। उसकी गर्दन पर छुरी चलाकर उसे कुछ विशेष प्राप्त नहीं होता। जब इस मुर्गी के प्राण संकट में देखता, महाजन चाँदी के रूपहले जाल के आवरण में, प्राण बचाने का एहसान जताते हुए, उसे सदा और हमेशा के लिये, जाल में बाँध लेता। सूद के नाम पर कृषक की पसीने की कमाई का शोषण किया जाता। यह एक प्रकार से आजीवन गुलामी का पट्टा होता। जिंदगी भर कमाते जाओ, महाजन को सूद भरते जाओ, लेकिन मूल जस का तस! होरी को ऊख के एक सौ बीस रुपये मिलते हैं। झिंगुरी सिंह सूदादि का बकाया काटकर पचीस रुपये होरी के हवाले करता है। नोखेराम इसके बाद ललकारता है। होरी का सर चकराता है और वह पचीसों रुपये उसके आगे फेंककर चल देता है।

धनिया पूछती है कि मजूरी किस मुँह से करोगे! महतो नहीं कहलाते! होरी उत्तर देता है—'मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाय तो किसान हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में नहीं होता तो यह सब बिपत क्यों आती? क्यों गाय मरती? क्यों लड़का नालायक निकल जाता?'[2]

भारत के करोड़ों अशिक्षित कृषकों की भाँति होरी भी हर विपत्ति के मूल में भगवान की इच्छा या भाग्य का फल देखता है। अब वह दातादीन की मजूरी करने लगा है। किसान नहीं, मजदूर है। अब दातादीन से पुरोहित-जजमान का नाता न होकर, मालिक-मजूर का नाता है। इधर महीनों से उसे भर-पेट भोजन नहीं मिला। प्रायः एक जून तो चबैने पर ही कटता था, दूसरे जून भी कभी आधा पेट भोजन मिला, कभी कड़ाका हो गया। दातादीन सर पर सवार थे। शारीरिक दुर्बलता के कारण होरी का हाथ तेजी से न उठ रहा था। दातादीन ने ताना दिया। होरी का आहत अभिमान जाग पड़ा।

प्रेमचन्द के शब्दों में—'होरी उन्मत्त की भाँति सिर से ऊपर गँड़ासा उठा-उठा-

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १८६ २. वही—पृष्ठ १९०।

कर ऊख के टुकड़ों के ढेर करता जाता था। उसके भीतर जैसे आग लगी हुई थी। उसमें अलौकिक शक्ति आ गयी थी। उसमें जो पीढ़ियों का संचित पानी था, वह इस समय जैसे भाप बनकर उसे यन्त्र की सी अन्ध-शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी आँखों में अँधेरा छाने लगा। सिर में फिरकी सी चल रही थी। फिर भी उसके हाथ यन्त्र की गति से, बिना थके, बिना रुके उठ रहे थे। उसकी देह से पसीने की धारा निकल रही थी, मुँह से फिचकुर छूट रहा था, सिर में धम-धम का शब्द हो रहा था, पर उस पर जैसे कोई भूत सवार हो गया हो।......सहसा उसकी आँखों में निबिड़ अन्धकार छा गया। मालूम हुआ वह जमीन में धँसा जा रहा है। उसने सँभलने की चेष्टा से शून्य में हाथ फैला दिये, और अचेत हो गया। गँड़ासा हाथ से छूट गया और वह औंधे मुँह जमीन पर पड़ गया।...'[1]

जानवर से भी इतना काम लिया जाय तो वह ठंडा पड़ जाय, फिर होरी तो इंसान ही था। होरी को धर्म की घुट्टी बचपन से पिलाई गई थी। वह ब्राह्मण दातादीन का एक पैसा सूद का भी नहीं मार सकता था। गोबर जब व्यवहारिक ज्ञान की बातें करता है तो होरी उत्तर देता है—'बेटा, जब तक मैं जीता हूँ, मुझे अपने रास्ते चलने दो। जब मैं मर जाऊँ तो तुम्हारी जो इच्छा हो वह करना।'[2]

होरी की पीढ़ी को नहीं बदला जा सकता, क्योंकि इनका जीवन एक साँचे में ढल चुका है। यदि आशा की किरण कहीं है, तो गोबर की नयी पीढ़ी में। वे पुराने शोषकों के साँचों को तोड़ने का साहस रखते हैं। होरी पर जमींदार के कारिंदे लगान के लिए नकली दावा कर सकते हैं, क्योंकि वह लगान देकर भी रसीद नहीं माँगता—लेकिन गोबर की चुनौती उनके इरादे ठंडे करने के लिए पर्याप्त सिद्ध होती है। फल यह होता है कि बाप और बेटा आपस में सदैव छत्तीस बने रहते हैं।

होरी पत्नी को पीटता है तो उससे विनोद और चुहल भी करता है। रसिकता का भी उसमें अभाव नहीं है। दुलारी सहुआइन से भाभी का रिश्ता जोड़कर देवर होरी खेत-खलिहान में उसे छेड़ा करता था। दुःख की दवा विनोद है। वसन्त में जब कोयल आम की डालियों में छिपी अपनी रसीली, मधुर, आत्मस्पर्शी कूक से आशाओं को जगाती फिरती थी, महुए की डालियों पर मैनों की बारात सी बैठी थी, नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा सा घोल देते थे, होरी आम के बाग में पहुँचा। उसका व्यथित निराश मन भी इस व्यापक शोभा और स्फूर्ति में आकर गाने लगा—

> 'हिया जरत रहत दिन रैन।
> आम की डरिया कोयल बोले, तनिक न आवत चैन।'

होरी की भाँति उसके बैल भी मेहनत करते-करते बूढ़े हो गये हैं। होरी कहता है—'जी तो चाहता है, इसे पिंसिन दे दूँ, लेकिन किसान और किसान के बैल उनको जमराज ही पिंसिन दे, तो मिले। इसकी गर्दन पर जुआ रखते मेरा मन कचोटता है।

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ २०९, २. वही—पृष्ठ २२४,

बेचारा सोचता होगा, अब भी छुट्टी नहीं, अब क्या मेरा हाड़ जोतेगा क्या, लेकिन अपना कोई काबू नहीं।"[1]

कितना मार्मिक व्यंग है। शोषण के जुए के नीचे कृषक वैसे ही जोता जाता है जैसे बैल ! लेकिन कृषक इंसान होते हुए भी अज्ञान में डूबे रहने के कारण, जानवर बन गया है। विद्रोह का साहस नहीं कर सकता, क्योकि निराश भाव से उसने ईश्वर एवं भाग्य के समक्ष घुटने टेक दिये हैं।

होरी की दशा दिन-दिन टूटती जाती थी। जीवन-संघर्ष में सदैव उसकी हार हुई, लेकिन उसने साहस न खोया। प्रत्येक हार उसे भाग्य से लड़ने की शक्ति देती थी। लेकिन अब उसमें आत्म-विश्वास भी शेष न रहा। वह धर्म पर अटल न रह सका, नीयत भी बिगाड़ी, अधर्म भी कमाया, लेकिन जीवन की कोई अभिलाषा पूर्ण न हुई। फ़ाके सहे, अपयश लिया, लेकिन फिर भी वह अपनी जमीन को न बचा सका। तीन वर्ष का लगान बाकी पड़ गया था, नोखेराम ने बेदखली का दावा कर दिया था। कहीं से रुपये मिलने की आशा न थी। यह निश्चित था कि जमीन हाथ से निकल जायेगी। होरी को सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि खाया नहीं, उड़ाया नहीं, लेकिन उपज ही न हो और जो हो भी, वह कौड़ियों के मोल बिके, तो किसान क्या करे ?

होरी जमीन के मोह से पाप की गठरी सिर पर लादता है। दातादीन उसे अपनी कन्या रूपा के विक्रय का पाठ पढ़ाते हैं। प्रौढ़ रामसेवक से फूल सी सुकुमार रूपा का गठ-बन्धन हो जाता है। होरी को दो सौ रुपये प्राप्त होते हैं। लेकिन......
'होरी ने रुपए लिये तो उसका हाथ काँप रहा था। उसका सिर ऊपर उठ न सका, मुँह से एक शब्द न निकला, जैसे अपमान के अथाह गढ़े में गिर पड़ा है और गिरता चला जाता है। आज तीस साल तक जीवन से लड़ते रहने के बाद वह परास्त हुआ है और ऐसा परास्त हुआ है कि मानो उसको नगर के द्वार पर खड़ा कर दिया गया है और जो आता है, उसके मुँह पर थूक देता है। वह चिल्ला चिल्लाकर कह रहा भाइयों मैं दया का पात्र हूँ, मैंने नहीं जाना, जेठ की लू कैसी होती है और माघ-वर्षा कैसी होती है ! इस देह को चीरकर देखो, इसमें कितना प्राण रह गया है, कि जख्मों से चूर, कितना ठोकरों से कुचला हुआ ! उससे पूछो, कभी तूने विश्रा दर्शन किये, कभी तू छाँह में बैठा। उस पर यह अपमान ! और अब भी वह जी कायर, लोभी, अधम ! उसका सारा विश्वास जो अगाध होकर स्थूल और अ गया था, मानो टूक टूक उड़ गया है !'[2]

यह है यथार्थ चित्र ! प्रगतिशील प्रेमचन्द ने होरी के चरित्र द्वारा आदर्श पर विजय दिखाई है। होरी के आदर्श, यथार्थ के समक्ष फीके प हीरा आता है, होरी से क्षमा-याचना करता है। होरी फूल उठता है।

---

१. 'गोदान'--पृष्ठ ३०१, २. वही—पृष्ठ ३५८

जीवन-संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं इन्हीं हारों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएँ हैं होरी की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान् हो गयी है। उसके बखार में सौ दो सौ मन अनाज भरा होता है, उसकी हाँड़ी में हजार पाँच सौ गड़े होते, पर उससे यह स्वर्ग का सुख क्या मिल सकता था?

होरी जानता है कि मोटे वह होते हैं जिन्हें न ऋण की सोच होती है, न इज्जत की। इस जमाने में मोटा होना बेहयाई है। सौ को दुबला करके तब एक मो होता है। होरी मृत्यु का आलिंगन करने से पूर्व कहता है—'मेरा कहा सुना माफ करना धनियाँ! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गयी। अब तो यह के रुपए क्रिया करम में जायेंगे। रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी? सब दुर्दशा तो हो गयी। अब मरने दे!'[1]

होरी, समस्त हिंदी और ऊर्दू साहित्य का एक महान जीवन्त पात्र है। दरिद्रता के कारण वह अनेक बार क्षुद्रता के आवर्त में फँस जाता है। वह चतुर्दिक शोषण की चक्की में पिसता है। मृत्यु भी उसके दुःख का अन्त नहीं कर पाती। उसकी मनुष्यता अटूट है। होरी की दुर्बलताएँ, भारतीय कृषक की सामान्य चरित्रगत दुर्बलताएँ हैं, जिसका मूल है उसका अज्ञान! होरी की महत्त्वाकांक्षा साधारण है। वह राज-सुख नहीं चाहता, भोग-विलास उसका इष्ट नहीं है, वरन् केवल मोटा खाना और कपड़ा तथा मरजाद के साथ जीना चाहता है। लेकिन आजीवन श्रम की चक्की में पिसते रहने पर भी उसकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। होरी समस्त उपन्यास का केन्द्र विन्दु है। उसका चरित्र धीरोदात्त नायक के साँचे में न ढला होकर, साधारण भारतीय कृषक की सामान्य विशेषताओं एवं दुर्बलताओं का पुंजीभूत रूप है। वह किसी गमले का पौधा न होकर, वन्य-कुसुम की भाँति फूला-फला एवं हरा-भरा है। उसकी शाखों पर किसी माली की कैंची नहीं चली है। होरी का अस्त व्यस्त जीवन हरी-भरी बेतरतीब ती पत्तियों के बीच खिले वन्य-कुसुम की तरह आकर्षक एवं प्रभावकारी है।

धनिया

यह एक जागरूक नारी है। होरी की भाँति आदर्शों की हवा में ऊपर नहीं। अन्याय अथवा अत्याचार को मूक भाव से सह लेना, इसकी प्रकृति के सर्वथा है। परिश्रम से यह कभी भी जी नहीं चुराती। छतीसवें साल में ही इसके पक गये हैं, चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गई है और सुंदर गेहुँआ रंग साँवला हो आँखों से कम सूझता है। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह से पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी।

बादाम की भाँति ऊपर से कठोर लेकिन भीतर से कोमल है। भोला

---

[1] दान'—पृष्ठ ३६३।

को वह भूसा नहीं देना चाहती लेकिन अपनी प्रशंसा सुनकर, उसका हृदय गद्‌गद हो उठता है। भोला का सोत्साह स्वागत होता है एवं वह उसे एक नहीं, तीन खाँचे भरकर भूसा दे देती है। होरी और गोबर को भोला के साथ भूसा उसके घर तक पहुँचाने का आदेश देती है। उसकी इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर होरी कहता है—'या तो चलेगी नहीं, या चलेगी तो दौड़ने लगेगी!'[१]

धनिया ने ससुराल में आकर कभी चैन न किया। डोली से उतरते ही सारा काम सिर पर उठा लिया। घर के पीछे उसने अपने को मिटा दिया। फिर भी देवरानियाँ उससे जलती थी। उसके घर गाय आती है। हीरा ताना देता है कि गाय बेईमानी के धन से मोल ली गयी है, भाइयों को धोखा देकर रुपये बचा रखे थे। होरी यह सुनकर भी सह लेता है। धनिया इतनी सहनशील न थी। उसे जब क्रोध चढ़ता है तो पूरी चण्डी बन जाती है। वह सबसे लड़ने को तैयार रहती। मुँह से आग बरसती। सारे गाँव में जाग पड़ गई। तमाशा देखने को भीड़ जुट गई थी। हीरा को गालियाँ देती है और उत्तर में गालियाँ पाती है। होरी कहता है—'मैं इस औरत को क्या करूँ। जब मेरी पीठ में धूल लगती है, तो इसी के कारन। न जाने क्यों इससे चुप नहीं रह जाता।'[२]

भाइयों के सामने भीगी बिल्ली बन जानेवाला होरी, धनिया को बुरी तरह डाँटता है। धनिया से सम्बन्ध-विच्छेद तक कर लेने की होरी मन में ठान लेता है। जब वह तलाशी रोकने के लिये एवं इज्जत बचाने के लिये दारोगा को अंजुली भर रुपये भेंट करना चाहता है, धनिया इज्जत का नकली पर्दा उतार फेंकती है। दारोगाजी खिसियाकर धनिया को शैतान की खाला कहकर उस पर अपना संदेह प्रकट करते हैं। धनिया हाथ मटकाकर उत्तर देती है—'हाँ, दे दिया। अपनी गाय थी, मार डाली, फेर? किसी दूसरे का जानवर तो नहीं मारा? तुम्हारी तहकियात में यही निकलता है, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकड़ियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और अकल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है। दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात है!'[३]

अन्याय के समक्ष झुकना धनिया ने सीखा ही न था। वह होरी को उधार रुपये देनेवाले गाँव के मुखियों की भी खबर लेती है। उसकी दिलेरी के फलस्वरूप दारोगा होरी से रुपये वसूल न करके, गाँव के नेताओं से ऐंठता है। इस घटना के बाद होरी और धनिया में मनमुटाव हो गया। गोबर माँ के पक्ष में था। धनिया के साहस के कारण उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है। उसे अलौकिक किंवदंतियों का केन्द्र बनाया जाने लगा। होरी भी अनुभव करता है कि सारे गाँव के सामने धनिया को मारना उसकी नीचता थी। होरी को ज्वर आता है। धनिया का पति-प्रेम पुनः विजय पाता है। वह पति सेवा करती है। वह सोचती है—'पति जब मर रहा

१. 'गोदान'--पृष्ठ २२, २. वही--पृष्ठ ४५, ३. वही—पृष्ठ ११६।

है, तो उससे कैसा वैर। ऐसी दशा में तो वैरियों का वैर नहीं रहता, वह तो अपना पति है। लाख बुरा हो, पर उसी के साथ जीवन के पचीस साल काटे हैं, सुख किया है तो उसी के साथ, दुःख भोगा है तो उसी के साथ, अब तो चाहे वह अच्छा है या बुरा, अपना है!'[१]

धनिया वात्सल्यमयी नारी है। वह पहले झुनिया के विरूद्ध होरी के समक्ष विष उगलती है। जब होरी उसे घर से निकालने का दृढ़ निश्चय कर लेता है, तब विशाल मातृ हृदय रखनेवाली धनिया उसे रोकते हुए कहती है—'हाँ लेकिन इतनी रात गये घर से निकालना उचित नहीं। पाँव भारी है, कहीं डर-डगा जाय, तो और आफत हो। ऐसी दशा में कुछ करते-धरते भी तो नहीं बनता!...देखो तुम्हें मेरी सौंह, उस पर हाथ न उठाना। वह तो आप ही रो रही है। भाग की खोटी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता।...'[२]

वह झुनिया को सांत्वना देते हुए कहती है—'तू चल घर में बैठ, मैं देख लूँगी काका और भैया को। संसार में उन्हीं का राज नहीं है। बहुत करेंगे, अपने गहने ले लेंगे। फेंक देना उतारकर!'[३]

अपने आँचल की ठंडी छाँह में झुनिया को रखनेवाली धनिया, गोबर के लिये कहती है—'कायर कहीं का। जिसकी बाँह पकड़ी, उसका निबाह करना चाहिये कि मुँह में कालिख लगाकर भाग जाना चाहिये। अब जो आये, घर में पैठने न दूँ!'[४]

गाँव-वालों ने होरी को जाति-बाहर कर दिया। पानी बन्द करने का किसी को साहस न हुआ, क्योंकि धनिया के चण्डी रूप से सभी डरते थे। दातादीन उसे घर से निकालने की नेक-सलाह धनिया को देते हैं। लेकिन वह जानती है कि झुनिया के गर्भ में जो बालक है, वह उसी के हृदय का टुकड़ा है। वह दातादीन को तीव्र स्वर में उत्तर देती है।

धनिया, होरी से अधिक प्रगतिशील है एवं यथार्थ-दृष्टि सम्पन्न भी। वह न केवल शोषक बिरादरी की धज्जियाँ उड़ाती है, वरन् लुटेरे पंचों की असलियत भी जानती है—'यह पंच नहीं हैं, राछस हैं, पक्के राछस! यह सब हमारी जगह-जमीन छीनकर माल मारना चाहते हैं। डाँड़ तो बहाना है। समझाती जाती हूँ, पर तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं। तुम इन पिशाचों से दया की आसा रखते हो!...'[५]

होरी उसका साथ नहीं देता है। यदि होरी ने धनियाँ के साथ अन्याय का सोत्साह विरोध किया होता, तो 'गोदान' की कहानी ही दूसरी होती। धनियाँ, होरी से कम परिश्रम नहीं करती, एवं वह अपने अधिकारों के प्रति सजग भी है। वह अपनी पसीने की कमाई पर दूसरे को डाका डालते नहीं देख सकती। जब केवल डेढ़-दो मन जौ शेष रह जाता है और उसे भी होरी पंचों को भेंट करने के लिए ले जाना चाहता

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १२०, २. वही—पृष्ठ १२४-२५, ३. वही—पृष्ठ १२५, ४. वही—पृष्ठ १२६, ५. वही —पृष्ठ १३३।

है, धनिया रोकते हुए कहती है—'अच्छा, अब रहने दो। ढो तो चुके बिरादरी की लाज। बच्चों के लिए भी कुछ छोड़ोगे कि सब बिरादरी के भाड़ में झोंक दोगे। मैं तुमसे हार जाती हूँ। मेरे भाग्य में तुम्हीं जैसे बुद्धू का संग लिखा था!......मर मरकर हमने कमाया, पहर रात-रात को सींचा, अगोरा, इसीलिए कि पंच लोग मूछों पर ताव देकर भोग लगायें और हमारे बच्चे दाने-दाने को तरसें। तुमने अकेले ही सब कुछ नहीं कर लिया है। मैं भी अपनी बच्चियों के साथ सती हुई हूँ। सीधे टोकरी रख दो, नहीं आज सदा के लिये नाता टूट जायगा। कहे देती हूँ!...'[१]

झुनिया पुत्र-प्रसव करती है। धनिया अपनी दोनों लड़कियों के साथ में गला फाड़-फाड़ कर सोहर गा रही थी, जिसमें सारा गाँव सुन ले। यह पहला अवसर था जबकि ऐसे शुभ-दिन बिरादरी की कोई औरत सम्मिलित नहीं हुई। धनिया कब मानने वाली थी। अगर बिरादरी को उसकी परवा नहीं है, तो वह भी बिरादरी की परवा नहीं करती। होरी जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर उतारता है। वह गोबर को कोसता है। इसपर उत्तेजित होकर धनिया कहती है—'कौन सा पाप किया है, जिसके लिये बिरादरी से डरे, किसी की चोरी की है, किसी का माल काटा है? मेहरिया रख लेना पाप नहीं है, हाँ, रख के छोड़ देना पाप है। आदमी का बहुत सीधा होना भी बुरा है। उसके सीधेपन का फल यही होता है कि कुत्ते भी मुँह चाटने लगते हैं।...मेरे भाग फूट गये कि तुम जैसे मर्द से पाला पड़ा।'...[२]

धनिया की जिह्वा पर सरस्वती का निवास है। प्रेमचन्द की कोई भी नारी, इतनी साहसी एवं स्पष्टवक्ता नहीं मिलती, जितनी अपढ़ गँवार तथा निर्धन धनिया है। पुन्नी अपने उदार स्नेह से धनिया को पराजित करती है। होरी की सारी फसल डाँड़ की भेंट हो चुकी है। बच्चे भूख से बिलबिला रहे हैं। पुन्नी की सारी उपज होरी के कठोर श्रम का फल है। वह अनुभव करती है कि महतो ने न सँभाला होता, तो आज मुझे कहाँ सरन मिलती। फिर सुख के दिन आयें, तो लड़ना उचित है, दुःख तो साथ रोने ही से कटता है! पुन्नी की सहायता से होरी की रुकी हुई गाड़ी चल पड़ती है।

भोला होरी के बैल खोल ले जाना चाहता है। वह झुनिया को घर से निकाल देने का प्रस्ताव रखता है, इसी शर्त पर वह बैल छोड़ सकता है। धनिया फटकारते हुए उत्तर देती है—'...झुनिया हमारी जान के साथ है। तुम बैल ही तो ले जाने को कहते हो, ले जाओ; अगर इससे तुम्हारी कटी हुई नाक जुड़ती हो, तो जोड़ लो, पुरखों की आबरू बचती हो, तो बचा लो।...तुम अब बूढ़े हो गये महतो! पर आज भी तुम्हें सगाई की धुन सवार है। फिर वह तो अभी बच्चा है!'[३]

अन्तिम वाक्य में अत्यंत पैना व्यंग है। धनिया कभी भी अवसर पर उचित उत्तर देने से नहीं चूकती। धनिया काम करते-करते थककर, तनिक दम लेने लगी,

---

१. 'गोदान'--पृष्ठ १३२-३३, २. वही—पृष्ठ १३४, ३. वही—पृष्ठ १५७।

दातादीन को यह विश्राम अखरा ! दातादीन पैसे काम करने के लिये देते हैं, विश्राम के लिये नहीं। वह धनिया को चुनौती देते हैं कि यही मिजाज रहा तो भीख माँगोगी। धनिया इसका दो टूक उत्तर देती है—'भीख माँगो तुम जो भिखमंगे की जात हो। हम तो मजूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे, वहीं चार पैसे पायेंगे !'[1]

गोबर एक वर्ष बाद गाँव आता है। धनिया ने उसका सिर अपनी छाती से लगा लिया। आज वह अपने मातृत्व का पुरस्कार पा गई। गर्व से उसका हृदय उमड़ पड़ता था, आज फटेहाल में भी वह रानी है ! वह घर की विपन्नता की कहानी सुनाकर गोबर का दिल नहीं तोड़ना चाहती थी। गोबर चलते समय अपनी पत्नी झुनिया को साथ ले जाना चाहता है। इसी बात को लेकर कुछ विवाद होता है। धनिया खरी-खोटी सुनकर सन्नाटे में आ जाती है। वह गोबर से पूछती है कि क्या तुमने माँ बाप को भी पैसों के यारों में समझ लिया है ? एक ही क्षण में धनिया के जीवन का मृदु स्वप्न टूट गया। जिस नौका पर बैठकर इस जीवन-सागर को पार करना चाहती थी, वह टूट गयी, तो किस सुख के लिये जिये !

धनिया इसमें झुनिया का हाथ समझती है। फलतः वाक्-युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। अन्त में गोबर अपनी पत्नी के साथ शहर चल देता है। धनिया बैठी अपने भाग्य को रोती है। गोबर और झुनिया के जाने के बाद घर सुनसान रहने लगा। धनिया को बार-बार मुन्नू की याद आती। बच्चे की माँ तो झुनिया थी, पर उसका पालन धनिया ही करती थी। वात्सल्य की इस तरंग में डूबकर, वह विपत्ति भूल जाती थी। उसका मक्खन सा मुँह देखकर वह अपनी सारी चिन्ता भूल जाती। लेकिन वह जीवन का आधार भी अब न रहा। उसका सूना खटोला देखकर वह रो उठती। उसे झुनिया पर ही क्रोध आता। उसी ने गोबर की मति हर ली, नहीं तो वह अत्यंत आज्ञाकारी पुत्र था।

धनिया अत्यंत वात्सल्यमयी नारी है। सिलिया चमारिन का दातादीन और मातादीन अपमान करते हैं। उस बेचारी को रहने के लिये जगह चाहिये। धनिया उसे भी अपने आँचल की छाँह प्रदान करती है। उसे दातादीन के क्रोध का भी तनिक भय नहीं है। वह कहती है—'जगह की कौन कमी है बेटी ! तू चल मेरे घर रह। (पंडित) बिगड़ेंगे तो एक रोटी बेसी खा लेंगे, और क्या करेंगे ? कोई उनकी दबैल हूँ। उसकी (सिलिया) इज्जत ली, बिरादरी से निकलवाया, अब कहते हैं, मेरा तुझसे कोई वास्ता नहीं। आदमी है कि कसाई।'...[2]

जेठ की दुपहरी में मर मर कर सिंचाई और गोड़ाई की, ऊख हुई। मँगरू साह ने डेढ़ सौ में खड़ी फसल नीलाम कर ली। धनिया इस अन्याय से क्षुब्ध होकर कहती है—'मेरे जीते जी कोई मेरा खेत काट ले जाये ?'[3]

१. 'गोदान'—पृष्ठ २०९, २. वही—पृष्ठ २५७, ३. वही—पृष्ठ २७४।

गोरी महतो के प्रस्ताव के बाद भी धनिया अवसर से लाभ नहीं उठाती। पहले वह होरी को कर्ज लेने से रोकती थी, अब मरजाद का राग अलापने लगी। रुपया हाथ-पैर का मैल है। उसके लिये कुल-मरजाद कैसे छोड़ा जा सकता था। फिर माँ-बाप की कमाई में क्या लड़की का कोई हक नहीं होता? होरी धनिया के इस परिवर्तित दिमाग को देखकर चकित था, यह आगे भी चलती है और पीछे भी चलती है। वह होरी से कहती है, 'सूद तो सभी लेंगे। जब डूबना ही है, तो क्या तालाब और क्या गंगा!'[1]

धनिया स्त्री के लिये चरित्र की पवित्रता मुख्य मानती थी। सतीत्व उसकी दृष्टि में अनमोल रत्न था। धनिया कहती है—'औरत चाहे जिस रास्ते जाय, मर्द टुकुर-टुकुर देखता रहे। ऐसे मर्द को मैं मर्द नहीं कहती।......औरत घी का घड़ा लुढ़का दे, घर में आग लगा दे, मर्द सह लेगा; लेकिन उसका कुराह चलना कोई मर्द न सहेगा!'[2]

रूपा का रामसेवक से गठबन्धन का दातादीन प्रस्ताव करते हैं। सीधे धनिया से होरी कह नहीं पाता। वह कहता है—'रामसेवक को जानती है? उन्हीं से!'

'मैंने उन्हें कब देखा, हाँ नाम बहुत दिनों से सुनती हूँ। वह तो बूढ़ा होगा।'

'बूढ़ा नहीं है, हाँ अधेड़ है!'

'तुमने पंडित को फटकारा नहीं। मुझसे कहते तो ऐसा जवाब देती कि याद करते!'

'फटकारा नहीं, लेकिन इन्कार कर दिया। कहते थे, ब्याह भी बिना खरच-बरच के हो जायेगा; और खेत भी बच जायेंगे।'

'साफ साफ क्यों नहीं बोलते कि लड़की बेचने को कहते थे। कैसे इस बूढ़े का हेयाव पड़ा?'[3]

इतनी स्पष्टवक्ता एवं साहसी धनिया भी परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़कर टूट जाती है। उसे भी सदैव परास्त होना पड़ा। अन्त में वह भी प्रस्ताव तकदीर के भरोसे मान लेती है।

धनिया व्यवहार-कुशल एवं तर्क-पटु रमणी है। गरीबी के दर्द ने भी उसके ममत्व का अन्त नहीं किया। वह एक जागरूक, गृहिणी नारी है। होरी से अधिक समझदार है लेकिन होरी ने सदैव उसे पीछे खींचा। उसका हृदय उदार एवं विशाल है। वह मनुष्य से मनुष्य के नाते प्रेम करती है। वह जिस बात को ठीक समझ ले, फिर समाज, बिरादरी, नियम, कानून किसी बात की परवा नहीं करती, उसे कर डालती है। वह अपने आचरण से होरी की दुर्बलताओं को ढाँप लेती है। दोनों अपढ़ और दरिद्र हैं, लेकिन आपस में अटूट प्रेम है और श्रम के दोनों पुजारी हैं।

गोबर

'प्रेमाश्रम' के बलराज की भाँति 'गोबर' भी एक नये युग का उभरता हुआ

---

१. 'गोदान'--पृष्ठ २६७, २. वही--पृष्ठ २९८, ३. वही--पृष्ठ ३५२।

नौजवान है। गाँव की नयी पीढ़ी का वह प्रतिनिधित्व करता है। वह केवल नाम से ही गोबर है, उसके दिमाग में गोबर नहीं है। होरी से यदि स्वार्थ-वृत्ति उसने विरासत में पाई तो धनिया से तेज जबान। वह बड़े आदमियों की पोल जानता है। गोबर के व्यंग-बाण तीक्ष्ण एवं पैने तथा तर्क अकाट्य होते। वह अपने अधिकारों को पहचानता है। वह सांवला लम्बा, इकहरे बदन का युवक है, जिसे खेती में रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता के स्थान पर मुख पर असन्तोष तथा विद्रोह झलकता।

वह होरी से पूछता है—'यह तुम रोज-रोज मालिकों की खुशामद करने क्यों जाते हो? बाकी न चुके तो प्यादा आकर गालियाँ सुनाता है, बेगार देनी ही पड़ती है, नजर-नजराना सब तो हमसे भराया जाता है। फिर किसी की क्यों सलामी करें!'[१]

होरी जब रायसाहब का दुःख-दर्द सुनाता है, गोबर व्यंग करता है—'तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं दे देते! हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला? यह सब धूर्तता है, निरी मोटमरदी। जिसे दुःख होता है, वह दरजनों मोटर नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उस पर दुखी हैं!'[२]

गोबर नहीं मानता कि छोटे बड़े भगवान के घर से बनकर आते हैं। उसके अनुसार जिसके हाथ में लाठी है, वह गरीबों को कुचलकर बड़ा आदमी बन जाता है। होरी जब रायसाहब की ईश्वर-भक्ति की दुहाई देता है, गोबर उत्तर देता है—'......यह पाप का धन पचे कैसे? इसीलिए दान-धर्म करना पड़ता है, भगवान का भजन भी इसीलिए होता है। भूखे-नंगे रहकर भगवान का भजन करें, तो हम भी देखें। हमें कोई दो जून खाने को दे, तो हम आठों पहर भगवान का जाप ही करते रहें। एक दिन खेत में ऊख गोड़ना पड़े, तो सारी भक्ति भूल जाय!'[३]

गोबर के जीवन में प्रकाश की उजली किरण बनकर झुनिया प्रवेश करती है। उसका सोया यौवन जाग उठता है। बिरादरी का झंझट और गाँववालों की काँव-काँव की कल्पना, बुद्धि की तुला पर उसके प्रेम को तौलने के लिए बटखरे का काम करती है। गोबर की खुली आँखों से पसंगा छिपता नहीं। मातादीन ने चमारिन बैठा ली, तो किसी ने क्या कर लिया। झिंगुरीसिंह ने ब्राह्मनी रख ली, उनका किसी ने क्या कर लिया। फिर झुनिया जैसी गाँव में दूसरी औरत ही कौन है? गोबर अपने यौवन के प्रति सजग है। वह झुनिया से कहता है—'यहाँ फौलाद की हड्डियाँ हैं। तीन सौ डण्ड रोज मारता हूँ। दूध-घी नहीं मिलता, नहीं अब तक सीना यों निकल आया होता।'[४]

गोबर किसी के प्रति अन्याय नहीं बर्दाश्त कर सकता। होरी धनिया को बुरी तरह पीटता है। अन्त में गोबर बीच में पड़कर रोकते हुए कहता है। 'अच्छा दादा, अब

१. 'गोदान'—पृष्ठ १६, २. वही—पृष्ठ १८, ३. वही—पृष्ठ १९, ४. वही—४९।

बहुत हुआ। पीछे हट जाओ, नहीं मैं कहे देता हूँ, मेरा मुँह न देखोगे। तुम्हारे ऊपर हाथ न उठाऊँगा। ऐसा कपूत नहीं हूँ। यहीं गले में फाँसी लगा लूँगा।'[१]

गोबर झुनियाँ को आश्वासन देता है कि जब एक बार बाँह पकड़ी है तो जीवन भर निभाऊँगा। वह अपने अधिकारों के प्रति सजग भी है। सोचता है, 'क्या घर में मेरा हिस्सा नहीं है? अगर झुनिया पर किसी ने हाथ उठाया, तो आज महाभारत हो जायगा। माँ-बाप जब तक लड़कों की रक्षा करें, तब तक माँ-बाप हैं। जब उनमें ममता ही नहीं है, तो कैसे माँ-बाप!'[२]

गोबर माँ-बाप की दरिद्रता को दूर करने का संकल्प लेकर नगर में जाता है। नगर की हवा उसे भी लग जाती है। बाह्याडम्बर उसके भी जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाते हैं। महाजनों से घृणा करनेवाला गोबर, अब स्वयं एक छोटा-मोटा महाजन बन गया था। पड़ोस के एक्केवालों, गाड़ीवानों और धोबियों को सूद पर रुपए उधार देता था। अब झुनिया को शहर लाने का उसने निश्चय किया।

गोबर गाँव जाता है। वह एक-एक पंच की खबर लेता है। वह दातादीन से कहता है—'हाँ, अभी तो रहूँगा कुछ दिन। उन पंचों पर दावा करना है, जिन्होंने डाँड़ के बहाने मेरे डेढ़ सौ रुपए हजम किये हैं। देखूँ, कौन मेरा हुक्का-पानी बन्द करता है और कैसे बिरादरी मुझे जात बाहर करती है।'[३]

गोबर जानता है कि दुनिया पैसे की है। हुक्का-पानी कोई नहीं पूछता! वह सबको गाँव में नीचा दिखाने के बाद, भोला के पास जाता है। अपने व्यवहार-कौशल से उसको पराजित कर, समझौते के रूप में अपने दोनों बैल खोल ले आता है। होली पर गोबर दिल खोलकर खर्च करता है, और एक-एक नेता की पोल खुलवा देता है।

दातादीन जब उसे रुपये की गर्मी का ताना देते हैं, तो वह उत्तर देता है—'गर्मी उन्हें होती है, जो एक के दस लेते हैं। हम तो मजूर हैं। हमारी गर्मी पसीने के रास्ते बह जाती है। मुझे खूब याद है, तुमने बैल के लिए तीस रुपए दिये थे। उसके सौ हुए और सौ के दो सौ हो गये। इसी तरह तुम लोगों ने किसानों को लूटकर मजूर बना डाला और आप उनकी जमीन के मालिक बन बैठे। तीस के दो सौ! कुछ हद है!'[४]

गोबर को इस बात का दुःख है कि होरी ने आजीवन कमा-कमाकर दूसरों का घर भरा है। वह उस खंदक में गिरने को तैयार नहीं है। वह रायसाहब को हौवा नहीं समझता। वह नोखेराम को एक धमकी से ही सीधे रास्ते पर लगा देता है। वह माँ से कहता है कि यह स्वार्थ का संसार है। खाली-हाथ तो माँ-बाप भी नहीं पूछते? शहरी वातावरण ने गोबर में स्वार्थ के बीज बो दिये थे। वह धनिया से स्पष्ट कहता है—'पालने में तुम्हारा लगा क्या। जब तक बच्चा था, दूध पिला दिया। फिर लावारिस

१. वही—पृष्ठ ११६, २. वही—पृष्ठ १३६, ३. वही—पृष्ठ २१६, ४. वही—पृष्ठ २२३।

की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया, वही मैंने खाया। मेरे लिये दूध नहीं आता था, मक्खन नहीं बँधा था। और तुम भी चाहती हो और दादा भी चाहते हैं कि मैं सारा करजा चुकाऊँ, लगान दूँ, लड़कियों का ब्याह करूँ ! जैसे मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना ही भरने के लिये है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं !'[1]

गोबर झुनिया के साथ नगर को प्रस्थान करता है। जिस माता ने अपना रक्त पिलाकर उसे पाला, उस अभागिन के चरण-स्पर्श करने को भी गोबर तैयार नहीं है। क्योंकि उसे वह अपनी माता ही नहीं समझता ! यह है उसका अज्ञान !

गोबर नगर में आकर विषय-रस में डूब गया। उसने खोमचा लगाना छोड़कर खन्ना की मिल में नौकरी कर ली। अब उसे शराब का भी चस्का लग गया। झुनिया से उसकी न पटती थी। वह उसे पीटता भी था। उधर मिल में समाज-सेवी नेताओं से प्रेरणा ग्रहण कर मजदूर हड़ताल करते हैं। एक दिन गोबर बुरी तरह पुलिस के हाथों पिटता है। अधमरा गोबर घर पहुँचता है। उसे अपने कुकृत्यों का पश्चात्ताप होता है। झुनिया की सेवा का वह महत्त्व देखता है। उसे देवी रूप में पुनः हृदयासन में प्रतिष्ठित करता है।

मालती के यहाँ गोबर नौकरी कर लेता है। माँ-बाप की याद सताती है। रूपा के विवाह का समाचार प्राप्त कर वह सपत्नीक गाँव जाता है। लेकिन 'गोबर ने घर पहुँचकर उसकी दशा देखी, तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त यहाँ से लौट जाय।...... अब इस घर के सँभलने की क्या आशा है ! वह गुलामी करता है, लेकिन भरपेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो, वही रोब जमाता है। गुलामी है, पर सूखी। मेहनत करके अनाज पैदा करो और जो रुपये मिलें, वह दूसरे को दे दो।......और यह दशा कुछ होरी ही की न थी। सारे गाँव पर यह विपत्ति थी।......जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हैं और सारी हरियाली मुरझा गयी हो।...'[2]

लड़कपन से गोबर ने गाँवों की यह दशा देखी थी। लेकिन नगर में रहकर उसने एक नयी दुनिया देखी। उसने राजनैतिक जलसों में पीछे खड़े होकर भाषण सुने हैं, और वह जानता है कि हमें अपना भाग्य स्वयं बनाना होगा। कोई गुप्त-शक्ति हमारी सहायता न करेगी, हमें स्वयं अपनी बुद्धि और साहस के सहारे इन मुसीबतों पर विजय प्राप्त करनी होगी। गोबर अपने पिछले दुर्व्यवहार का प्रायश्चित्त करने के लिये कहता है—'दादा अब कोई चिन्ता मत करो, सारा भार मुझ पर छोड़ दो, मैं अब हर महीने खर्च भेजूँगा, इतने दिन तो मरते-खपते रहे, कुछ दिन तो आराम कर लो, मुझे धिक्कार है कि मेरे रहते तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़े।[3]

होरी अपना पाप स्वीकार करता है। जमीन के मोहवश ही उसने पाप की

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ २२९, २. वही—पृष्ठ ३५६, ३. वही—पृष्ठ ३५७।

गठरी सिर पर लादी थी और सुकोमल रूपा का हाथ अधेड़ रामसेवक के हाथ में सौंपा था। गोबर अपने पिता की मजबूरी समझता है। वह कहता है—'जैजात न बचाते तो रहते कहाँ? जब आदमी का कोई बस नहीं चलता, तो अपने को तकदीर पर ही छोड़ देता है। न जाने यह धाँधली कब तक चलती रहेगी। जिसे पेट की रोटी मयस्सर नहीं, उसके लिये मरजाद और इज्जत सब ढोंग है। औरों की तरह तुमने भी दूसरों का गला दबाया होता, उनकी जमा मारी होती, तो तुम भी भले आदमी होते। तुमने कभी नीति को नहीं छोड़ा, यह उसी का दण्ड है। तुम्हारी जगह मैं होता तो या तो जेहल में होता, या फाँसी पर गया होता। मुझसे यह कभी बरदाश्त नहीं होता कि मैं कमा-कमाकर सबका घर भरूँ और आप अपने बाल-बच्चों के साथ मुँह में जाली लगाये बैठा रहूँ।[१]

गोबर 'गोदान' का सबसे अधिक प्रभावशाली एवं यथार्थ पात्र है। उसमें नवयुवक के सभी गुण-अवगुण वर्तमान हैं। प्रेमचन्द ने उसके चरित्र-चित्रण द्वारा एक आशावादी एवं अस्थिर मन वाले उद्धत नवयुवक का जीवन-चित्र प्रस्तुत किया है। 'होरी' की पीढ़ी का भारतीय कृषक, 'गोबर' की पीढ़ी में आने पर बहुत कुछ बदल गया था। पुराने आचार-विचार, जीवन एवं नैतिक-मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे थे।

रायसाहब

रायसाहब अमरपाल सिंह सेमरी में रहते थे। यह उन हिंसक पशुओं में से थे, जो गर्जने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोलना सीख गये थे। देश-भक्ति की रामनामी चादर ने इनका वास्तविक कुत्सित रूप छिपाने में बहुत सहायता दी। लेकिन प्रेमचन्द जी ने उस चादर को उघाड़ कर, इनका वास्तविक नग्न रूप दिखाया है।

'रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाये रखते थे। उनकी नजरें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली जाती थीं। साहित्य और संगीत के प्रेमी थे, ड्रामा के शौकीन, अच्छे वक्ता थे, अच्छे लेखक, अच्छे निशानेबाज! ···असामियों से हँसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है? सिंह का काम शिकार करना है, अगर वह गर्जने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में उसे जंगल में न भटकना पड़ता।[२]

अपने पिता की सम्पत्ति के साथ-साथ उन्होंने राम की भक्ति भी पायी थी। वह अपने स्वार्थ के लिये होरी जैसे साधारण कृषक को बातों से फुसलाना अनुचित नहीं समझते थे। वह अपनी दुःख-कथा सुनाकर होरी का मन जीत लेते हैं। दुःख-कथा में सत्य का अंश भी कुछ है। बड़े आदमियों के पारिवारिक जीवन का अत्यन्त

१. 'गोदान'—पृष्ठ २५९, २. वही—पृष्ठ १२।

जीवन्त चित्र प्रेमचंद ने खींचा है। रायसाहब भी यह अनुभव करते हैं कि सम्पत्ति की बेड़ी ही उनकी मनुष्यता के विकास में अवरोधक है।

दर्शन के प्राध्यापक मेहता रायसाहब की असलियत जानते हैं। मध्यम आँच में भोजन स्वादिष्ट पकता है? गुड़ से मारनेवाला जहर से मारनेवाले की अपेक्षा कहीं सफल हो सकता है। यही रायसाहब की सफलता का रहस्य है। रायसाहब सारा दोष उस वातावरण को देते हैं, जिसके बीच वे पले हैं। उन्हें गर्व है कि व्यवहार में वे चाहे जो कुछ करें, विचारों में बहुत आगे बढ़ गये हैं। किसी भी व्यक्ति को दूसरे के श्रम पर मोटे होने का अधिकार तथा उपजीवी होना वे लज्जाजनक मानते हैं। मेहता उनकी सफाई सुनकर व्यंग करते हैं—'आपकी जबान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी भी मस्तिष्क में होती!'[1]

रायसाहब स्वयं मिस्टर खन्ना से स्वीकार करते हैं—'घर के जितने प्राणी हैं, सभी अपनी अपनी धुन में मस्त, कोई उपासना में, कोई विषय-वासना में।......मुझे क्या अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानों का रक्त चूसूँ और अपने परिवारवालों की वासनाओं की तृप्ति का साधन जुटाऊँ, मगर करूँ क्या? जिस व्यवस्था में पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता और उसी चरखे में रात दिन पड़ा रहता हूँ कि किसी तरह इज्जत-आबरू बची रहे और आत्मा की हत्या न होने पाये।'[2]

रायसाहब नहीं चाहते थे कि उनके हिस्से की हड्डी कोई दूसरा भी नोचे। अतएव जब उन्हें पता चलता है कि पंचो ने होरी से डाँड़ वसूल किया है, तो उन्हें होरी से तनिक सहानुभूति नहीं होती। वे कहते हैं कि लूट के उस धन पर उनका एकाधिकार है। क्योंकि इस डाँड़-बाँध के सिवा इलाके में और कौन-सी आमदनी है! वे सम्पादक ओंकारनाथ से कहते हैं—'हम, बिच्छू नहीं कि अनायास ही सबको डंक मारते फिरें। न गरीबों का गला दबाना कोई बड़े आनन्द का काम है। लेकिन मर्यादाओं का पालन तो करना ही पड़ता है।......सात पुश्तों से जिस वातावरण में पला हूँ, उससे अब निकल नहीं सकता।'[3]

रायसाहब एक ओर 'राजा' की पदवी पाते हैं, दूसरी ओर होम मेम्बर भी कौंसिल में हो जाते हैं। वे केवल अपने पुत्र और पुत्री के दुर्व्यवहार से दुःखी है। उनकी सारी आशाओं पर इन लोगों ने हाथ फेर दिया। वह मोह छोड़ना चाहते थे, लेकिन मोह उन्हें नहीं छोड़ता था। उनकी दशा उत्तरोत्तर बढ़ती तथा पनपती जा रही थी, जब कि होरी की दशा उत्तरोत्तर गिरती तथा टूटती जा रही थी। इनके चरित्र द्वारा प्रेमचंद ने सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बौद्धिक दृष्टिकोण का स्पष्ट अंतर बताया है। रायसाहब का चरित्र-चित्रण अत्यन्त कलात्मक ढंग से बारीक रेखाओं द्वारा शब्दांकित

---

१. 'गोदान'--पृष्ठ ५५, २. वही--पृष्ठ ८९, ३. वही--पृ० १७७।

किया गया है। प्रेमचन्द ने केवल घृणा ही नहीं, अपनी सहानुभूति भी रायसाहब को प्रदान की है।

मिस मालती

सुमन, निर्मला और जालपा का चरम-विकास हमें 'गोदान' की मालती में मिलता है। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय नारी बहुत आगे बढ़ गई थी। अनाथालयों के सीखचों में कैद रहनेवाली नारी ने अब स्वयं अपने पाँव पर खड़ा होना सीख लिया था। अब वह निःसंकोच क्लबों में जाती। घर की देहलीज लाँघने का जिस नारी को अधिकार न था, वह अब सात समुद्र पार इंगलैंड में शिक्षा प्राप्त करने के लिये जा सकती थी। ऐसी ही एक प्रगतिशील भारतीय नारी मिस मालती हैं। यह बात नहीं कि 'मालती' 'गोदान' के युग की भारतीय नारी का सही प्रतिनिधित्व करती है! वह केवल उस युग के एक विशेष नारीवर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। गोविन्द खन्ना, धनियाँ, झुनिया, सिलिया आदि भी उसी युग की नारियाँ हैं, लेकिन मालती से एकदम भिन्न!

मिस मालती इंगलैंड से डाक्टरी पढ़कर आई हैं और अब प्रैक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश है। वे नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, पर चपलता कूट-कूटकर भरी हुई है। मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है, वहाँ प्रदर्शन, जहाँ हृदय का स्थान है, वहाँ हाव-भाव प्रदर्शित करने में कुशल हैं। पुरुषों से बिना झिझक हाथ मिलाती एवं स्वयं 'कार' भी चलाती हैं। खन्ना उनके उपासक थे, लेकिन वे स्वयं मेहता के प्रति आकर्षित थी। वह केवल तितली ही नहीं थी, उसमें विचार की शक्ति भी थी।

अफगान के प्रसंग में मालती अपने उपासकों की जवामर्दी पर व्यंग करते हुए कहती है कि जब आप लोग मेरा अपमान देख सकते हैं, तो अपने घर की स्त्रियों का अपमान भी देख सकते होंगे। 'मगर मिस मालती के मनोभाव कुछ और ही थे। खान के लालसाप्रदीप्त नेत्रों ने उन्हें आश्वस्त कर दिया था और अब इस काण्ड में उन्हें मनचलेपन का आनन्द आ रहा था। उनका हृदय कुछ देर इन नरपुंगवों के बीच में रहकर उनके बर्बर प्रेम का आनन्द उठाने के लिये ललचा रहा था। शिष्ट प्रेम की दुर्बलता और निर्जीवता का उन्हें अनुभव हो चुका था। आज अक्खड़, अनगढ़ पठानों के उन्मत्त प्रेम के लिये उनका मन दौड़ रहा था, जैसे संगीत का आनन्द उठाने के बाद कोई मस्त हाथियों की लड़ाई देखने के लिये दौड़े।'[1]

मालती अपने प्रेमी मेहता को एकदम पत्थर समझती थी। फिर भी उस कुआँरे

---

१. 'गोदान'—पृ० ७३-७४।

अध्यापक के कंधे पर बैठकर, नाला पारकर मिस-मालती रोमांस का पूरा आनन्द उठा लेती हैं। जंगली लड़की से भेंट होती है, जो वन-पुष्प की भाँति धूप में खिली हुई थी। उसके सेवा-भाव से मेहता प्रभावित होते हैं। मिस मालती ईर्ष्याग्नि से जल उठती हैं। वे अपने मनोभाव इस प्रकार प्रकट करती हैं—'बस-बस, वह देवी है। मैं मान गयी। उसके वक्ष में उभार है, नितम्बों में भारी पन है, देवी होने के लिये और क्या चाहिये। ......ऐसी ही लौंडियाँ तो मर्दों को पसन्द आती हैं, जिनमें और कोई गुण हो या न हो उनकी टहल दौड़-दौड़कर प्रसन्न मन से करें और अपना भाग्य सराहें...!'[१]

मिस्टर तंखा मालती से चुनाव लड़ने का प्रस्ताव करते हैं। मालती उत्तर देती है—'लेकिन मैंने केवल एक बार जेल जाने के सिवा और क्या जनसेवा की है? और सच पूछिये तो उस बार भी मैं अपने मतलब ही से गयी थी, उसी तरह जैसे रायसाहब और खन्ना गये थे। इस नयी सभ्यता का आधार धन है, विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेय है।......मैं अपनी ही बात कहती हूँ। कोई गरीब औरत दवाखाने में आ जाती है, तो घण्टों उससे बोलती तक नहीं। पर कोई महिला कार पार आ गयी, तो द्वार तक जाकर उनका स्वागत करती हूँ और उनकी ऐसी उपासना करती हूँ, मानो साक्षात् देवी हैं!'[२]

मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी। वह हँसती है, इसलिए कि उसे इसके भी दाम मिलते हैं। मालती के पिता मिस्टर कौल दलाल थे। उनकी तीन लड़कियाँ थी। मालती ही पिता के अपंग हो जाने पर परिवार का भरण-पोषण करती थी। उसके द्वारा प्रेमचन्दजी ने 'सोसाइटी-कैट' का अत्यन्त यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। सोसाइटी में वह कमल की भाँति खिली, दीपक की भाँति दमकती, स्फूर्ति और उल्लास की प्रतिभा सी बनी, निश्शंक एवं निर्द्वन्द्व विहार करती। वह खन्ना से स्पष्ट कह देती है कि तुम मेरे अनेक चाहनेवालों में से एक हो। मालती अपने रूप की माया के प्रभाव से सम्पादक पंडित ओंकारनाथ को मदिरा पिला देती है और मिस्टर खन्ना से न केवल रुपये ही वसूल करती है, डाँट बताकर उनसे कान भी पकड़वाती है। खन्ना के लिये मालती एक पहेली ही बनी रहती है।

मेहता का संसर्ग प्राप्त कर मालती के रंग-ढंग में कायापलट होती है। उसकी त्याग-भावना सजग हो उठी। मालती अब प्रायः गरीबों के घर बिना फीस लिये ही चली जाती। उसके व्यवहार में भी एक मृदुता आ गयी थी। लेकिन रंग और पाउडर का त्याग उसे अपने आंतरिक परिवर्तनों से भी कहीं ज्यादा कठिन जान पड़ता था। इधर कभी-कभी दोनों देहातों की ओर चले जाते थे और किसानों के साथ दो-चार घंटे रहकर उनके झोपड़ों में रात काटकर, और उन्हीं का सा भोजन करके, अपने को धन्य समझते थे। मालती ने एक प्रकार से अपने को मेहता पर अर्पण कर दिया था। रूप का आकर्षण तो नहीं, हाँ गुण के आकर्षण से मेहता को मालती ने अपनी ओर आकृष्ट

---

१. 'गोदान'—पृ० ८५-८७, २. वही—पृ० १४७।

कर लिया। वह मेहता से कहती है—'तुमने सदैव मुझे परीक्षा की आँखों से देखा, कभी प्रेम की आँखों से नहीं। क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि नारी परीक्षा नहीं चाहती, प्रेम चाहती है। परीक्षा गुणों को अवगुण, सुन्दर को असुन्दर बनानेवाली चीज है। प्रेम अवगुणों को गुण बनाता है। असुन्दर को सुन्दर!'[1]

मालती प्रेम को सन्देह से ऊपर समझती है। उसे देह की नहीं, आत्मा की वस्तु मानती है। वहाँ तो पूर्ण आत्म-समर्पण चाहिये। उसके मंदिर में परीक्षक बनकर नहीं, उपासक बनकर ही कोई वरदान पा सकता है। मालती झुनिया के बालक मंगल की बीमारी के समय जी जान से उसकी रात-दिन सेवा करती है। मेहता भी अनुभव करते हैं कि मालती रमणी नहीं है, माता भी है और ऐसी वैसी माता नहीं, सच्चे अर्थों में देवी और माता और जीवन देनेवाली, जो पराये बालकों को भी अपना समझ सकती है, जैसे उसने मातापन का सदैव संचय किया हो और आज दोनों हाथों से उसे लुटा रही हो। यह नारी है या मंगल की, पवित्रता की और त्याग की प्रतिमा! मालती नारीत्व के उस ऊँचे आदर्श पर पहुँच गयी थी, जहाँ वह प्रकाश के एक नक्षत्र सी नजर आती थी। अब वह प्रेम की वस्तु नहीं, श्रद्धा की वस्तु थी।

मालती प्रस्ताव करती है मेहता से कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। और—'तुम्हारे जैसे विचारवान, प्रतिभाशाली मनुष्य की आत्मा को मैं इस कारागार में बन्द नहीं करना चाहती।...संसार में अन्याय की, आतंक की, भय की दुहाई मची हुई है। अन्धविश्वास का, कपट-धर्म का, स्वार्थ का प्रकोप छाया हुआ है। तुमने वह आर्त-पुकार सुनी है। तुम भी न सुनोगे, तो सुननेवाले कहाँ से आयेंगे।...[2]

मालती के चरित्र के इस परिवर्तन में प्रेमचन्द का आदर्शवादी रूप मुखर हो उठा है। प्रेमचन्द नारी को सदैव त्याग, मंगल और पवित्रता की अधिष्ठात्रि देवी मानते थे। कदाचित् इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर उन्होंने मालती का चरित्र उज्ज्वल रूप में भी चित्रित किया है।

मेहता

मेहता यद्यपि रमानाथ, अमरकान्त एवं खन्ना के वर्ग में पैदा हुए है, परन्तु वह इन सबसे भिन्न हैं। उनके चरित्र में दृढ़ता है और परिश्रम से कभी जी नहीं चुराते। वे स्पष्टवादो हैं। गोरा चिट्टा रंग, स्वास्थ्य की लालिमा गालों पर चमकती हुई, नीची अचकन, चूड़ीदार पायजामा, सुनहली ऐनक। सौम्यता के देवता से लगते हैं। उनके मुख पर परिश्रम की लाली के साथ तेज रहता है। दर्शन के गहरे अध्ययन में भी उन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की थी और मटके लेकर चलते हुए उनकी मांसल भुजाएँ, चौड़ी छाती और मछलीदार जाँघें किसी यूनानी प्रतिमा के सुगठित अंगों की

१. 'गोदान'—पृष्ठ ३१५, २. वही—पृष्ठ ३४४।

भाँति उनके पुरुषार्थ का परिचय देती थी। दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक होते हुए भी वे विनोदप्रिय व्यक्ति थे।

वे रायसाहब से स्पष्ट कहते हैं कि हमारा जीवन हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिये। कथनी और और करनी में भेद उचित नहीं होता। वह नकली जिंदगी के विरोधी थे। वे व्यक्तिवादी थे। उनका विश्वास था कि संसार में छोटे-बड़े सदैव रहेंगे, और उन्हें मिटाने की चेष्टा करना, मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा। छोटे-बड़े का भेद केवल धन से ही नहीं होता। रूप की चौखट पर बड़े बड़े महीप नाक रगड़ते हैं, क्या यह सामाजिक विषमता नहीं!

मेहता झेपूँ भी थे। बिन-ब्याहे थे और नवयुग की रमणियों से पनाह माँगते थे। पुरुषों की मंडली में खूब चहकते थे, मगर ज्योंही कोई महिला आयी और आपकी जबान बन्द हुई। जैसे बुद्धि पर ताला लग जाता था। स्त्रियों से शिष्ट व्यवहार तक करने की सुधि न रहती थी। मेहता शराब पीकर मस्त हो जाते थे। उस मस्ती में उनका दर्शन उड़ जाता था। और विनोद सजीव हो उठता था।

वह मालती से स्पष्ट कहते हैं—'मैं किसी रमणी को प्रसन्न नहीं रख सकता। मुझसे कोई स्त्री प्रेम का स्वाँग नहीं कर सकती। मैं उसके अन्तस्तल तक पहुँच जाऊँगा। फिर मुझे उससे अरुचि हो जायगी।···बस यही कि जो मन में हो, वही मुख पर हो। मेरे लिये रंग-रूप और हाव-भाव और नाजो-अन्दाज का मूल्य इतना ही है, जितना होना चाहिये। मैं वह भोजन चाहता हूँ, जिससे आत्मा की तृप्ति हो। उत्तेजक और शोषक पदार्थों की मुझे जरूरत नहीं।' और मालती के प्रति उनके विचार थे—'तुम सब कुछ कर सकती हो, बुद्धिमती हो, लेकिन प्रेम नहीं कर सकतीं।'[१]

मेहता सहृदय एवं कृतज्ञ व्यक्ति हैं। जंगली लड़की के सेवा-भाव से वे प्रभावित होते हैं। उनके अनुसार यदि उसके कुछ गुण मालती में आ जाते, तो वह भी देवी हो जाती। मेहता अपनी जीवन-संगिनी के गुण मालती में नहीं पाते। उनके अनुसार औरत वफा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से, अपने को बिल्कुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंश बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है। मेहता के शब्दों में—'पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष आकर्षित होता है स्त्री की ओर, जो सर्वांश में स्त्री हो। मालती ने अभी तक मुझे आकर्षित नहीं किया।···संसार में जो कुछ सुंदर है, उसी की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ।'[२]

मेहता ऐसी बीबी नहीं चाहते, जिससे वह आइंस्टीन के सिद्धान्त पर बहस कर सके, या जो उनकी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। वे ऐसी औरत चाहते हैं, जो उनके जीवन को पवित्र तथा उज्जवल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से! उनके लिये विवाह

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ८१, २. वही—पृष्ठ १५१।

मनोरंजन न होकर, संपूर्ण आत्म-समर्पण है। वे 'वीमन्स लीग' में भाषण देते हुए स्पष्ट कर देते हैं—'अगर हमारी देवियाँ सृष्टि और पालन के देव-मन्दिर से हिंसा और कलह के दानव-क्षेत्र में आना चाहती हैं, तो उससे समाज का कल्याण न होगा।...स्त्री-पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है।'[1]

मेहता जिस नारीत्व को आदर्श मानते हैं, उसकी सजीव प्रतिमा मिसेज खन्ना को मानते हैं। उनके कहने पर मेहता सदैव के लिए मद-सेवन छोड़ने का व्रत ले लेते हैं। मेहता प्रकृति के पुजारी थे और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहते थे। वे कहते हैं—'मैं भूत की चिन्ता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिये वर्तमान ही सभी कुछ है। भविष्य की चिन्ता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। हम में जीवन की शक्ति इतनी कम है कि भूत और भविष्य में फैला देने से वह और भी क्षीण हो जाती है! हम व्यर्थ का भार अपने ऊपर लादकर, रूढ़ियों और विश्वासों और इतिहासों के मलबे के नीचे दबे पड़े हैं। उठने का नाम नहीं लेते, वह सामर्थ्य ही नहीं रही।...'[2]

मेहता भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। वे नारी का सम्मान तितली के गुण के कारण नहीं, वरन् मातृत्व की विभूति के कारण करते हैं। उनके अनुसार मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान् विजय है। मेहता जी को मजदूरों से भी पर्याप्त सहानुभूति है। उन्होंने उनके जीवन में भाग लिया है। वे उनकी मजदूरी कम किये जाने का तीव्र विरोध करते हैं।

मेहता रूप से अधिक गुण को महत्त्व देते हैं। मालती अपने गुणों से ही मेहता को प्रभावित कर पाती है। मेहता एक हजार रुपये से अधिक ही महीने में कमा लेते थे, लेकिन बचत एक धेले की भी न होती थी। बाग का शौक उन्हें बहुत महँगा पड़ता। फिजूल-खर्च इतना बढ़ गया कि किराये की उन पर डिग्री हो जाती है। मालती उन्हें अपने साथ अपने बंगले पर ले जाती है। उनकी व्यवस्था का पूरा भार मालती ने अपने हाथ में ले लिया। मालती, मेहता को अपना पथ-प्रदर्शक, देवता और गुरु मानती है। मालती की विचार धारा में डूबकर वह एक नया जन्म लेते हैं। और अन्त में मालती के चरण दोनों हाथ से पकड़ लिये और काँपते हुए बोले—'तुम्हारा आदेश स्वीकार है, मालती!'[3]

अन्य-पात्र

'गोदान' में छोटे से छोटे पात्रों के भी चरित्र की रेखाएँ बहुत स्पष्ट हैं। नागरिक और ग्रामीण दो वर्ग के अनेक पात्र हैं। नगर के अन्य प्रमुख पात्र मिस्टर खन्ना, पंडित ओंकारनाथ, श्यामबिहारी तंखा, मिर्जा खुर्शेद, मिसेज खन्ना, सरोज,

१. 'गोदान'—पृष्ठ १६४, २. वही—पृष्ठ २०२, ३. वही—पृष्ठ ३४४।

वरदा आदि हैं। मिस्टर खन्ना बैंक के मैनेजर और शक्कर मिल के मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं। अपने को जनता का आदमी समझते थे। स्वदेशी आन्दोलन में जेल हो आए हैं, परन्तु फ्रांस की शराब पीते और खद्दर कभी न पहनते थे। मालती के उपासकों में से थे। अपनी पत्नी को प्रायः पीट भी देते थे। मजदूरों का आन्दोलन एवं हड़ताल उन्हें उचित नहीं लगता।

पंडित ओंकारनाथ दैनिक पत्र 'बिजली' के यशस्वी सम्पादक, समष्टिवादी होते हुए भी देश-चिन्ता से बावले रहते। स्वदेशी के भक्त होते हुए भी विदेशी दवाओं के विज्ञापन सहर्ष पत्रों में प्रकाशित करते। इनका जीवन एक दीर्घ विलाप था। इनके चरित्र द्वारा पत्र-सम्पादक की दुरावस्था पर प्रेमचन्द ने प्रकाश डाला है।

श्यामबिहारी तंखा अमफल वकील होने के कारण बीमा कम्पनी की दलाली करते हैं। ताल्लुकेदारों और महाजनों को बैंक से कर्ज दिलाने में वकालत से कहीं अधिक उपार्जन करते थे। दाँव पेच के आदमी थे। चुनाव के अवसर पर उनकी तकदीर चमकती थी। स्वभाव से अत्यन्त नम्र, हर एक से परिचय रखते। अवसर के अनुसार गिरगिट की भाँति रंग बदलते रहते।

मिर्जा खुर्शेद गोरे चिट्टे आदमी थे, भूरी भूरी मूछें, नीली आँखें, दोहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहनते, ऊपर से हैट लगा लेने में भी उन्हें परहेज न था। बड़े दिल्लगीबाज, बेफिक्रे जीव थे। उनके लिये भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति था। वह वर्तमान में रहते थे। कौंसिल के उत्साही मेम्बर तथा विनोद के पुतले थे। अवसर के अनुकूल गुस्सेवर और नम्र दोनों ही। शौक था शायरी और शराब का। बालकों सी सरलता और मस्ती उनके स्वभाव का अभिन्न अंग थी।

मिसेज खन्ना एक आदर्श भारतीय नारी का प्रतिरूप हैं। कवि-हृदय मिला, लेकिन पति विपरीत रूचि का मिला। पति के हाथों पिटती हैं लेकिन फिर भी विरोध नहीं करती। मेहता से अपना दर्द कहती हैं। क्लबों से दूर रहती, सीधा-सादा सरल स्वभाव था। मालती से घृणा करती। सरोज और वरदा मालती की छोटी बहनें हैं। नये रंग में सर से पाँव तक रंगी हुई तथा स्त्रियों की स्वतंत्रता की जबर्दस्त समर्थक हैं। रायसाहब के पुत्र के साथ सरोज विलायत चली जाती है। नगर के निम्न वर्ग की एक और स्त्री है—कलूटी। सेवा की सजीव प्रतिमा है। परोपकार बिना किसी शिकायत के करनेवाली।

ग्रामीण पात्रों के नाम और गुण प्रेमचंद ने अत्यंत जीवन्त रूप में 'गोदान' में शब्दांकित किये हैं। नोखेराम, मँगरू साह, झिंगुरी सिंह, दुलारी सहुआइन एवं दातादीन आदि गाँव के महाजन, नेता, शोषक, पंडित आदि हैं। हीरा, पुनिया, सोभा, हरखू चमार, दमड़ी बँसोड़, भोला, नोहरी, झुनिया, सोना, रूपा, सिलिया, मातादीन आदि गाँव के विभिन्न वर्ग के स्त्री-पुरुष पात्र हैं। इन सभी पात्रों के चरित्र

की अनेक भंगिमाएँ प्रेमचन्दजी ने 'गोदान' में चित्रित की हैं। इनके पारिवारिक सम्बन्धों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। चरित्र की कुरुपता एवं उज्ज्वल पक्ष, दोनों ही सहानुभूति से चित्रित किया है। 'गोदान' एक रंग-बिरंगे सचित्र 'एल्बम' की भाँति है, जिसमें जीवन के विविध क्षेत्रों से अनेक पात्र लिये गये हैं, प्रत्येक पात्र का अपना अलग स्वतंत्र अस्तित्व है, अपना रंग है और अपना ढंग है।

कथोपकथन

वार्तालाप का साहित्यिक मूल्य यह होता है कि उनसे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। इनसे चरित्र-विश्लेषण में भी सहायता पहुँचती है। प्रत्येक पात्र की मानसिक स्थिति, रुचि एवं प्रकृति का उसके वार्तालाप पर प्रभाव पड़ता है। होरी के हृदय में गाय की लालसा है। भोला की गाय देखकर उसका चित्त चञ्चल हो उठता है। कुछ प्रशंसा एवं खुशामद से ही भोला को बस में किया जा सकता है। भोला की लालसा स्त्री के लिये थी। अब तनिक इन दो व्यक्तियों का वार्तालाप सुनिये—

'पुरानी मसल झूठी थोड़ी है—बिन घरनी घर भूत का डेरा। कहीं सगाई नहीं ठीक कर लेते?'

'ताक में हूँ महतो, पर कोई जल्दी फँसता नहीं। सौ-पचास खरच करने को भी तैयार हूँ। जैसी भगवान की इच्छा!'

'अब मैं भी फिकर में रहूँगा। भगवान चाहेंगे, तो जल्दी घर बस जायेगा!'

'बस यही समझ लो कि उबर जाऊँगा भैया! घर में खाने को भगवान का दिया बहुत है। चार पसेरी रोज दूध हो जाता है, लेकिन किस काम का!'[1]

बच्चों का वार्तालाप और भी मधुर होता है। लेकिन जब बड़े लोग भी विनोद-पूर्वक उसमें रस लेने लगते हैं, तो आनन्द बढ़ जाता है। सोना और रूपा में आपस में नाम को लेकर विनोद होता है। होरी और गोबर भी बीच में हस्तक्षेप करते हैं।

रूपा—'काका, बहन हमको रोज चिढ़ाती है कि तू रूपा है, मैं सोना हूँ। मेरा नाम कुछ और रख दो।'

होरी—'सोना तो देखने को है। निबाह तो रूपा से होता है। रूपा न हो, तो रुपये कहाँ से बनें, बता।'

सोना—'सोना न हो तो मोहन कैसे बने, नथुनियाँ कहाँ से आए, कण्ठा कैसे बने!'

गोबर—'...सोना तो सूखी पत्ती की तरह पीला होता है, रूपा तो उजला होता है जैसे सूरज!'

सोना—'शादी ब्याह में पीली साड़ी पहनी जाती है, उजली साड़ी कोई नहीं पहनता।'

होरी—'सोना बड़े आदमियों के लिए है। हम गरीबों के लिए तो रूपा ही है।

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ९।

जैसे जौ को राजा कहते हैं, गेहूँ को चमार, इसीलिये न कि गेहूँ बड़े आदमी खाते हैं, जौ हम लोग खाते हैं!...'[1]

कितने सहज ढंग से कितनी बड़ी बात लेखक ने कह दी। यह होता है सम्वादों का वास्तविक कौशल। प्रेमचंद के ग्रामीण पात्र जब बोलते हैं तो मुहावरों की फुलझड़ी का रंग देखते ही बनता है। अवसर के अनुकूल कथोपकथन छोटे-बड़े हो जाते हैं।

'गोदान' के संवादों को लेखक ने शिल्प-कौशल के वशीभूत होकर नहीं प्रस्तुत किया है वरन् गाँव की प्रतिदिन की जिंदगी के निकट-सम्पर्क का यह प्रसाद है। स्वाभाविक शब्दावली और जबान की मुहावरेदानी उनके संवादों की एक विशेषता है।

कहीं कहीं पर प्रेमचंद के संवाद अत्यंत मार्मिक तथा चुटीले हो गए हैं। दर्द सजीव हो उठता है।

'गोदान' में कथोपकथन, प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा, अधिक सुगठित, प्रौढ़ एवं व्यंजक मिलता है। प्रेमचन्द के संवादों में एक बहुत बड़ा दोष यह मिलता है कि प्रायः उनके पात्र संवाद न बोलकर, पूरा भाषण ही दे डालते हैं, जो एक-एक, दो-दो पृष्ठ तक अविरल गति से बढ़ता चला जाता है। रायसाहब, मेहता और मालती के ऐसे संवाद 'गोदान' में अनेक स्थल पर मिलते हैं।

भाषा-शैली

पं० रामचन्द्र शुक्लजी के अनुसार प्रेमचंद की सी चलती हुई और पात्रों के अनुरूप रंग बदलनेवाली भाषा पहले नहीं देखी गई थी। 'गोदान' की भाषा—घरेलू, सादी, मुहावरेदार और अनुभव तथा ज्ञान से पूर्ण है। प्रेमचन्द ने शब्दों, मुहावरों और पात्रों के नाम से एक अद्भुत ग्रामीण वातावरण की सृष्टि की है। 'गोड़ने', 'पगहिया', 'पल्ले', 'डाढ़ीजार', 'मूजी', 'टुकड़-खोर', 'कबरी', 'सबील', 'मेहरिया', 'हितू' 'धरम' आदि ठेठ ग्रामीण शब्द 'गोदान' के प्रत्येक पृष्ठ पर नग की भाँति चमक रहे हैं। 'हफिंजा', 'कालिस', 'रिस्ट-पुष्ट', 'फिचकुर', 'निहोरा' की सरसता एवं सरलता अपूर्व है। नागरिक पात्र इसीप्रकार अंग्रेजी शब्दों का खुलकर प्रयोग करते हैं—जैसे—'स्पेकुलेशन', 'फिलासफर', 'ब्लडी', 'चीफ', 'सेक्रेटरी', 'थ्योरी' आदि। 'Business is Business' ऐसे वाक्य-खंड भी मिलते हैं। इसी प्रकार उर्दू-फारसी की शब्दावली मुस्लिम पात्रों के मुख से निःसृत वाणी में मिलती है। इसीप्रकार ग्रामीण पात्रों का नामाकरण बहुत स्वाभाविक ढंग से किया गया है। 'गोबर', 'धनिया', 'झुनिया', 'सिलिया' गाँव में मिलेंगे, शहर में नहीं।

प्रेमचन्द ने सदैव व्यवहारिक भाषा अपनायी। कहीं भी जैनेन्द्र या अज्ञेय आदि लेखकों की भाँति बनकर शिल्पाभ्यास नहीं किया। जैसे—'किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते है, भाव-

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १७।

ताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक पाई छुड़ाने के लिये वह महाजन की घंटों चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता; लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है, खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है, गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती दूसरे ही पीते हैं, मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिये कहाँ स्थान! होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा ही न था।'[१]

प्रेमचन्द की भाषा-शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से एक अपूर्व माधुर्य आ गया है। 'गोदान' में अनेक स्थलों पर हिन्दी की परिष्कृत शब्दावली मिलती है—'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है।'[२] 'भंग का नशा मन्थर गति से एक स्वप्न की भाँति आता था और मस्तिष्क पर मेघ के समान छा जाता था। उनकी चेतना बनी रहती थी।[३] 'धनिया का यह मातृ-स्नेह उस अँधेरे में भी जैसे दीपक के समान उसकी चिन्ता जर्जर आकृति को शोभा प्रदान करने लगा।'[४] 'सिलिया ने उस पक्षी की भाँति, जिसे मालिक ने पर काटकर पिंजरे से निकाल दिया हो, मातादीन की ओर देखा। उस चितवन में वेदना अधिक थी या भर्त्सना, यह कहना कठिन है। पर उस पक्षी की भाँति उसका मन फड़फड़ा रहा था और ऊँची डाल पर उस उन्मुक्त वायु-मण्डल में उड़ने की शक्ति न पाकर उसी पिंजरे में जा बैठना चाहता था, चाहे उसे बे-दाना, बे पानी, पिंजरे की तीलियों से सिर टकराकर मर ही क्यों न जाना पड़े।'[५]

'गोदान' में प्रकृति-वर्णन एवं चित्रण में काव्य की रसात्मकता मिलती है। जैसे—'फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनों हाथ से बौरा के सुगन्ध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।'[६]...'रसिक वसन्त सुगन्ध और प्रमोद और जीवन की विभूति लुटा रहा था, दोनों हाथों से दिल खोलकर। कोयल आम की डालियों में छिपी अपनी रसीली, मधुर, आत्मस्पर्शी कूक से आशाओं को जगाती फिरती थी। महुए की डालियों पर मैनों की बारात सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक से नशा सा घोल देते थे।'[७] 'कार्तिक की रूपहली चाँदनी प्रकृति पर मधुर संगीत की भाँति छाई हुई थी!'[८]

प्रेमचन्दजी की वर्णनात्मक शैली अपूर्व थी। वे धारा में पाठक को बहा ले

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ १०-११, २. वही—पृष्ठ ३२, ३. वही—पृष्ठ ६९, ४. वही—पृष्ठ १२५, ५. वही—पृष्ठ २५३, ६. वही—पृष्ठ २०७, ७. वही—पृष्ठ २४८, ८. वही—पृष्ठ ३०२।

जाते हैं। पाठक ऊबता नहीं। उर्दू के चलते शब्दों एवं देशज शब्दों के प्रयोग के कारण वर्णन-शैली अत्यंत रोचक एवं प्रभावपूर्ण बन गई है। जैसे—'मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे। भूरी-भूरी मूँछें, नीली आँखे, दोहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन और चूडीदार पाजामा पहने थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिंग के समय चौंक पड़ते थे और नेशनलिस्टों की तरफ से वोट देते थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे, मगर शराब खूब पीते थे। बड़े दिल्लगीबाज, बेफिक्रे जीव थे। पहले बसेरे में ठीके का कारोबार करते थे। लाखों कमाया, मगर शामत आयी कि एक मेम से आशनाई कर बैठे। मुकदमेबाजी हुई। जेल जाते-जाते बचे!'[१]

और —'अधमरे बूढ़े, ठठरियाँ लिये, मुँह में दाँत न पेट में आँत, जाँघ के ऊपर धोतियाँ या तहमद चढ़ाये ताल ठोककर उछल रहे थे, मानों उन बूढ़ी हड्डियों में जवानी धँस पड़ी हो।'[२]

'गोदान' में पात्रानुकूल, प्रसंगानुकूल एवं व्यवहारानुकूल भाषा मिलती है। पठान भी अपनी भाषा में बोलता है—'तुम अमारे साथ चलेगा दिलदार! अम तुम्हारे ऊपर फिदा हो जायगा। अपना जान तुम्हारे कदमों पर रख देगा। इतना आदमी तुम्हारा आशिक है, मगर कोई सच्चा आशिक नहीं है। सच्चा इश्क क्या है, अम दिखा देगा। तुम्हारा इशारा पाते ही अम अपने सीने में खंजर चुभा सकता है!'[३]

कहा कहीं भाषा केवल मुहावरों पर तैरती चली जाती है। व्यवहार सिद्ध मुहावरे मिलते हैं। जैसे— 'बिन घरनी घर भूत का डेरा', 'लाद दे, लदा दे लादनेवाला साथ कर दे' 'नाटन खेती, बहुरिया घर', 'अन्धे कूकर की भाँति हवा पर भूँका करें', 'जुलाहे का गुस्सा डाढी पर न उतार', 'वह ७२ घाट का पानी पिये हुए हैं', 'पेट में बात नहीं पचती' आदि। इन मुहावरों एवं लोकोक्तियों से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति समृद्ध हुई है।

सूक्तियाँ प्रेमचन्द की भाषा का रंग और निखार देती हैं। जैसे—(१) आशा में कितनी सुधा है। (२) सम्पत्ति और सहृदयता में वैर है। (३) बूढ़ो के लिये अतीत के सुखों और वर्तमान के दुखों और भविष्य के सर्वनाश से ज्यादा मनोरंजक और कोई प्रसंग नहीं होता। (४) हाथ की लज्जा तो पी जाने की वस्तु है। (५) बुढ़ापे में आज वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है, पर अब वह भोजन को चबानेवाला दाँत नहीं, दुखानेवाला दाँत है। (६) डरपोक प्राणियों में सत्य भी गूंगा हो जाता है। (७) आदमी जूठा तभी खाता है जब मीठा हो। कलंक चाँदी से ही धुलता है। (८) मरे को मन भर लकड़ी से जलाओ या दस मन से, उसे क्या चिन्ता। (९) खन्ना गरजने लगे, गोविन्दी बरसने लगी।

'गोदान' में विभिन्न प्रकार की शैलियां मिलती हैं। इतिवृत्तात्मक, आवेगपूर्ण,

---

१. 'गोदान'—पृष्ठ ६२, २. वहीही—पृष्ठ १४४, ३. वही—पृष्ठ ७३।

विनोदपूर्ण एवं व्यंगप्रधान शैली तथा भावात्मक शैली का प्रवाह देखते ही बनता है। उर्दू में हाथ मजे रहने के कारण इन्होंने मुहावरों का बड़ा उपयुक्त प्रयोग किया है, कहीं-कहीं उनकी झड़ी लगा दी है। प्रेमचन्द की भाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि वाक्य प्रायः बहुत लम्बे-लम्बे होते हैं, जिन्हें एक सूत्र में रखने के लिये बार-बार 'और' का लेखक को प्रयोग करना पड़ा है। जैसे—'धैर्य और त्याग और शील और प्रेम', 'दया और श्रद्धा और त्याग' आदि! 'दोपहर ढल गया'[1] ऐसे वाक्य भी मिल जाते हैं। व्याकरण की इन छोटी-मोटी भूलों के अतिरिक्त उनकी भाषा के ठेठपन में एक अपूर्व लोकरस हमें मिलता है, कुछ यहाँ की धरती की सुगंध, यहाँ की हवा की सरसता और यहाँ की कोयलों की मीठी कूक, जो बड़े-बड़े शब्द-शिल्पियों के यहाँ ढूँढने पर भी नहीं मिलेगी।

देश-काल

'गोदान' भारतीय-जीवन का दर्पण है। परन्तु आचार्य पंडित नन्ददुलारेजी वाजपेयी इसे राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिध चित्र नहीं मानते, उनके अनुसार 'गोदान' में करुणा रस प्रधान ग्रामीण जीवन का चित्र है। क्योंकि उस युग में राष्ट्रीय जीवन में संघर्ष था, तो उस पर विजय पाने की कामना थी। दुःख था, तो उसके निवारण का महान संकल्प भी था। 'गोदान' में इस सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश नहीं है। वाजपेयीजी 'गोदान' का देश-काल भी सीमित मानते हैं, क्योंकि उसमें समाज का सर्वतोमुखी चित्रण नहीं है। उत्तरप्रदेश के एक छोटे से ग्राम से उसका कथानक सम्बंधित है। ग्राम के विविध वर्गों और प्रतिनिधियों का उल्लेख अवश्य है, फिर भी सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से पर्याप्त विशालता नहीं है। 'गोदान' में न तो महाकाव्य के से औदात्य और उत्कर्ष का समारम्भ आया है और न गहनतम उच्छ्वास का सा सीमित और तन्मयकारी प्रभाव ही व्यक्त हो पाया है।

वस्तुतः प्रेमचन्द समाज के प्रवाह को अत्यंत गहराई से देखते थे। 'गोदान' केवल वर्तमान का एक निष्पक्ष-चित्र है। इसके लेखक ने इस रचना को 'राष्ट्रीय महाकाव्य' (Epic Novel) के रूप में नहीं लिखा था, और न उसका यह आग्रह ही कभी रहा कि 'गोदान' भारत का राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास मान लिया जाय। अतएव समीक्षकों के दृष्टिकोण को आधार बनाकर यदि कोई किसी रचना के गुण-दोष के विवेचन का आग्रह करे, तो इससे हम उस कृतिकार की रचना का सही मूल्यांकन न कर सकेंगे, न उस लेखक के प्रति न्याय ही कर पायेंगे।

गाँव की दोषपूर्ण सामाजिक अवस्था, धार्मिक रूढ़ियाँ, खोखली नैतिकता एवं टूटते तथा बदलते हुए जीवन-मूल्यों के परिपार्श्व में कृषक की आर्थिक-दशा का सही अंकन हमें 'गोदान' में मिलता है। निरक्षर बहुएँ एवं स्वार्थी भाई सम्मिलित-परिवार

---

१. 'गोदान'—पृ. १६।

की जड़ों पर कुल्हाड़ा चला रहे हैं। नई-पीढ़ी गाँव के बँधे वातावरण से ऊबकर शहरों की ओर जाना चाहती है। कृषक शोषण की चक्की में पिसकर मजदूर बनने को विवश होता है। थाना-पुलिस, कचहरी-अदालत सब उसकी रक्षा नहीं करते, वरन् उसे दोनों हाथों लूटते हैं। किसान सबका नरम चारा है। पटवारी को नजराना और दस्तूरी न दे, तो गाँव में रहना मुश्किल। थानेदार और सिपाही तो उसके दामाद हैं, उनका स्वागत-सत्कार न हो, तो एक ही रपट में सारा गाँव बँध जाय। कभी कमिश्नर आते हैं, कभी कलक्टर, कभी कानूनगो, कभी तहसीलदार, उनके लिये रसद-चारे, मुर्गी-अंडे, दूध घी का प्रबंध करना भी कृषक का कार्य है। लेकिन प्रेमचन्द ने केवल इन अत्याचारों की कहानी ही नहीं सुनाई है, वरन् स्पष्टतः इस अन्याय के विरुद्ध संघर्ष का सन्देश दिया है। 'अपने हक और न्याय के लिये न लड़ना उससे भी बड़ा पाप है।'[१]

नगर के विलासपूर्ण जीवन के साथ-साथ नवीन एवं प्राचीन विचार-धाराओं का संघर्ष भी दिखाया है। एक ओर प्राचीन रूढ़ियों में बँधी, पति के हाथों मार सहनेवाली गोविन्दी है, दूसरी ओर पति को हंटरों से पीटनेवाली मीनाक्षी है। इन दो अति छोरों के बीच मालती है, जिसके द्वारा लेखक ने नये युग की सेवा एवं त्याग की महती भावनाओं से ओत-प्रोत एक भारतीय नारी का जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। मेहता जैसे दार्शनिक एवं भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक भी विवाह को सामाजिक समझौता मानते हैं जिसे तोड़ने का न पुरुष को अधिकार है न स्त्री को। और वही मेहता मुक्त भोग को आत्मा के विकास में बाधक नहीं मानते।

'गोदान' में इलेक्शन पर बहुत लिखा गया है। उस समय देश में कौंसिलें बन गई थी। लेकिन उस 'डेमोक्रेसी' पर प्रेमचन्द को विश्वास न था। वे अपने एक पात्र मिर्जा खुर्शेद के मुँह से कहलाते हैं—'मुझे अब इस डेमोक्रेसी में भक्ति नहीं रही। जरा सा काम और महीनों की बहस। हाँ, जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिये अच्छा स्वाँग है। जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है, और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपये हैं। मेरा बस चले, तो कौंसिलों में आग लगा दूँ।'[२]

सम्पादक की हीनावस्था पर भी प्रेमचन्द ने व्यंगपूर्वक खूब लिखा है। 'सम्पादक का जीवन एक दीर्घ-विलाप, जिसे सुनकर लोग दया करने के बदले कानों पर हाथ रख लेते हैं। बेचारा न अपना उपकार कर सके न औरों का। पब्लिक उससे आशा तो यह रखती है कि हर एक आन्दोलन में वह सबसे आगे रहे।...उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं।'[३]

'गोदान' में औद्योगीकरण का कृषक की आर्थिक दशा पर पड़नेवाले कुप्रभाव को भी दिखाया है। जब 'मिल' तैयार हो जायगी और गुड़ के भाव से चीनी बिकने

---

१. 'गोदान'--पृष्ठ ३५४। २. वही--पृष्ठ ९५। ३. वही--पृष्ठ ५८।

लगेगी, तो गुड़ कौन लेगा ? इस प्रकार गाँव के कुटीर उद्योगों का ह्रास होगा। कृषक ही मजदूर बनने को विवश होगा। पूँजीपति मजदूरों का शोषण कर, उनकी हड्डियों की नींव पर सोने का महल बनायेंगे, कौंसिलों में राज्य करेंगे, और दीन-हीन-शोषित मजदूर, योग्य नेतृत्व के अभाव में, स्वार्थी नेताओं के पंजे में पड़कर, लाठियों की मार सहेगा, जेल में चक्की पिसेगा और अकाल में ही मृत्यु का वरण करेगा।

यह यथार्थ सन् ३५-३६ के भारत का सामाजिक यथार्थ है। 'गोदान' उसी युग की रचना है। इसमें उस युग की जिंदगी की, सभी रंग की बदलती उजली-स्याह तस्वीरें मिलती हैं। 'गोदान' के लेखक में एक युग-प्रवर्तक का विश्वास था। उनकी इस महान् कृति में भारत की कोटि-कोटि निरक्षर, दीन एवं शोषित जनता के लिये एक युग-सन्देश है। 'हमें अपना भाग्य स्वयं बनाना होगा'—यह परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़े भारत के लिये एक जागरण सन्देश था।

'गोदान' का लेखक प्रगतिवादी या मार्क्सवादी भले ही न हो, प्रगतिशील अवश्य है। अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष की प्रेरणा देना, एक प्रगतिशील लेखक के लिये ही संभव है। भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ विभूतियाँ सेवा, त्याग एवं प्रेम हैं। इसीलिये मेहता-मालती अपने परिवर्तित जीवन में इनके पालन का कठोर व्रत ग्रहण करते हैं।

५. 'गोदान' न केवल हिन्दी का, वरन् भारत का एक युगान्तरकारी उपन्यास है। हिन्दी में तो यह अपने ढग का अकेला उपन्यास है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की यह सर्वश्रेष्ठ रचना है।

———
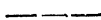
शेखर : एक जीवनी

बाबू श्यामसुंदरदासजी के अनुसार—'……उपन्यास के एक ओर जीवनी और दूसरी ओर कविता है। इन्हें उपन्यास के दो छोर भी कह सकते हैं। कभी कभी उपन्यास इस बीच की स्थिति का त्याग कर एक या दूसरे छोर की ओर बढ़ जाता है और तब वह उपन्यास संज्ञा का अधिकारी नहीं रहता।'[1]

'शेखर : एक जीवनी' भी हिन्दी का एक ऐसा युगान्तरकारी उपन्यास है जिसमें जीवनी की वैयक्तिकता का स्पर्श है और साथ ही कविता की तन्मयकारी मधुर लय की गूँज भी। श्यामसुन्दरदासजी की मान्यता के अनुसार 'शेखर : एक जीवनी', हिन्दी का एक श्रेष्ठ सफल उपन्यास माना जा सकता है।

'गोदान' की भाँति यह भी अत्यंन्त लोकप्रिय एवं बहु-चर्चित उपन्यास है। 'गोदान' की भाँति इस उपन्यास को लेकर भी आलोचकों के मध्य बहुत विवाद रहा। परन्तु 'गोदान' से एकदम भिन्न धरातल पर यह उपन्यास रचा गया है। 'शेखर : एक जीवनी' और 'गोदान' में पूरे एक युग का अन्तर है। कथा-शिल्प, संवाद, भाषा-शैली आदि में न केवल नवीनता मिलती है, वरन् ताजगी (freshness) भी दृष्टिगत होती है।

'शेखर : एक जीवनी' को समीक्षक एक 'लैन्ड-मार्क' मानते हैं। यह उपन्यास के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है। इसका शिल्प-विधान अत्यन्त सूक्ष्म और प्रौढ़ है। इसमें उपन्यास का मेरुदंड 'कथा' नहीं, वरन् 'चरित्र' है। इस औपन्यासिक जीवन-वृत्त में व्यक्ति की ऐकान्तिक निष्ठा मिलती है और जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण भी।

लेकिन रूढ़िवादी, परंपरा-प्रिय, आदर्शवादी तथा नीतिवादी समीक्षक इसे पसन्द नहीं करते। वे समाज में क्रांति पसन्द नहीं करते, हाँ सुधार का भले ही दबी जबान से समर्थन कर दें। ऐसे लोगों ने 'ध्वंसकारी' शेखर का कटु-शब्दों में विरोध किया है। पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी ने स्वस्थ नैतिक सामाजिकता का इसमें अभाव बताया है। वे इसमें 'अतिरिक्त बौद्धिकता' का आग्रह तथा 'सामाजिक चेतना' की कमी का अनुभव करते हैं। वे इस उपन्यास को प्रेमचन्दजी की स्वस्थ सामाजिक परंपरा से कटा हुआ मानते हैं। श्री गंगाप्रसाद पांडेय एक कदम आगे बढ़कर आक्षेप करते हैं—'शापनहावर ने एक जगह लिखा है कि ऐसा लिखना जिसे कोई न समझे सबसे सहज होता है, किन्तु शेखर को तो शायद स्वयं लेखक ने भी नहीं समझा।'[2]

साम्यवादी आलोचक समाज में साम्यवादी विचार-परंपरा एवं दर्शन के अनु-

---

१. 'साहित्य-संदेश'—१९४० ई०—पृ० १२१, २. 'आधुनिक कथा-साहित्य'—पृ० १७६।

कुल परिवर्तन चाहते हैं। शेखर में उन्हें अपनी विचारधारा का समर्थन नहीं मिलता। अतएव पाठकों के मध्य भ्रांति उत्पन्न करने के लिए उन लोगों ने भी इसकी कटु आलोचना की है। इस प्रकार 'शेखर' के आलोचक एक ओर रूढ़िवादी हैं तो दूसरी ओर प्रगतिशील साम्यवादी। अतएव बिना किसी पूर्वग्रह से प्रभावित हुए संतुलित दृष्टि द्वारा ही हम 'शेखर' का सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

'शेखर' की मौलिकता के सम्बन्ध में एक और गम्भीर आक्षेप किया जाता है। कुछ आलोचकों के अनुसार रोम्याँ रोलाँ के 'ज्याँ क्रिस्तफ' से प्रेरणा ग्रहण कर अज्ञेय ने 'शेखर' का निर्माण किया है। इस प्रकार 'शेखर' की मौलिकता के आगे एक प्रश्न-चिह्न उन्होंने लगा दिया है। अतएव 'शेखर' एवं 'ज्याँ क्रिस्तफ' पर कुछ तुलनात्मक ढंग से विचार कर लेना, अत्यंत समीचीन होगा। 'ज्याँ क्रिस्तफ' में भी 'शेखर' की भाँति एक ही व्यक्ति का मुख्य रूप से चित्रण मिलता है, और इसी ढंग से सर्गों का भी विभाजन मिलता है। शेखर में यदि लेखक बनने की आकांक्षा है तो ज्याँ-क्रिस्तफ में संगीतज्ञ बनने की। शेखर का संघर्ष मुख्यतः पुरानी रूढ़ियों से है। लेकिन ज्याँ-क्रिस्तफ का व्यक्तित्व जितने स्तरों में उद्घाटित हुआ है, उतने स्तरों या दिशाओं में शेखर का विकास नहीं मिलता। ज्याँ क्रिस्तफ में शेखर की अपेक्षा अधिक स्थानीय मिट्टी का रंग मिलता है। उसकी धमनियों में जर्मनी का रक्त उबाल खाता है और वह फ्रांस में रहकर भी अपनी इस भिन्नता को छिपा नहीं सकता। उसके चरित्र में एक ऐसा संतुलन मिलता है, जो उसे 'शेखर' की भाँति हवा में उड़ने से रोकता है। उसके कदम हमेशा ठोस धरातल पर ही रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ज्याँ क्रिस्तफ' और 'शेखर', दोनों पात्रों का व्यक्तित्व ही भिन्न है। 'शेखर' और 'ज्याँ-क्रिस्तफ' में उतना ही अन्तर है, जितना वर्माजी की 'चित्रलेखा' और अनातोले फ्रांस की 'थाया' में। अतएव वह अनुकृति नहीं कहा जा सकता।

'शेखर' उपन्यास है या जीवनी?

उपन्यास के बाह्य ढाँचे या रूप (form) पर अधिक बल देनेवाले समालोचक प्रायः यह प्रश्न उठाते हैं—'यह उपन्यास है या जीवनी?' यदि जीवनी है तो क्या उपन्यास नहीं है? कदाचित् ऐसे विज्ञ समालोचक उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द की यह भविष्यवाणी भूल जाते हैं—'भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा।'

अर्थात् जीवनी या जीवन-चरित्र (यहाँ हमारा तात्पर्य केवल शैली से है) भी उपन्यास हो सकता है। संभवतः हिन्दी के लिये यह एकदम नई चौंका देनेवाली बात हो, परन्तु अंग्रेजी, फ्रेंच तथा रूसी भाषा में अनेक ऐसे उपन्यास लिखे गये हैं जिसमें किसी पात्र की जीवनी शीर्षक देकर उपन्यास लिखे गये हैं। 'अज्ञेय' के शब्दों में—'शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम, निजी दस्तावेज, a record of personal suffering है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी

की निजू बात कहकर उड़ा सके। मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और मेरा युग बोलता है...।...मैंने 'शेखर' के आरम्भ के खण्डों में घटनास्थल अपने ही जीवन से चुने हैं, फिर क्रमशः बढ़ते हुए शेखर का जीवन और अनुभूति-क्षेत्र मेरे जीवन और अनुभूति क्षेत्र से अलग चला गया है, यहाँ तक कि मैंने स्वयं अनुभव किया है कि मैं एक स्वतंत्र व्यक्ति की प्रगति का दर्शक और इतिहासकार हूँ, उसके जीवन पर मेरा किसी तरह का भी वश नहीं रहा है।'[1]

इस प्रकार 'शेखर' जीवनी होते हुए भी उपन्यास है। जीवनी प्रायः इतिहास-प्रसिद्ध या उस व्यक्ति की होती है जिसका अस्तित्व सचमुच प्रत्यक्ष होता है। काल्पनिक पुरुष की जीवनी ही उपन्यास होती है। 'शेखर' का प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं है, वह एक काल्पनिक व्यक्ति है। अतएव इसे केवल जीवनी ही नहीं कहा जा सकता, वरन् यह 'उपन्यास है'।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी मानते हैं—'इसे (शेखर को) हम उपन्यास भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है और वह भी नितान्त एकरस।...किन्तु जीवनी में बहुत से स्थल औपन्यासिक भी हैं, विशेषतः दूसरे भाग में—जैसे लाहौर के कालेज जीवन के दृश्य, जेल-जीवन का चित्र आदि। जीवनी में एक विशालता अवश्य है, किन्तु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता!...'[२]

श्रद्धेय वाजपेयीजी का कथन विचारपूर्ण है। परन्तु प्रश्न होता है क्या उपन्यास का कोई बना-बनाया ढाँचा होता है? क्या उसे बदला नहीं जा सकता? वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक उपन्यास-लेखक, शिल्प एवं टेकनिक में कुछ नवीनता लेकर उपस्थित होता है। उपन्यास की एक प्रचलित मान्यता है कि उसका कथानक सुगठित होता है। इस मान्यता के विपरीत 'शेखर' का कथानक सुगठित न होकर, विच्छिन्न, बिखरा हुआ तथा ढीला (loose) है। 'डायरी' के रूप में लिखा गया है। क्या इसलिये यह मान लिया जाय कि 'शेखर' उपन्यास नहीं है? अगर यह मान लिया जाय तो फिर 'तालसताय' का 'वार एण्ड पीस' (war and peace) भी, अपने ढीले एवं विच्छिन्न कथानक के कारण उपन्यास नहीं कहा जायेगा? 'गोदान' भी उपन्यास न रह जायेगा। वस्तुतः 'शेखर : एक जीवनी', 'गोदान' आदि शिथिल-बन्ध उपन्यास के अच्छे उदाहरण हैं। सुगठित कथानक वाले उपन्यास का श्रेष्ठ उदाहरण 'चित्रलेखा' है।

'इस कृति को जीवनी कहने से लेखक को शैली सम्बन्धी भी बहुत-सी छूटें मिल गई हैं। उपन्यास में कहीं लघु-कथा, कहीं रेखा-चित्र, कहीं यात्रा-विवरण, कहीं निबन्ध, कहीं गद्य-गीत और कहीं व्याख्यान की शैली का समावेश है और इनके मिश्रण से उपन्यास में बड़ी शक्ति और अनूठापन आ गया है। वर्णनों में तो महाकाव्य की

---

१. 'शेखर' : भूमिका—पृष्ठ ८-९, २. 'आधुनिक साहित्य'—पृष्ठ १७४,

सी चित्रमयता है।...ऐसा लगता है जैसे परिश्रम ने प्रतिभा के हाथ में कला की तूली दे दी है और परिणाम है 'शेखर : एक जीवनी'।'[१]

स्पष्ट है 'शेखर : एक जीवनी' शीर्षक से किसी प्रकार का भ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिये। यह हिन्दी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है, जिसके बड़े से बड़े आलोचक भी इसके औपन्यासिक उतार-चढ़ाव एवं टेकनीक की दाद देते नहीं थकते। बीसवीं सदी में साहित्य के अनेक पुराने बँधे मान बदल गये। अतएव उपन्यास, नाटक या महाकाव्य के पुराने प्रतिमानों को आधार मान कर 'शेखर : एक जीवनी' और 'त्यागपत्र', 'चन्द्रगुप्त' और 'सिंदूर की होली' तथा 'साकेत' और 'कामायनी' के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता।

कथा

अज्ञेय के अनुसार 'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है। मृत्यु की छाया में लिखी गई यह एक महान् रचना है। पूरा जीवन जी चुकने के बाद, संभावित मृत्यु का आलिंगन करने से पूर्व 'शेखर' जीवन का अर्थ जानने का प्रयत्न करता है। वह गत जीवन को स्मृति के सहारे एक बार पुनः जीने का प्रयत्न करता है। सदा आगे देखनेवाला शेखर, जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर पीछे देखता है। वह अपनी भूलों एवं कड़वे-मीठे विचित्र अनुभवों पर विचार करता है।

सबसे पहले उसकी आँखों के आगे बाल्य-जीवन की स्मृतियाँ लहर जाती हैं। उन स्मृतियों में कौन पहली है, कौन बाद की, इनका निरूपण करना कठिन है, क्योंकि वे लगभग एक ही काल की हैं। उसने 'भय' पर विजय पाई। उसने जाना, डर डरने से होता है। इसने उसे उद्धत बनाया। उसने अनुभव किया 'डर' पर ही समाज का अस्तित्व टिका हुआ है। उन स्मृतियों का निष्कर्ष यह निकला—'प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया। भय ने उसे समाज का रूप दिया। अहंकार ने उसे राष्ट्र में संगठित कर दिया!'[२]

संसार में जो 'शिक्षा' का प्रचलित रूप है, वह 'टाइप' का निर्माण करता है, 'व्यक्तित्व' को कुचलकर। नीरस हृदयहीनता से बच्चों को शिक्षा दी जाती है। सहज-शिक्षा का अभाव है। कान्वेण्ट के उन्मुक्त वातावरण में भी शेखर को असन्तोष हाथ लगता है। मास्टर पढ़ाने घर पर आते हैं। सर की टक्कर से घबराकर वे मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। लखनऊवा मास्टर 'थुक्कू मास्टर' बनकर पढ़ाना छोड़ देते हैं। इस प्रकार शिक्षा का पहला परिच्छेद समाप्त हुआ।

जिज्ञासु शेखर की हर जिज्ञासा को कुचल दिया जाता है। उसके जीवन में पक्षी आते हैं और उसकी बद्ध आत्मा को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ा कर पंख फड़फड़ाते उड़ जाते हैं। लोहा या सोना भी, एक चोट से नहीं बनता। उस पर कई चोटें

---

१. 'आलोचना'—अक्टूबर '५४—पृष्ठ १०६, २. 'शेखर : एक जीवनी'—पृष्ठ ५३

होती हैं, चोट पर चोट ! शेखर का निर्माण भी शिक्षा के हथौड़े से ठोक-पीट कर किया जा रहा था। अजायबघर की नग्न मूर्तियों से उसे नग्न सत्य को पहचानने की प्रेरणा मिलती है।

जिज्ञासु शेखर के लिये, ईश्वर भी एक अबूझ पहेली था। और इसीलिये—"जब कभी माँ कहतीं, 'बेटा, घबराओ नहीं, ईश्वर सब अच्छा करेंगे' तब वह चाहता, फट पड़े, बरस पड़े. पूछे कि क्या युद्ध अच्छा हुआ है ! भूख अच्छी हुई है ? मामा नहीं आये, वह अच्छा हुआ है ?......इतने लोग बीमार पड़े, अच्छा हुआ है ? मरे अच्छा हुआ है ? सब कुछ ईश्वर करता है, इसमें उसे आपत्ति नहीं, वह सब कुछ अच्छा करता है, यह झूठ उस पर अत्याचार है, इसे वह किसी तरह नहीं सह सकता..."[१]

शेखर का नया भाई जन्म लेता है। वह जानना चाहता है यह कैसे आया, कहाँ से आया, कब आया, कौन लाया ? इन प्रश्नों का यदि ससार के पास उत्तर नहीं है तो शेखर भी यह मानने को स्वतंत्र है—'नहीं है ईश्वर—नहीं है, नहीं है !'[२]

और अन्त में उसने अनुभव किया कि यदि किसी का कोई है, तो उसकी अपनी बुद्धि, मनुष्य को उसी के सहारे चलना है, उसी के सहारे जीना है।'[३] उसके एकांत जंगली जीवन में मिस प्रतिभा आती है तितली की तरह और वैसे ही फुर्र से उड़ भी जाती है। शेखर से उसका सख्य नहीं स्थापित होता। अभिमानी शेखर के लिये प्रतिभा मरी समान हो जाती है। वह उसे भूल जाता है।

देश के लिये शेखर भी कुछ करना चाहता था। गांधीजी से प्रभावित शेखर केवल 'नारे' ही समर्थन में नहीं लगाता, वरन् आचरण भी बदल देता है। वह विदेशी वस्त्रों का परित्याग कर, केवल देशी वस्त्र धारण करने लगता है। एक दिन घर के सारे विदेशी कपड़ों को बटोर शेखर साहसपूर्वक होली जलाता है। इस साहस का उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। वह विदेशी आचार-विचार एवं भाषा का भी तिरस्कार करना चाहता है। वह अंग्रेजी भाषा को तलाक देकर, हिन्दी से मन लगाना शुरू करता है। इसी उत्साह में एक राष्ट्रीय नाटक का भी वह निर्माण करता है, जिसमें स्वाधीन, बाधाहीन भारत का उज्ज्वल चित्र उसने चित्रित किया। परन्तु क्रोध के आवेश में एक दिन शेखर इस महत्त्वपूर्ण कृति को गाय के हवाले कर देता है, जो उसे समूल चबा जाती है।

शेखर के जीवन में शारदा आती है। वयःसन्धि की देहली पर खड़े शेखर की आत्मा को नया जीवन-संगीत प्राप्त होता है। अदृश्य परिस्थिति-चक्र शेखर के प्रतिकूल था। उसे परीक्षा के लिये लाहौर जाना पड़ता है। शारदा से बिछुड़ा शेखर शशि की स्निग्ध मुस्कान और सरल व्यवहार में नवीनता पाता है। परन्तु उन कोमल क्षणों के बीच भी वह शारदा की याद बनाये रखता है। परीक्षा के बाद घर लौटने पर

---

१. 'शेखर एक : जीवनी'—पृष्ठ ८९-९०, २. वही—पृष्ठ ९५, ३. वही—पृष्ठ ९५।

शेखर निराश होता है। शारदा का मकान एकदम खाली मिलता है और शारदा कहीं दूर जा चुकी होती है। उसकी वय:सन्धि का ज्वार समाप्त हो जाता है।

तपेदिक से आक्रान्त नवयुवती शान्ति को देखकर शेखर की करुणा का बाँध टूट जाता है। उसे रोजेटी के बनाये हुए 'बीएटा बीएट्रिक्स' नामक चित्र, जिसे 'ग्लोरी आफ डेथ' भी कहते हैं, उसका सजीव प्रतिरूप शान्ति प्रतीत हुई। उस रोगिणी को वह दर्द भरी कविताएँ एवं कहानियाँ सुनाता। स्नेह-कातर शेखर उसके शरीर का भावावेश में स्पर्श कर आँसू की एक बूंद का उपहार पाता है। उसका मन काँप जाता है। उसे शारदा की याद पुनः सताने लगती है, और शेखर पुनः शान्ति के पास जाने का साहस बटोर नहीं पाता। इसी बीच उसे ज्ञात होता है कि उसकी शान्ति मर गई है।

इन्टर की पढ़ाई के लिये शेखर अकेला मद्रास जाता है। शेखर को बोर्डिंग के उस नये वातावरण में पहुँचकर एक सिहरन-सी होती है। 'कुमार' जैसे एक रंगे-सियार दोस्त से परिचय होता है। शेखर उसे मित्र ही नहीं, अपना भाई भी मान लेता है। उसे रुपये से भी सहायता पहुँचाता है। उसके लिये वह अपने पिता से भी विरोध मोल ले बैठता है। लेकिन शेखर ने जिसे हीरा समझा था वह काँच निकला। कुमार का असली रंग प्रकट होता है। शेखर उससे घृणा करने लगा। उसने अपनी भूल जानकर, जीवन में पहली बार पिता से क्षमा भी माँग ली।

शेखर के हृदय में अछूत और दलितों के प्रति स्नेह एवं करुणा जगती है। वह ब्राह्मणों का होस्टल छोड़कर, अछूतों के साथ उनके होस्टल में रहने लगा। सदाशिव, राघवन् और देवदास उसके नये कर्मठ सहयोगी बने। उन्होंने रात्रि-पाठशाला में अछूत बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। 'एन्टिगोनम क्लब' स्थापित किया। हस्तलिखित पत्र भी निकालना शुरू किया। इसका भारी मूल्य शेखर को चुकाना पड़ा। उसकी आलोचना होने लगी। राघवन् ने प्रतिज्ञा भंग की और अपने विवाह के लिए घर जाना चाहा। शेखर कुछ दिनों में सब हलचलों से तटस्थ हो गया। एन्टिगोनम क्लब को तोड़ दिया। पत्र भी बन्द कर दिया और निर्मम होकर पाठ्य पुस्तकें चाटना प्रारम्भ कर दिया। सदाशिव के सद्व्यवहार से प्रभावित शेखर उसके साथ, उसके घर परीक्षा की तैयारी के लिए जाता है। शारदा से भेंट होती है। शेखर के सोये अरमान मचल उठते हैं। शारदा उन फूलों को कुचल देती है। सब ओर से टूटा हुआ शेखर, शारदा और शारदा के देश से मौन भाव से विदा ग्रहण करता है। परीक्षा का कड़ुवा घूँट किसी प्रकार पी कर वह परिस्थिति से संग्राम करने के लिए, मन में साहस और शक्ति बटोरने लगता है।

शेखर मद्रास और नीलगिरि से दो हजार मील दूर पंजाब में पढ़ने गया। अपने मद्रास-प्रवास में शेखर ने कालेज के अनेक कड़वे-मीठे अनुभव चखे थे। अतएव यहाँ उसे पुनः प्रयोगों की आवश्यकता नहीं पड़ी। शीघ्र ही वह इस नये वातावरण में

भी खप गया। कपड़े-लत्ते, चेहरे-मोहरे और भाषा आदि के सहारे, शेखर ने शीघ्र ही अपनी ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। पढ़ने में भी वह प्रतिभाशाली था। चारों ओर से सम्मान पाकर शेखर को एक नशा सा होने लगा। 'जान दी बैप्टिस्ट' बनकर शेखर ने मणिका को निकट से देखा और पंजाब के विद्यार्थी-जीवन की असली सतह पहचानी। वह क्षोभ से भरकर कहता है—'पंजाब का विद्यार्थी-जीवन इतना पतित है, मैं नहीं जानता था। मैं समझा था, इस हट्टे-कट्टे शरीर के लोगों में कुछ सार होगा, पर सब सड़े हुए हैं, सड़े हुए!'[1]

टूटा हुआ शेखर भटकता है। एकांत से ऊबकर वह सौंदर्य की खोज में कश्मीर जाता है। वहाँ भी वह भटकता रह जाता है। शशि के पिता के स्वर्गवास का समाचार सुनकर, शेखर खिंचा हुआ वापस लौटता है। अपनी मौसी विद्यावती के पास ही शेखर रहता है। वह देखता है कि इस परिवार पर छाये दुःख के अनुताप ने, न केवल उसकी मौसी और शशि को ही अभिभूत कर रखा है, वरन् उसका दिल और दिमाग भी उससे भींग उठा है। और तब उसने वास्तविकता का अनुभव किया—'इतना लम्बा जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है, अपनी पूँछ का पीछा करनेवाले कुत्ते की तरह अपने आसपास ही चक्कर काटकर रह गया है, दूसरों का दुःख, दूसरों की वेदना उसने जानी नहीं, जाननी चाही नहीं, जानने की सम्भावना छोड़ी नहीं...।'[2] दुःख का संसर्ग प्राप्त कर शेखर निर्व्यक्तिक नहीं रह सका, गहरी समवेदना का स्रोत उसके भीतर कहीं उमड़ पड़ा।

शशि की प्रेरणा पाकर शेखर पुनः कालेज जाता है और एम० ए० में अपना नाम लिखा लेता है। साहित्य को उसने अपना विषय चुना। राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वयंसेवकों की माँग हुई। शेखर ने भी अपना नाम दिया। ड्रिल में भाग लिया। अब नये भर्ती हुए स्वयंसेवकों को शेखर कवायद कराता। कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर शेखर को नये अनुभव प्राप्त होते हैं। अकर्मण्य नेताओं का अहिंसावाद उसे देखने को मिलता है। अनुशासन और सहृदयता का सौदा शेखर के लिए मँहगा पड़ता है। वह पुलिस द्वारा निरपराध ही बन्दी बना लिया जाता है। शेखर को पहली बार अनुभव होता है कि उसकी आत्मा का एक नया परिच्छेद खुलनेवाला है। वह अपने से प्रश्न करता है—'क्या वह पूर्ण पुरुष है—विजेता—परिस्थिति का स्वामी?'[3]

शेखर पर पाँच और व्यक्तियों के साथ मार-पीट, हमला, हिंसा के लिए साजिश, सरकारी अफसरों की हत्या का प्रयत्न, सरकारी अफसर के कार्य में अवरोध और मुकदमें से सम्बन्ध रखनेवाली सामग्री छिपाने के आरोप लगे थे। जेल ने उसके सामने एक नई दुनिया ही मानों खोल दी थी, और शेखर के जिज्ञासु मन की सतह पर अनेक प्रश्न जाग उठे। जीवन में पहली बार उसने स्वाधीनता का मूल्य जाना। विद्याभूषण

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—(भाग २)—पृष्ठ १६, २. वही—पृष्ठ ३१, ३. वही—पृष्ठ ४५।

से शेखर ने अपनी अनेक जिज्ञासाओं का उत्तर प्राप्त कर लिया था। जेल में उससे मिलने उसके बड़े भाई ईश्वरदत्त और शशि आई। शशि दो बार आई, लेकिन शेखर को कुछ जानना बाकी ही रह गया। वह विकल और उद्भ्रान्त हो उठा। आँसुओं द्वारा उसने अपनी मूर्खता बहाने की भरसक चेष्टा की।

शेखर ने जेल में अनुभव की पुस्तक के पृष्ठ उलटने प्रारम्भ किये। मदनसिंह से परिचय हुआ। शेखर ने उनके समक्ष अपने को बहुत छोटा अनुभव किया। मुहम्मद मोहसिन के सरल मस्ताने स्वभाव और दर्दभरे गीत ने भी शेखर को बहुत कुछ सिखाया। वह अपने प्रश्नों का उत्तर पाने, बाबा मदनसिंह के पास जाता। उनसे तर्क-वितर्क कर शेखर को न केवल संतोष ही होता, वरन् मानसिक तृप्ति का लाभ भी होता।

शशि के पत्र से शेखर को ज्ञात होता है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह रचा जा रहा है। वह असहाय है। शेखर ही इस संसार में अकेला ऐसा व्यक्ति है जो उसकी सहायता कर सकता है, परन्तु वह बन्दी है। शेखर के अन्दर एक तूफान मचल उठता है। वह समाज के इस अत्याचार का विरोध करना चाहता है। लेकिन वह सीखचों में कैद है। इसीलिये उसकी बुद्धि में गाँठ पड़ गई। पत्र द्वारा शेखर अपने मनोभावों को प्रकट करता है। शशि उत्तर में यह सूचित करती है कि उसे शेखर का आशीर्वाद चाहिये, आहुति देने का उसने निश्चय कर लिया है। शेखर एकान्त में जला करता है। क्या आत्माहुति देकर भी शशि सुखी है? यही प्रश्न बार-बार उसके मन में चुभ जाता था।

अपने दस माह के जेल-प्रवास में शेखर ने बाबा मदनसिंह को जाना, मोहसिन को जाना, फाँसी पानेवाले रामजी को जाना और स्वयं अपने को पहचाना था। इक्कीस वर्ष जेल में बिताकर प्राण देनेवाले बाबा मदनसिंह, मरने से पूर्व शेखर के लिये एक बहुमूल्य सूत्र छोड़ गये थे—'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है, पर दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है......!'[१]

प्रमाणों के अभाव में शेखर के पक्ष में मुकदमे का फैसला होता है। जेल के बन्धनों से मुक्त, आजाद शेखर, फाटक से बाहर निकलकर सोचता है, अभी बहुत कुछ जानना है, काटना है! और शशि?

शेखर कहाँ जाय? वह भटकता है। प्रोफेसर हीथ से मिलता है। डाक विभाग में इन्स्पेक्टर, अपने चाचा के द्वार से ही वह लौट आता है। अनायास भटकता शशि के पति रामेश्वर के घर जा पहुँचता है। वातावरण मे एक विचित्र दबाव पाता है। शिष्टाचार के आवरण में भी 'सत्य' नहीं छिपता। शशि में भी वह परिवर्तन पाता है। वह क्रान्तिकारी साहित्यकार बनने की प्रेरणा लेकर, वहाँ से लौटता है। उसने किराये पर एक चौमजिले मकान की ऊपरी मंजिल में दो कमरे ले लिये। कालेज छूट

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—(भाग २)—पृ० ९६,

गया। शेखर को जीवन में पहली बार अनुभव हुआ कि वह स्वतन्त्र इकाई है। वह लिखना चाहकर भी नहीं लिख पाता, केवल नक्शे बनाया करता है।

शशि से पुनः उत्साह एवं प्रेरणा प्राप्त कर वह एक पुस्तक लिखता है 'हमारा समाज'! प्रकाशकों के कड़ुवे अनुभव प्राप्त करने के बाद, वह एक प्रकाशक को उसकी मनचाही शर्तों पर पुस्तक छपने को दे आता है। शेखर को तार द्वारा सूचना मिलती है कि उसकी माँ का स्वर्गवास हो गया है। व्यथित शेखर को धीरज देने स्वयं शशि उसके पास आती है। कुछ दिनों बाद हरिद्वार से लौटते हुए, उसके पिता भी उसके पास लाहौर में आते हैं। वह शेखर को राह पर लाने का जी भर प्रयत्न करते हैं। शेखर अपना रास्ता स्वयं बनाना चाहता है, अतएव वह कभी पिता के तर्कों से परास्त नहीं होता। पिता में एक परिवर्तन का शेखर अनुभव करता है। दुःख ने उसके पिता को बहुत कुछ तोड़ दिया है। वह भी समवेदना से भर उठता है, परन्तु शब्दों में उसे प्रकट नहीं कर पाता। हार कर पिता उसे उसके भाग्य पर छोड़कर चले जाते हैं।

समाज-सुधारक अमोलक राय के संसर्ग में शेखर को कुछ नये कड़ुवे अनुभव प्राप्त होते हैं। पत्र-सम्पादकों की व्यवसायिक शोषण नीति से क्षुब्ध शेखर, आशा और विश्वास का दीप संजोये अपने प्रकाशक के पास जाता है। प्रकाशक शेखर को खरीदना चाहता है, उसके विचारों को बेचने का प्रस्ताव करता है। खीझ से भरा शेखर पाण्डुलिपि वापस लाकर, टुकड़े-टुकड़े कर भूमि पर बिखेर देता है। असंतुष्ट एवं भावाग्नि से जलता शेखर, मोटर के पहियों के नीचे आने से बचा लिया जाता है। इस 'आत्म-रक्षा' से भी शेखर चिढ़ जाता है। 'जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं है उसका मर जाना तो स्वतःसम्मत है!'[1] और जब शेखर डूबनेवाला ही था, शशि छायादार सप्तपर्ण की छाँह तले शेखर को बाँध लेती है। वह शेखर को बाँधे रखने के लिये सारी रात जागरण करते हुए उसके पास बैठी रहती है। शशि ने शेखर को पुनः आलोक की एक किरण दी। परन्तु इसका कितना भारी मूल्य शशि को चुकाना पड़ा?

शशि अपने पति से पिटकर, तिरस्कृत और अपमानित होकर शेखर के पास पहुँचती है। शेखर का रक्त उबल उठता है। एक निर्दोष अबला पर इतना अमानुषिक अत्याचार? परन्तु शेखर चाहकर भी शशि के पति को उचित 'सबक' नहीं दे पाता। शशि के दुःख से शेखर को पुनः प्रकाश प्राप्त होता है। मौसी विद्यावती का स्नेह, शेखर के डगमगाते कदमों को एक सहारा प्रदान करता है। वह अपने ही लिये नहीं, शशि के लिये भी जीना जरूरी समझता है। रोटी का प्रश्न पुनः मुँह बाये उसके सामने आकर खड़ा होता है। वह अपनी कलम बेचता है। इसी प्रसंग में एक गुप्त क्रांतिकारी दल के सदस्यों से उसका परिचय होता है। वह घर बदल लेता है। शशि भी अब उसके साथ सहयोग करती, सभाओं में जाकर भाषण करती।

शेखर ने क्रान्तिकारियों एवं षड्यन्त्रकारियों के निकट परिचय का लाभ उठाकर,

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २)—पृ० १६३।

उनके जीवन से सम्बन्धित एक 'गरम' प्रचारात्मक उपन्यास लिखा। 'दल' के लोगों ने उसे लाहौर में प्रकाशित करने से पूर्व शेखर को शहर छोड़ने को कहा। दल की ओर से शेखर को ढाई-सौ रुपये सहायता रूप में मिले। उसने दिल्ली जाने का निश्चय किया। वहाँ यमुना के किनारे उसके रहने के लिये किराये का एक मकान पहले ही तय कर लिया गया था। शशि के साथ वहाँ रहकर शेखर ने एक नये स्वस्थ वातावरण में सन्तोष की साँस ली। साइनबोर्ड की एक दुकान भी शेखर चलाने लगा। दल की ओर से शेखर को दुकान मिली और तीन सहकारी भी। काम तो कुछ विशेष आता नहीं, लेकिन वे सभी व्यस्त रहने का अभिनय किया करते।

इसी प्रकार जीवन बहता-सा चल रहा था। शशि की बीमारी गम्भीर बनी। वह शेखर से अपने दुःख को छिपाती। खुद बुझकर, शेखर को प्रकाश से भर-भर देना चाहती। उसके वर्जित 'जूठे' अधरों का रस भी शेखर को शान्ति न प्रदान कर सका। षड्यन्त्रकारियों से शेखर का सम्बन्ध घना होता गया। उसका जीवन कुछ खतरे में भी पड़ गया। इसी बीच शशि चल बसी। शेखर को भविष्य से लोहा लेने की शक्ति प्रदान कर, शशि ने सर्वदा के लिये आँखें मूँद लीं। उस मृतात्मा के जीवित प्यार की आग में जलता शेखर इधर-उधर भटका किया ? संक्षेप में यही है इस अधूरे उपन्यास का मूल कथानक। अधूरा इसलिये कि तीन भागों में यह सम्पूर्ण होगा, और हमारे सामने केवल दो ही भाग हैं ; परन्तु फिर भी अपने आप में कथानक पूर्ण है एवं हृदयस्पर्शी भी।

वस्तु-कौशल

'शेखर : एक जीवनी' तीन भागों में विभक्त है। हमारे समक्ष केवल उसके दो भाग ही अभी हैं। लगभग पाँच सौ पृष्ठों में इसके दो खंडों का कथानक फैला हुआ है। फिर भी इसका वस्तु कौशल निराला है। इसमें वस्तु-गठन (Plot-construction) का एक नया आदर्श तथा सफल प्रयोग मिलता है। रचना की एक नई 'डिजाइन' मिलती है। पूरा उपन्यास बिखरे चित्रों का एक मोहक अलबम है। रंग-बिरंगे और सुगन्धित पुष्पों के इस हार को, कथा-तन्तु ने एक सूत्र में पिरो दिया है। इसमें प्रत्येक चित्र एवं पुष्प का अपना अलग सौन्दर्य है, तथा उन सबका सामूहिक आकर्षण भी बड़ा है।

'एलिजाबेथ बोवेन' के शब्दों में—'कहने के ढंग पर ही जोर देना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि कथा धीरे-धीरे खुले। उसमें उसी तरह का आकर्षण हो जैसे वस्त्रों से कसे हुए बन्द सन्दूक को खोलकर एक-एक करके वस्त्र निकालने में होता है, अथवा जैसे उस समय होता है जब कोई जादूगर घड़ी में से रेशमी रूमाल एक के बाद दूसरा निकालता है।'[१]

---

१. 'उपन्यास की रचना'—अनु० कृ० प्र० गौड़—पृ० २

'शेखर' के कथानक में यही कौशल देखने को मिलता है। इस उपन्यास में बात कहने का ढंग ही महत्वपूर्ण तथा एकदम नया है। यह उपन्यास ऐसे आदमी के द्वारा कहलाया गया है, जिसे फाँसी की सजा हुई है। वह कारावास में सींखचों के बीच विक्षिप्तावस्था में सोचता है। घबड़ाये हुए इस आदमी के मन में—जीवन की तीव्रतम, संवेदनशील, प्रभावशाली (Powerful) तथा मधुरतम घटनाएँ विच्छिन्न रूप से तैर जाती हैं। अतएव इसका कथानक—विच्छिन्न स्मृतिसूत्रों (Association of ideas) का 'एल्बम' बन गया है। प्रारम्भ के सत्तर-अस्सी पृष्ठ अत्यंत बिखरे हुए हैं। उनमें जीवन के सबसे अधिक संवेदनशील चित्र हैं। उपन्यास में एकसूत्रता क्रमशः बढ़ती गई है। यह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित है। इसीलिये दूसरे भाग में कथानक-सौष्ठव अधिक मिलता है, कथा के विकास में प्रवाह एवं गति मिलती है।

'शेखर : एक जीवनी' के वस्तु-कौशल की एक अपूर्व विशेषता है—भाव-सम्बलता! उसके कथानक की किसी पर्त को खोलिये, भावों का घनत्व छाया हुआ मिलेगा। केवल 'आइडिया' ही नहीं, 'एसोशियेशन ऑफ आइडियाज़' मिलता है। इसका कारण यह है कि जब हम अतीत को देखते हैं तो डूबते सूर्य की पश्चिम से झाँकनेवाली किरणों की भाँति, हमारे वर्तमान को ढका हुआ प्रकाश मिलता है। इसी शिल्प को कुछ समीक्षक 'फ्लैश बैक सिस्टम' कहते हैं। नाटक में अभिनेता या किसी दृश्य पर आगे से भी प्रकाश-किरणें फेंकी जाती हैं और कभी-कभी पीछे से भी। कोई घटना घटी, उसकी प्रतिक्रिया से अभिभूत भोक्ता के मस्तिष्क की सतह पर ठीक उसी समय कोई एक अत्यंत प्राचीन छोटी घटना भी लहर गई। इसी प्रकार इस उपन्यास में किसी वृत्त या घटना का सही तात्पर्य या प्रयोजन समझाने के लिए 'फ्लैश बैक सिस्टम' का सदुपयोग किया गया है। शेखर जैसे वर्षों के अन्तराल के बाद शशि से मिलता है, वयस्क शशि से। वहीं उसके मानस-नेत्रों के समक्ष बचपन की एक मधुर घटना लहर जाती है। नन्हीं सी मासूम शशि और अबोध जिद्दी शेखर! लोटे की चोट, खून की धार और शशि का झूठ !!

इस वस्तु-कौशल से कथा में अपूर्व रोचकता आ गई है। वर्तमान की अनेक अबूझ पहेलियों को स्पष्ट करने के लिए, और चरित्र के विभिन्न मार्मिक पक्षों को उद्-घाटित करने के लिये, लेखक ने कौशलपूर्वक 'फ्लैश बैक सिस्टम' का सदुपयोग किया है।

कथा-वस्तु की एक और विशेषता है जो सहज ही पाठक को प्रभावित करती है—वह है कथा का मनोवैज्ञानिक आकलन। बाह्य संघर्षों की अपेक्षा आन्तरिक संघर्षों को अधिक विस्तार-पूर्वक लेखक ने कथा में नियोजित कर प्रस्तुत किया है। हिन्दी उप-न्यास के विस्तृत धरातल पर ऐसा सफल प्रयोग जैनेन्द्र के बाद पहली बार 'अज्ञेय' ने ही किया है।

'शेखर', 'गोदान' से भिन्न कोटि की रचना है। इसमें 'गोदान' की तरह कोई उपकथानक नहीं है। 'शेखर' स्वयं अकेला इस उपन्यास का नायक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपनायक भी नहीं है। एक मुख्य पात्र शेखर है, जो आदि से अन्त तक रहता है एवं उसके जीवन में आने वाले लोग हैं। शेखर का कथानक, मनोवैज्ञानिक आधारों पर युक्तिसंगत एवं श्रेष्ठ ठहरता है। पूरे कथानक में घटनाओं का उतार-चढ़ाव भले न हो, लेकिन भावनाओं का उतार-चढ़ाव खूब मिलता है। भावों का एक क्रम मिलता है, यही मौलिक विशेषता है। २० वीं शताब्दि में कथानक-गठन के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। आज हम 'तथ्य' (fact) को मुख्य न मानकर, उसमें निहित 'सत्य' को ही प्रधान मानते हैं। इस कसौटी पर भी 'शेखर' खरा उतरता है। बीसवीं शताब्दि में रचे गये महाकाव्य 'कामायनी' में भी 'शेखर' की भाँति भावों का उत्थान-पतन मिलता है। उपन्यास के दोनों भाग अनेक खण्डों में विभक्त हैं। प्रत्येक खण्ड का शीर्षक अत्यंत सांकेतिक एवं अर्थपूर्ण है। जैसे—'उषा और ईश्वर', 'बीज और अंकुर', 'प्रकृति और पुरुष', 'पुरुष और परिस्थिति', 'बन्धन और जिज्ञासा', 'शशि और शेखर' एवं 'धागे रस्सियाँ, गुञ्झर' !

लेखक स्वयं स्वीकार करता है—'मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाए नहीं रख सकता—उस दिन का भोगने वाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का अर्थ है, और जो सूत्र मुझे पकड़ने है, खोजने हैं और उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।'[१]

अतएव यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिये कि 'शेखर' लेखक के जीवन का चित्रण नहीं, तो भी प्रक्षेपण (Projection) अवश्य है। कलाकार का आदर्श, लेखक के अनुसार 'टी० एस० इलियट' का यह कथन है—'भोगने वाले प्राणी और सृजन करने वाले कलाकार में सदा एक अन्तर रहता है, और जितना बड़ा कलाकार होता है उतना ही भारी यह अन्तर होता है !' (There is always a seperration between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist the greater the separation.)[२]

कथाकार अज्ञेय भले ही 'इलियट' की कसौटी पर एक बड़े कलाकार न जान पड़े, परन्तु फिर भी वे एक सहृदय कलाकार के रूप में अपने पाठकों को प्रभावित करते हैं। 'शेखर' के कथा-शिल्प के संयोजन में लेखक सजग है।

चरित्र-चित्रण

अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री 'जॉयस कैरी' के अनुसार किसी भी समाज

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (दूसरा भाग)—पृष्ठ २४४, २. भूमिका—पृष्ठ ८

में प्राचीन परम्पराओं तथा रूढ़ियों की पर्तें उसके अधिकांश सदस्यों के मन पर चढ़ती रहती हैं। इसी प्रकार समाज के विकास के साथ-साथ 'प्रेजुडिस' को भी जन्म मिलता है। इस 'प्रेजुडिस' पर विजय पाने के लिये जिस व्यापक सहानुभूति की आवश्यकता होती है, उसे एक उपन्यासकार ही दे सकता है। 'ग्राहम ग्रीन' ने भी उपन्यास की इस 'अतिरिक्त आयाम सहानुभूति' की चर्चा की है। 'एलिजाबेथ बोवेन' के मतानुसार इस 'अतिरिक्त आयाम सहानुभूति' के बिना उपन्यास का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। 'टाल्स्टाय' द्वारा बहु-प्रचारित सिद्धान्त 'पाप से घृणा करो, पापियों से नहीं' आज भी उपन्यास-रचना का मूल-मन्त्र माना जाता है। 'जॉयस कैरी' के अनुसार तो यह उपन्यास-लेखक की एक बड़ी जिम्मेदारी है कि वह लोगों के भावुक मन पर चढ़ी हुई इन पर्तों को (परम्परा, रूढ़ि, अन्धविश्वास एवं 'प्रेजुडिस' की) बहुत सावधानी के साथ, बिना उन्हें किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाये हुए, धीमे-धीमे तोड़े। जब तक ये बहुत दिनों की जमी हुई पर्तें टूटेंगी नहीं, तब तक उन्हें कोई नवीन तथा स्वस्थ दृष्टि नहीं दी जा सकती। 'जोन्स' महोदय के अनुसार तो सत्य का वास्तविक अन्वेषण उपन्यास के अतिरिक्त साहित्य के अन्य किसी भी माध्यम द्वारा सम्भव नहीं—'तथ्य की बात यह है कि सत्य तक पहुँचने के लिये उपन्यासकार की दृष्टि ही एक मात्र सहारा है!' 'डेविड कॉपरफील्ड', 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' तथा 'मैदाम बोवेरी' जैसे उपन्यासों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि डिकेन्स, डास्टाएव्स्की तथा फ्लॉबेयर जैसे कलाकार सत्य के कितने महान् अन्वेषक रहे हैं। सत्य का अन्वेषण भी कभी समाप्त नहीं होता, 'और इसीलिये उपन्यासकार कभी इस बात का अनुभव नहीं करता कि प्रत्येक बात कह दी गई है अथवा सत्य का कोई भी पहलू अन्तिम निश्चय के साथ अनावृत्त कर दिया गया है।'[१]

'शेखर : एक जीवनी' के लेखक 'अज्ञेय' का भी मुख्य प्रयत्न 'सत्य का अन्वेषण' एवं अपने पात्रों को 'अतिरिक्त आयाम सहानुभूति' देने का दृष्टिगत होता है। इसी को कुछ हिन्दी के 'आचार्य समीक्षक गण' दोष मान बैठे हैं। क्योंकि इन पंडितों के लिये केवल 'शास्त्र-वचन' ही ब्रह्म-वाक्य है। अपने मुख्य पात्र 'शेखर' के प्रति लेखक की जो प्रबल आसक्ति (attachment) मिलती है, इससे कहीं 'संयम' को ठेस भले लग जाय, परन्तु इसे चरित्र-चित्रण का दोष कदापि नहीं माना जा सकता। इसी भाव-सम्बलता ने मुख्य पात्र शेखर एवं शशि को 'अग्नि-शक्ति' प्रदान की है। इस उपन्यास की मुख्य विशेषता—पात्रों का चरित्र-चित्रण है। चरित्र-चित्रण के प्राचीन साँचे एवं मान-दंड टूट गये हैं। एक नया 'प्रकार' (type) है। पात्रों के जीवन में बाह्य-संघर्ष से अधिक मानसिक-संघर्ष मिलता है। घटना की अधिकता नहीं है। भावों (emotions) का उतार-चढ़ाव एवं संघर्ष व्यापक रूप

१. 'आलोचना'—अक्तूबर १९५४—पृष्ठ ४७-४८

से चित्रित किया गया है। एक क्षण के 'सत्य' को वर्षों के सत्य से अधिक महत्त्व दिया गया है। चरित्र की नयी भंगिमाओं (shades) से हमारे पुराने विश्वासों को तनिक ठेस भी लगती है। परन्तु केवल इसी कारण इसे बुरा समझ लेना, 'अनैतिक' कह देना—दिमाग का दिवालियापन कहा जायेगा, विशुद्ध आवेश होगा। सभी चरित्रों के पीछे 'मनोवैज्ञानिक सत्य' भी प्रकट-अप्रकट ढंग से प्रदीप्त मिलता है, जिससे खीझकर कुछ लोग 'शेखर' के मुख्य-पात्रों को मनोविश्लेषण शास्त्र के नियमों का उदाहरण मान लेते हैं।

इस उपन्यास का मुख्य-पात्र 'शेखर' है और उसके जीवन में आनेवाले प्रभावित करनेवाले कुछ लोग हैं। सभी पात्रों का शेखर के बनने-टूटने में थोड़ा-बहुत हाथ है। एक-दो पात्र तनिक शेखर से प्रभावित भी होते हैं। अतएव केवल 'शेखर' के चरित्र को जानकर ही, हम प्रायः सभी पात्रों से कुछ-न-कुछ परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार नारी-पात्राओं की बड़ी भीड़ के बीच केवल 'शशि' ही एक प्रमुख पात्रा ऐसी है, जो खुद टूटकर, बिछकर भी शेखर को खड़े रहने का साहस प्रदान करती है। अतएव 'शेखर' एवं 'शशि' के चरित्रों पर हम आगे चलकर, विस्तृत रूप से अलग-अलग विचार करेंगे। यहाँ संक्षेप में उपन्यास के कुछ अन्य पात्रों का परिचय दे देना उचित होगा।

शेखर के माता-पिता

शेखर के पिता लम्बे कद के, गौर वर्ण, गठे हुए और उद्यमी शरीर के थे। वे उदार थे, परन्तु एक-दो बार चोट खाकर वे शक्की स्वभाव के हो गये थे। वे स्वयं ईमानदार थे परन्तु सारे संसार को बेईमान समझते थे। वे बल और सामर्थ्य को आदर की दृष्टि से देखते थे। एक ओर वे 'साहब' कहलाना अच्छा समझते थे तो दूसरी ओर 'आर्यत्व' के अभिमान ने उन्हें कभी हैट नहीं पहनने दिया। वे सदा पगड़ी ही बाँधते रहे। एकबार उन्होंने एक कुली को इसलिए पीट दिया था कि उसने उन्हें 'साहब' न कहकर 'बाबू' सम्बोधन कर दिया था। 'ये लड़के मेरे हैं, मेरे ही हैं, नितान्त मेरा अधिकार है इन पर' यह भाव उनमें सदा रहता था। उनके जाने अच्छी या बुरी, उचित या अनुचित, कोई बात नहीं थी—बातें थीं दो प्रकार की, एक जिनके लिये उनकी अनुमति है, दूसरी जिनके लिये अनुमति नहीं है। बस, इसके आगे न तर्क था, न बुद्धि!'[1]

अपने बच्चों के प्रति कठोर अनुशासन रखते हुए भी वे अन्ततः उदार थे। लड़कों को अच्छी तरह पीटकर दो मिनट बाद यह कह सकते थे—'कुछ हो, हमारे लड़के औरों से हजार अच्छे हैं।'

शेखर की माँ मँझले कद की थीं, स्थूलकाय, कुछ आलसी स्वभाव की। अधिक पढ़ी-लिखी न थीं और पढ़ाई के लिए उनके मन में बहुत आदर भी न था। 'माँ और

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ १२२,

पिता व विरोध का एक स्रोत यह भी था। माँ चाहती थी कि लड़के फुर्तीले, चालाक, टिट-फिट हों, और पिता को इसमें एक ओछापन दीखता था'''माँ को रुचता था कि लड़के इधर उधर मिलें, हरेक की बात जानें, पता रखे कि फलाने को कितनी तनखाह मिलती है, फलाने के घर में क्या पका, फलाने की भौजाई का फुफेरा भाई क्या करता है; पिता कहते थे कि तुम किसी के घर मत जाओ, किसी से बात मत करो, और इस सबसे तुमको क्या ?'[1]

माँ न उदार थीं न क्रोधी। वे कभी आपे से बाहर न होतीं, परन्तु कभी किसी अपराध को वे भूलती भी न थीं। पिता आवेश में आततायी थे, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय। पिता का क्रोध जब बरस जाता था; तब शेखर जानता था हम फिर सखा हैं. माँ जब कुछ नहीं कहती थीं तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है। और इन दो भिन्न प्रकृतियों के मेल और संघर्ष से उत्पन्न हुई थीं छः सन्तानें—सरस्वती, ईश्वरदत्त, प्रभुदत्त, शेखर, रविदत्त, और चन्द्र ! शेखर के शब्दों में—'यदि माता-पिता अपना बचपन याद भर रख सकते तो उनकी सन्तान और वे स्वयं, कितने सुखी होते।'[2]

शेखर के माता पिता में यदि तनिक तनाव था तो उतना ही अधिक प्यार भी था। एक दिन जब शेखर की माता रूठकर घर से चली जाती है, उसके पिता अपना संतुलन खोकर, दुःख से 'बावले' हो उठते हैं। अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद शेखर के पिता एकदम बदल जाते हैं। उसकी याद में बेढम ढंग से रोते हैं, जिसमें माँ से घृणा करनेवाला शेखर भी अपने अन्दर कहीं बहुत गहरे दर्द का अनुभव करने लगता है। पिता कहते भी हैं—'अब क्या खाना—मेरा खाना-पीना तो उसी के साथ गया।'[3]

दोनों का चरित्र-चित्रण बहुत स्पष्ट ढंग से किया है। शेखर की माता 'टाइप' अधिक हैं और पिता में वैयक्तिक स्पन्दन अधिक है।

शेखर के जीवन में आनेवाली कुछ प्रमुख नारियाँ

शेखर के जीवन को तीन नारियाँ बहुत अधिक प्रभावित करती हैं—शशि, शारदा एवं सरस्वती। इसके अतिरिक्त उसके जीवन में मिस प्रतिभा, शीला, फूलाँ, सावित्री, शान्ति, मणिका, नौकरानी आदि भी अपनी छाप छोड़ जाती है। मिस प्रतिभा लाल, शेखर के जीवन में जंगल की घास के बीच, तितलियों, बाँस के फूल तथा मधु के साथ आती है और 'विलायती सभ्यता' के नाम पर व्यंग कर, उसके अभिमान को ठेस पहुँचाकर सदा के लिये चली जाती है। शेखर से उसका सख्य तक स्थापित नहीं होता। 'शीला', शेखर की शिष्या थी परन्तु उसके लिये शेखर बड़े भाई सदृश था। 'फूलाँ' एक निम्न जाति की विधवा लड़की थी और शेखर की पड़ोसिन

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ १२३, २. वही—पृष्ठ १२५, ३. वही (भाग २)—पृष्ठ १३५।

थी। 'सावित्री' की आँखें भैंगी थी, मस्तिष्क भी कुछ विकारग्रस्त, पागल सा था। अपनी सरलता के कारण उसने शेखर को अपनी ओर आकर्षित किया। 'शान्ति', तपेदिक से आक्रान्त एक नवयुवती कन्या थी जो बड़े धैर्य से मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही थी। शेखर के जीवन में शान्ति की मृत्यु एक करुण स्मृति बन जाती है। लेखक ने इस मृत्यु के द्वार पर खड़ी कन्या का अत्यंत प्रभावशाली चित्र खींचा है, जो अनायास पाठक के मन के कोमल तारों को हिला देता है। 'मणिका' ने ऑक्सफोर्ड और पेरिस में शिक्षा पाई थी। अंग्रेजी साहित्य में विशेष रुचि थी। नई शिक्षा के रंग में रंगी, विलास के सागर में डूबी भारतीय नारी का यह व्यंजक चित्र है, जो पुरुषों का संग्रह कर अपना विनोद करती है। वह अपने चरित्र के सम्बन्ध में स्वयं कहती है—'मेरी बाती दोनों सिरों से जल रही है, वह रात भर नहीं रहेगी...। (My candle burns at both ends, It will not last the night)'[1]

'सरस्वती' शेखर की बड़ी बहन है। शेखर के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सचिव एवं संगिनी थी। उसने शेखर को जी भर अपना प्यार दिया! माता-पिता से भी अधिक शेखर को सरस्वती से स्नेह मिलता है। 'शारदा'—शेखर की वयःसन्धि काल की प्रेमिका है। शर्मीले शेखर के मन पर, शारदा के प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर गहरी ठेस लगती है। शारदा उसके शर्मीले स्वभाव पर कठोर व्यंग करती है ('Good gracious, such a big silly boy like you?') धीरे-धीरे परस्पर आकर्षण एवं परिचय बढ़ता है। प्रतीक्षा भी की जाती है और परीक्षा भी। गीताञ्जलि का पाठ भी होता है। आँसुओं और अरमानों के साथ शारदा विलग हो जाती है। बहुत दिनों बाद वयस्क शारदा और शेखर मिलते हैं। शारदा का प्यार मैला नहीं पड़ता। वह शेखर को प्रतिज्ञा से बाँधना चाहती है—'वचन दो कि अपने जीवन से ऐसा खिलवाड़ नहीं करोगे—उसे खतरे में नहीं डालोगे—'![2] शेखर के उतावलेपन से त्रस्त शारदा, उसका दिल तोड़कर, उससे सदा के लिये विदा लेने से पूर्व कठोर शब्दों में कहती है—'तुम्हें? प्यार? मुझे खेद है कि मैंने तुमसे कभी बात भी की!'[3]

शशि को छोड़कर, इस उपन्यास की उपर्युक्त प्रमुख नारी पात्राएँ हैं, जिनका सांकेतिक चरित्र-चित्रण मिलता है। दो एक पात्राओं को छोड़कर, शेष केवल प्रतीकवत् लगती हैं। लेखक का उद्देश्य न केवल उनके वैयक्तिक चरित्र को उभारने का है, न वर्गीय। उन पात्राओं का केवल इतना ही महत्व है कि प्रकट-अप्रकट रूप से किस प्रकार और कहाँ-कहाँ, शेखर का जीवन-वीणा के तारों को हलका स्पर्श देकर वे अलग हो जाती हैं। अपने उद्देश्य में लेखक पूर्णतः सफल हुआ है और कलात्मक दृष्टि से यह अच्छा ही है कि प्रत्येक चरित्र के जीवन मरण की गाथा के तथ्यात्मक विवरण से उपन्यास की चर्चा को नहीं बढ़ाया गया है।

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २) पृष्ठ १८, २. वही (भाग १)—२४०, ३. वही (भाग १)—पृष्ठ २४५।

उपन्यास के कुछ प्रमुख पुरुष-पात्र

शेखर के अतिरिक्त उपन्यास में कुछ इने-गिने पुरुष-पात्र हैं। वे सभी प्रतीक-वत् हैं। उनका विकास नहीं दिखाया गया है। 'कुमार' मद्रास में शेखर का सहपाठी था। शेखर की सरलता से उसने अपनी स्वार्थ-तृष्णा की तृप्ति की। मनचाहे रुपये भी प्राप्त किये और अन्त में उसे धोखा दिया। उसका शत्रु बन बैठा, उसके विरुद्ध विष-वमन करता फिरता। कालेज में ऐसे स्वार्थी-मित्रों की कमी नहीं रहती। 'सदाशिव' अछूत होते हुए भी सहृदय है। शेखर का अन्त तक साथ देता है और मित्रता के दायित्व का निर्वाह भी करता है। वह शेखर से पूछता भी है—'शेखर, मुझे बताओ, तुम्हें क्या दुःख है ?'[1]

शेखर को कारावास में यन्त्रणा सहते हुए, कुछ विलक्षण व्यक्तियों को जानने-पहचानने का सुअवसर प्राप्त होता है। 'बाबा मदनसिंह' का सारा जीवन ही सींखचों के पीछे पलता है। दर्द की आँच में पलकर, अनुभव के मोती, आँसुओं से सींचकर उसने प्राप्त किये। 'मोहसिन' के मीठे गले के पीछे उसका दृढ़ चरित्र भी था। बेंत की चोटें एवं उल्टी खड़ी हथकड़ी तथा क्षय का भीषण रोग भी उसके दृढ़ निश्चय को नहीं डिगा पाता। वह टूट गया लेकिन झुका नहीं। फाँसी की सजा हँसते हुए झेल लेनेवाला 'रामजी' अपने प्रति पूर्णतः ईमानदार है।

शशि के पति 'रामेश्वर' का चरित्र चित्रण बहुत ही जीवन्त एवं व्यंजक ढंग से चित्रित किया गया है। प्रथम भेंट के अवसर पर ही वह शेखर के प्रति जिन विशेषणों का प्रयोग करता है, उनमें उसकी क्षुद्र ईर्ष्या-भावना सहज ही प्रकट हो जाती है—'मैं तो कहता हूँ कि ऐसे वीर पुरुष के दर्शन करना भी सौभाग्य से ही मिलता है। आप तो त्यागी महात्मा हैं !'····'आप जरूर यहीं रहिए, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, और शशि को तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी बात कहती रहती है—।'[2] शंकालु रामेश्वर को शशि और शेखर का मिलन फूटी आँख भी नहीं भाता। शशि जब एक रात शेखर के यहाँ रहकर लौटती है तो शंकालु पति रामेश्वर बर्बर हो उठता है। अमानुषिक ढंग से शशि को पीटता है एवं ठोकरें मारकर निकाल देता है। शेखर जब इस अत्याचार का प्रतिवाद करता है, तो उसके गालों पर भी एक तमाचा जड़कर पूछता है— 'बेहया, पैरवी करने आया है—तेरे पास गई नालिश लेके—निकल जाओ मेरे घर से—तुम्हारी क्या लगती थी वो—!'[3] रामेश्वर पढ़ा-लिखा होकर भी, पत्नी से पशुवत् व्यवहार करता है क्योंकि उसकी रगों में प्राचीन संस्कारों एवं रूढ़ियों का सड़ा हुआ खून बहता है।

'अमोलक राय' उत्साही धर्म-सुधारक तो हैं परन्तु स्वार्थ के वृत्त के बाहर नहीं। सम्पादक एवं प्रकाशकों का चरित्र भी उस वर्ग की अपनी परम्परागत विशेष-

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ २४२, २. वही (भाग २)—पृष्ठ १०७-१०८, ३. वही (भाग २)—पृष्ठ १७७।

ताओं के अनुरूप ही चित्रित हुआ है। रामेश्वर के पिता का उल्लेख इसी अर्थ में महत्वपूर्ण कहा जा सकता है कि उनके द्वारा लेखक ने कुशलतापूर्वक, उनकी पीढ़ी के लोग कम्युनिस्टों के प्रति क्या विचार रखते हैं, इसे प्रकट किया है। संभवतः इस कथन में सत्य भी कहीं छिपा हो—'यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया है, भले घर में कोई घुसने नहीं दे, कम्युनिस्ट तो औरत को साझामाल मानते हैं, नास्तिक! इनका तो काम ही है लड़कियों को बरगलाना और सुधार के नाम पर रंडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते हैं, पैसा पास नहीं होता, सस्ता तरीका यही है। पहिले बहिन, फिर कामरेड, फिर रंडी। किसीका घर बिगड़े, इन्हें क्या—इन्हें तो रंडी मिलती है—भले घर की, जवान और मुफ्त।'[1]

शेखर

अनेक सूक्ष्म बिन्दुओं के योग से शेखर का चरित्र समझा सकता है। बारीक रेखाओं के ताने-बाने में पाठक को उलझाता भी है और आकर्षित भी करता है। शेखर के जीवन का लम्बा चित्र मिलता है। शेखर को हम आत्मकेंद्रित अधिक पाते हैं। शेखर समाज को तोड़ना चाहता है, बदलना नहीं चाहता। वह विद्रोही है एवं उसका विद्रोह 'ध्वंसात्मक' भी कहा जा सकता है। वह क्रान्तिकारी नहीं है, क्योंकि क्रान्तिकारी समाज को बदलना चाहता है, नष्ट नहीं करना चाहता। विद्रोही शेखर का चरित्र अत्यंत महत्वपूर्ण है, कथा से भी अधिक! परिस्थितियाँ ही शेखर को विद्रोही बनाती हैं।

जीवनी के प्रथम भाग में शेखर अपने बाल्यकाल की छोटी-छोटी घटनाओं की भी जाँच करता है। वह अनन्त जिज्ञासा से पूर्ण है। माता-पिता उसकी भावनाओं को नहीं समझते। फलतः शिशु मन में 'आदर' के स्थान पर 'भय' जन्म लेता है। उसके मन में 'घृणा' भी जगती है। माँ शेखर के प्रति अपना अविश्वास, उसके पिता पर प्रकट करती है। शेखर खाना भूल जाता है, कमरे की सूनी दीवारों को सुनाकर अपना रोष शान्त करता है—'आई हेट हर, आई हेट हर।' (मैं उससे घृणा करता हूँ!) अपने दिल का उफान इन शब्दों में प्रकट करता है—'अच्छा होता कि मैं कुत्ता होता, चूहा होता, दुर्गन्धमय कीड़ा-कृमि होता—बनिस्बत इसके कि मैं वैसा आदमी होता, जिसका विश्वास नहीं है...!'[2]

एक सम्पूर्ण और आदर्श विद्रोही को उत्पन्न करके ही एक समूची शताब्दी, बल्कि एक समूची संस्कृति सफल हो जाती है। और शेखर की 'विद्रोही-प्रेरणा धर्म के, समाज के, राजसत्ता के, अर्थसत्ता के, और अन्त में अपने व्यक्तित्व के प्रति विद्रोही है!'[3] शेखर स्वयं अनुभव करता है—'मैं नया हूँ, अपूर्व हूँ। मेरे जीवन का एक क्षण

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २) पृष्ठ १७८, २. वही—पृष्ठ २६, ३. वही—पृष्ठ २९।

भी पहले कभी नहीं हुआ। मैं एक नयी वस्तु हूँ, एक नयी प्रतिज्ञा हूँ जिसे भविष्य पूरा करेगा, एक शिक्षा हूँ जो भविष्य के लिए रह जायेगी।"[1]

शेखर ब्राह्मण-कुल में जन्म ग्रहण करता है। पुरोहित एवं भिक्षु ने अपने मनोनुकूल आशीर्वाद दिये। पिता ने इंजीनियर के रूप में शिशु के भविष्य की कल्पना की, माँ ने बैरिस्टर का स्वप्न बाँधा। इस प्रकार बोध होने से पूर्व ही बालक का जीवन एक रूढ़ि में बँध गया, वह बिक गया। इसलिये शेखर सोचता है—'कहते हैं मानव अपने बन्धन आप बनाता है, पर जो बन्धन उत्पत्ति के समय से ही उसके पैरों में पड़े होते हैं और जिनके काटने भर में अनेकों के जीवन बीत जाते हैं, उनका उत्तरदायी कौन है?'[2]

चीन में छोटे पैरोंवाली कन्या सुन्दर समझी जाती है। अतएव माता-पिता अपनी कोमल बच्चियों के मुलायम पैरों में साँचे सा कठोर जूता, बचपन में ही कस देते हैं, जिससे आजन्म पाँव छोटे ही रहें। बालिका को इसमें असह्य पीड़ा भोगनी पड़ती है, परन्तु माता-पिता को साँचे में ढले पाँव ही रुचते हैं। वैसे ही हमारे देश में हर माता-पिता के कुछ स्वयं निर्मित साँचे हैं, जिनके फ्रेम में कसकर वह बालक के आत्म-विकास को अवरुद्ध कर देते हैं। यदि किसी ने उस साँचे में कसे जाने का विरोध किया, तो फिर उसे सब अविश्वास की जलती ईर्ष्यालु आँखों से देखते हैं, उसको नालायक समझ बैठते हैं।

शेखर के निर्माण के पीछे तीन आधारमूलक तत्व हैं—१. भय, २. काम और ३. अहं की प्रवृत्ति। शिशु शेखर ने अनुभव किया कि डर सदा डरने से होता है, और उस दिन से वह एकदम निर्भय बन गया। कदाचित् इसी कारण उद्धत शेखर विध्वंसक भी बन सका। उसने यह भी जान लिया कि 'डर' पर ही समाज का अस्तित्व टिका है। काम या 'सेक्स' की भावना जिस रूप में हम शेखर में पाते हैं, उस पर अनेक आक्षेप किये गये, नैतिकता की दुहाई भी दी गई। लेकिन यह भी मानव की एक स्वाभाविक वृत्ति है। शेखर में 'अहं' की मात्रा कुछ अधिक है, क्योंकि उसे कुटुम्ब, समाज, शासन किसी की पर्वाह नहीं है, वह किसी पर आश्रित भी नहीं है। वह समाज की बनी बनायी सड़क को छोड़कर पगडण्डी स्वयं बनाना चाहता है। इसीलिए समीक्षकों को शेखर का यह बड़ा दोष लगा। नगेन्द्र उसे 'भयंकर', इलाचन्द्र जोशी—'घोर' और प्रभाकर माचवे 'उद्धत' अहवादी बतलाते हैं। शेखर में आत्म-विश्वास आवश्यकता से अधिक है, उसे 'अहम्' की संज्ञा देना गलत होगा।

शिक्षा के कुसंस्कारों को शेखर अध्यापक के रूप में देखता है। हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति भी अत्यंत दोषपूर्ण है। हृदयहीनता से व्यक्ति को व्यक्तित्वहीन बनाकर, 'टाइप' के रूप में टोक-पीटकर निर्मित किया जाता है। शेखर को स्कूल से

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—पृष्ठ ३८ २. वही—पृष्ठ ४८।

अधिक अपनी बहिन की शिक्षा नैसर्गिक एवं महत्वपूर्ण लगी। बुद्धिवादी शेखर को लगा कि यहाँ उसके व्यक्तित्व को किसी 'शिकंजे' में घुटकर पिसने का खतरा नहीं है। इसीलिये छः वर्ष का बालक शेखर एक पुस्तक लिखने का हौसला करता है। बहन से थोड़ा सहयोग प्राप्त कर पुस्तक समाप्त करता है। लेकिन पुस्तक को दीमक तथा कीड़े खा जाते हैं। शेखर कविता भी कर सकता है, वह भी अंग्रेजी में—'My teacher's name is Mister Gass' If G is gone then he is an ass !'[1] (मेरे गुरु का नाम मिस्टर 'गैस' है, यदि 'G' हटा दिया जाय तो वे 'ऐस'—गधा हो जायेंगे।)

इस मौलिक प्रयत्न के बदले उसे पिता के कठोर चाटें सहने पड़े, अध्यापक भी छोड़कर भागे। जिज्ञासा तो प्रत्येक बालक में होती है, परन्तु शेखर में वह असाधारण रूप में मिलती है। वह हर बात की तह में पहुँचना चाहता है—यह असाधारणता एकदम 'अद्‌भुत' है। शेखर अपनी माँ से पूछता है—'माँ तुम कब मरोगी?' वह बहिन से पूछता है कि 'मरना क्या होता है?' वह आया जिन्तिया से पूछता है—'बच्चा कहाँ से आया? कैसे आया? कब आया? कौन लाया?' वह ईश्वर, प्रकृति, सौन्दर्य सबको जानना पहचानना चाहता है। कोई उसका सहायक नहीं, कोई उसे बताता नहीं। सभी छिपाना चाहते हैं। कदाचित् इसीलिये—'शेखर का जीवन बहुत सूना हो गया था। और इसीलिये जीवन में जो कुछ आता था, वह मानो उसके रस की अन्तिम बूँद तक निचोड़ लेना चाहता था। हँसी की बात होती तो आवश्यकता से अधिक हँसता था, घूमने निकलता, तो पागल कुत्ते की तरह दौड़ता था, लड़ता तो लड़ाई का कारण भूल जाने पर भी विरोध बनाए रखता···उसके जीवन में इससे एक झूठी तेजी आ गई थी, गति का एक भ्रम, जब कि वास्तव में वह निश्चल खड़ा था!'[2]

गाँधी से प्रभावित शेखर, न केवल 'गाँधी का बोलबाला! दुश्मन का मुँह हो काला!' नारा लगाकर ही अपना उत्साह प्रकट करता है, वरन् घर के सारे विदेशी कपड़े बटोर कर उनमें आग लगा देता है। स्वयं भी देशी मोटे कपड़े धारण करने लगता है। उसके मन में विदेशी मात्र से घृणा हो जाती है। वह पिता के आदेश के विपरीत भाइयों से तथा अन्य किसी से भी हिन्दी में ही बातें करता। अंग्रेजी नहीं बोलता। गाँधी के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिये, वह एक राष्ट्रीय नाटक लिखता है। उसमें लोकतन्त्र भारत का विराट स्वप्न वर्णित है। शेखर गाँधी की शिक्षा का मूलतत्व पिता के समक्ष प्रकट कर देता है—! पिता पूछते हैं—'कोई तुम्हारे गाल पर एक थप्पड़ लगाए तो क्या करोगे?' शेखर निःसंकोच उत्तर देता है—'दूसरा गाल आगे कर दूँगा!'[3] उसके पिता अपने परिचितों के समक्ष उसे

१. 'शेखर : एक जीवनी'—पृष्ठ ७७, २. वही—पृष्ठ १०७, ३. वही—पृष्ठ १२७।

बुलाकर सदा यही प्रश्न पूछते। शेखर इस प्रदर्शन से कुछ चिढ़-सा गया। अतएव वह उत्तर देता है—'मैं उसके दोनों गालों पर लगाऊँगा।' और इसी उत्तेजना में जाकर वह अपना मौलिक नाटक, गाय के मुँह में डाल देता है, जिसे वह चबा जाती है।

वह जीवन से प्यार करता है, मरना नहीं चाहता। वह अनुभव करता है—'ज्ञान के पथ में सबसे बड़ा विघ्न—ईश्वर !'[१] शेखर में परिवर्तन होता है। वह चोरी करने लगा। वह किसी न किसी प्रकार कुछ नुकसान करना चाहता, बुरा बनना चाहता। छिपकर वर्जित पुस्तकें पढ़ता। वह चुगलखोर भी हो गया। शेखर को छोटे भाई चन्द्र की दृढ़ता से ठेस लगती है। वह पुनः बदलता है। अपनी बड़ी बहिन की पूजा करता है। शेखर अपने पिता का भी उपासक था, केवल माँ से उसे घृणा हो गई थी। सरस्वती की शादी होती है। शेखर के मन में बिछुड़ते हुए एक हलचल मच जाती है। बीमारी से उठकर शेखर में कुछ और परिवर्तन हो जाता है। वह अकारण रोने लगता है। वह घर से भागता है। रोटी की भूख उसे सौन्दर्य के स्रोत जलप्रपात से खींचकर घर ले आती है। वह वयःसन्धि की अवस्था थी। शेखर को लगता उसके शरीर में कोई परिवर्तन हो रहा है…'और वह अपने ही मद से उन्मद कस्तूरी मृग की तरह, या प्लेग से आक्रान्त चूहे की तरह, या अपनी दुम का पीछा करते हुए कुत्ते की तरह अपने ही आसपास चक्कर काटकर रह जाता…।'[२]

अंग्रेजी द्रोही शेखर उस मानसिक दशा में, अंग्रेज कवियों की प्रेम-विषयक कविताओं से स्नेह करने लगा। उसने अनुभव किया कि वह ऐसा अभागा व्यक्ति है, जो प्रेम तो करता है परन्तु जानता नहीं कि किससे ! शेखर के जीवन में इस अवस्था में बिजली की भाँति थिरकती हुई एक नारी आती है—शारदा ! और उस प्रथम-मिलन वेला में, शेखर को अपने में अनेक कुरूपताएँ एवं दुर्बलताएँ जीवन में पहली बार दृष्टिगत हुईं। विद्रोही शेखर जो अब तक घृणा में पलता आया था, अब प्रेम करने लगा। शेखर अब शारदा की प्रतीक्षा करता है। वह शारदा को 'गीताञ्जलि' पढ़कर सुनाता। वह खोई हुई सुनती रहती…'जिस दिन शतदल खिला, उस दिन मैं अनमना था, मैंने नहीं जाना…!' (On the day the lotus bloomed, alas, my mind was straying, and I knew it not...!)[3] शेखर उसके केशों में अपनी नाक दबाकर, नये मधुमास में नीम के बौर सा सौरभ सूँघता है। लाहौर में शशि का सामीप्य पाकर भी वह 'शारदा' को नहीं भूलता। लेकिन जब वह पुनः दक्षिण लौटता है, शारदा के परिवार के सदस्य, वह स्थान छोड़ कहीं और जा चुके होते हैं। बहुत दिनों बाद फिर शारदा से उसकी भेंट होती है। वह शारदा से कहलाना चाहता है कि वह उसे प्यार करती है। वयस्क शारदा का वयःसन्धि का ज्वार

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ १२५, २. वही—पृष्ठ १५५, ३. वही—पृष्ठ १७८।

अब ठंडा पड़ चुका है। वह उसका हाथ छुड़ाकर सदा के लिये उससे दूर चली जाती है। क्षुब्ध शेखर, शारदा और शारदा के देश से भींगी आँखों से विदा ग्रहण करता है। वह अनुभव करता है कि वह उच्छिष्ट है। इसलिये यदि शारदा उसे स्वीकार नहीं करती, तो आश्चर्य क्या ?

शेखर के नाम का पहला अक्षर 'एस' (S) से प्रारम्भ होता है। उसके जीवन में जितनी नारियाँ आती हैं, सभी के नामों का प्रथम अक्षर 'एस' ही है। 'शीला' जिससे शेखर को कोमलता प्राप्त हुई, 'शान्ति' जिससे उसे वेदना और पीडा का अनुभव हुआ, 'सरस्वती' जिससे बहन का प्यार मिला, 'शारदा' जिससे उसे वयःसन्धि के उस कोमल अवसर पर प्यार का एक आधार प्राप्त हुआ और 'शशि' जिसके प्रेम के प्रकाश में शेखर को संघर्ष की शक्ति प्राप्त हुई, सभी के नामों में एक विचित्र अनुप्रास मिलता है।

शेखर बहुत जिद्दी स्वभाव का था। मद्रास के कालेज-जीवन में वह 'कुमार' से अत्यधिक प्यार करने लगा था। वह उससे स्पष्ट कहता है—'कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसीके हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूँगा।'[1] शेखर इसी प्रकार सबसे प्यार माँगता ही रहा है, प्यार देना उसने जाना ही नहीं।

श्री शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामेश्वर शर्मा आदि प्रगतिवादी आलोचकों के अनुसार शेखर 'असामाजिक प्राणी' है। लगता है हर 'गैर कम्युनिस्ट' असामाजिक प्राणी होता है। शेखर, उपन्यास के इन दो खंडों में कम्युनिस्ट नहीं बन पाया है, संभवतः तृतीय खंड प्रकाशित होने के समय तक, इन आलोचनाओं से त्रस्त लेखक, उसे कम्युनिस्ट लबादा पहनाने को बाध्य हो जाय ! (परन्तु यह शेखर और उसके प्रशंसकों के प्रति गहरा अन्याय होगा !) और तब शायद अपने परिवर्तित रूप में वह इन आलोचकों को संतुष्ट कर सके।

वस्तुतः विद्रोही शेखर का चरित्र विकासशील है। वह असामाजिक भले प्रतीत हो, अमानवीय नहीं है। वह अछूतों से प्रेम करता है। उनकी सेवा करता है। वह बच्चों को साक्षर बनाने का प्रयत्न करता है। ब्राह्मण-पुत्र शेखर का यह अछूत प्रेम अत्यंत मानवीय है। शेखर का देश-प्रेम, कांग्रेस स्वयसेवक बनने के बाद अनुशासन-प्रेम एवं निरपराध बंदी बन जाना भी उसकी चारित्रिक गरिमा को बढ़ाते हैं। शेखर का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, सामाजिक कुंठाओं का परिणाम है। माँ की मृत्यु के बाद, भूख और बेकारी से लड़ता शेखर, प्रकाशक एवं सम्पादकों के निकट संसर्ग में आता है। वे शेखर के 'लेखक' को या तो क्रय कर लेना चाहते हैं या मार डालना। परन्तु उसका व्यक्तिवाद ही यहाँ उसकी ढाल बन उसकी रक्षा करता है। वह समाज से कटा हुआ रहने लगता है। उसका विद्रोह, विवेक और विज्ञान पर आधारित न होकर, नियति पर आधारित है। फलस्वरूप एक आतंकवादी दल से भी उसका सम्बंध हो

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—पृष्ठ २०९।

जाता है। उसकी इच्छा-शक्ति (Will power) अत्यंत प्रबल है। वह असाधारण ही नहीं है, वरन् उसका व्यक्तित्व अजेय है। निर्भीक शेखर के प्रत्येक कार्य में आन्तरिक मनस्विता मिलती है। उसमें देश-काल, समाज, परिवार, धर्म, जाति, व्यक्ति और नारी—सबकी छायाएँ घुली-मिली हैं।

बुद्धिवादी शेखर के चरित्र का सबसे कोमल एवं भाव-स्पर्शी पक्ष, उसका एवं शशि का प्यार है। उसके चरित्र की यह 'नयी भंगिमा' (New shade), हिन्दी साहित्य में प्रेम के क्षेत्र में अपूर्व है। शशि-शेखर जैसा प्रेम, हिन्दी-साहित्य में कहीं नहीं मिलेगा। 'शेखर' में नारी के उन अपेक्षित अंशों को दिखाया गया है, जहाँ नारी में बहन और प्रेयसी का रूप मिला-जुला हुआ है। नारी, बहन, प्रेयसी, पत्नी और माँ इन चार रूपों में पुरुष को आकर्षित एवं प्रभावित करती है। शशि-शेखर का सम्बंध, एक नयी नैतिकता है। शशि-शेखर का सम्बंध, समाज में नये शशि-शेखर की संभावनाएँ उत्पन्न करता है। शशि-शेखर की सगी बहन नहीं है, फिर भी वह उसे 'बहन' कहता-समझता रहा। अतएव बहन-भाई के इस प्यार में, जहाँ 'चुम्बन' भी वर्जित नहीं है, शंकाकुल हिन्दू-आलोचक हृदय क्षुब्ध हो उठता है। यह ठीक है कि शशि विवाहिता है। परन्तु 'तलाक' विधानतः आज स्वीकृत हो चुका है। अतएव विवाहिता नारी को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता प्राप्त है। लेकिन शशि शेखर से विवाह नहीं करती, उसकी 'पत्नी' नहीं बनती। अतएव यह सम्बंध न 'अनैतिक' (Illegal) ही कहा जा सकता है, न 'अमानवीय' (In-human) ही। उपन्यासकार अपने पात्रों से समाज की जनसंख्या बढ़ाता है। शशि, शेखर के व्यक्तित्व-निर्माण में सहायक बनती है। अश्रद्धालु शेखर भी शशि के समक्ष श्रद्धा से झुक जाता है। शशि ही शेखर को आत्महत्या से बचाती है। शेखर को शशि का प्रेम अनायास मिला। शारदा की भाँति उसके लिये उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ा। शशि उसके लिए वरदान बन जाती है एवं उसे प्यार की शक्ति प्रदान करती है। शेखर, शशि के समक्ष अपने को छोटा अनुभव कर कहता है—'नहीं, शशि मैं अनिष्ट हूँ। जो मेरे सम्पर्क में आता है, खण्डित ही होता है।'[१] शशि के समक्ष ही वह ईमानदारीपूर्वक स्वीकार करता है—'जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नहीं है उसका मर जाना तो स्वतः सम्मत है।'[२]

रामेश्वर जब शशि को मारकर घर से निकाल देता है, तब इस अत्याचार से शेखर का पौरुष जाग उठता है। वह रामेश्वर से जवाब माँगने पहुँचता है। उसकी कलाई में रामेश्वर की गर्दन होती, परन्तु शशि उसे रोकती है। शेखर कृतज्ञ है शशि के प्रति, क्योंकि—'शशि, तुमने मुझे प्यार दिया—तुमने मुझे वर दिया है······वर देने से पहले परीक्षा क्यों नहीं ली?······आजीवन मैं विद्रोही रहा हूँ, पर बराबर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ······एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २)—पृष्ठ—१२४, २. वही—पृष्ठ १६३।

यह दिखाया—बताया कि लड़ना स्वयंसाध्य नहीं है, लड़ने के लिए लड़ना निष्परिणाम है, विद्रोह किसीके विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता, पिता, अपना-आप, प्यार, कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके······तब मेरे विद्रोह को धार मिली—!······शशि मैं निरन्तर संघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ कि मैंने तुम्हें प्यार किया है······।'[१]

शेखर अपने प्रति पूर्णतः ईमानदार है। शेखर के किसी कार्य का जहाँ समाज, व्यक्ति, नीति, सदाचार से विरोध हो सकता है, वहाँ भी लेखक ने उसे सहानुभूति अवश्य दी है। शेखर न तो मनोविश्लेषण शास्त्र के नियमों का उदाहरण है और न उस पर व्यक्तिवादी दर्शन ही ऊपर से लादा गया है। उसके जीवन में सामाजिक और वैयक्तिक संघर्ष मिलते हैं। शेखर, व्यक्ति, परिवार, समाज और देश से विच्छिन्न नहीं है। उसके चरित्र द्वारा उसका बाह्य एवं मानसिक संघर्ष दिखाया गया है। शेखर का चरित्र अन्त में दुःख की छाया से बोझिल मिलता है, क्योंकि शशि की छाया भी इस संसार में नहीं रह गई। और उसके—'जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब कुछ खो दिया है।······मैं एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य······भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार—हर जगह आग देता हुआ और स्वयं ज्वाला में झुलसता हुआ, जल उठता हुआ—निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ, न बुझता हुआ, न मरता हुआ···!···देह मशाल है और उसे एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है···।'[२]

हम आशावादी हैं। इस उपन्यास का नायक 'शेखर' अभी जिन्दा है, जल रहा है। उसकी 'आग' अभी ठंडी नहीं हुई है। अतएव शेखर के बड़े से बड़े कटु आलोचक को भी तनिक धैर्य रखना चाहिए। तृतीय खंड प्रकाशित होने के बाद, शेखर के बदले और सुथरे रूप को देखकर (जैसी हम आशा करते हैं!), उसके बड़े से बड़े विरोधी की जिह्वा में भी ताले लग जायेंगे?

शशि

शशि में शेखर के प्रति अटूट आस्था एवं सौहार्द मिलता है। उसका चरित्र उपन्यास के नारी-पात्रों में सबसे सबल, आकर्षक, प्रभावशाली एवं करुण है। वह पति को संतुष्ट करना चाहती है, आत्म-बलिदान भी करके। परन्तु कठोर पति उसके स्नेह एवं विनय को जूतों की ठोकरों से उछाल देता है। शेखर अनाथ शशि को स्वीकार करता है, क्योंकि उसने जितने स्वप्न देखे थे, वे सब उसमें आकर घुल जाते थे। शशि का प्यार मन की गहराई में प्रवेश करता है। वह उच्चमना (noble) प्रेमिका है जो पति का अत्याचार सहती है और बिना किसी प्रकार के विद्रोह का उत्साह प्रदर्शित किये हुए,

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—पृष्ठ २४१-४२, २. वही—पृष्ठ २४८-४९।

अपने मूक बलिदान एवं महान् उत्सर्ग से हमारी आत्मा को रुला देती है। वह सदैव अपने प्यार से अपने प्रेमी का भविष्य बड़ा मानती है। अपनी वेदना और दुःख के लिए किसीको दोषी नहीं ठहराती। उसकी मृत्यु से पाठक को आघात लगता है क्योंकि कोई उसकी मृत्यु नहीं चाहता। इस उपन्यास का एक बड़ा आकर्षण स्वयं शशि है। वह प्रेरणामयी नारी, शेखर को आत्म-हत्या से बचाती है। वह बहन, पत्नी एवं प्रेमिका—सभी रूपों में अपने पाठकों को अत्यत प्रिय है।

शेखर के शब्दों में—"तुम जीवित नहीं हो। मेरे, शेखर के बनने में ही तुम टूट गई हो—शायद स्वयं शेखर के हाथों ही टूट गई हो। और मैं अपने मन में बार-बार यह दुहरा कर कि 'शशि नहीं है, शशि मर गई है, शशि नहीं है', भी यह समझ नहीं पाता कि क्या हुआ—अपनी क्षति का कोई अनुमान नहीं लगा सकता, कोई अनुभव नहीं कर पाता!"[1]

शशि ने शेखर को केवल पूजा ही पूजा दी है। वह उसे आलोकित करनेवाला प्रकाश थी, एक अनुभूति थी। शेखर ने शशि को पहले-पहल तब देखा था, जब वह स्वयं चार वर्ष का था और शशि तीन वर्ष की। उस दिन नहाते समय झगड़े में शेखर ने शशि के माथे पर लोटा दे मारा। खून बहने लगा। लेकिन शेखर का सहमा हुआ मुख देखकर, शशि ने माँ से झूठ ही स्वीकार कर लिया—'लोटा लग गया।... आप ही लग गया!'[2]

दस वर्ष बाद जब शेखर परीक्षा देने लाहौर जाता है, तब पुनः शशि से भेंट होती है। हँसमुख शशि ही दोनो वक्त शेखर को रोटी खिलाती। बिना उससे पूछे ही वह समय से उसे खाना दे जाती। जो चीज कम होती, शशि स्वयं दे जाती, शेखर को माँगने की जरूरत नहीं होती। शेखर उसे 'बहिनजी' कहकर चिढ़ाता, शशि को यह अच्छा नहीं लगता। वह शेखर से छोटी थी तथा छोटी ही बनकर रहना चाहती थी।

शशि के पिता के देहान्त के बाद, शेखर कुछ दिनों के लिये उस परिवार में जाकर रहता है। दुःख से अभिभूत शेखर सब कुछ भूल जाता है, पढ़ाई भी। शशि उसे सावधान करती है—'दुःख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नहीं!' 'दुःख सब जगह है। आप उसे एक ही जगह समझकर उसकी छाया में रहना चाहते हैं, और आपका जो काम है उसमें अनिच्छा दिखा रहे हैं। आप कालेज जाइये!'[3]

इसप्रकार शशि सदैव शेखर को कर्म-पथ पर आगे बढ़ने को उत्साहित करती रहती है। बन्दी शेखर को उत्साहित करते हुए शशि कहती है कि वीर कभी अपराधी नहीं होते। शशि का पत्र बन्दी शेखर को मिलता है। शशि माँ के बाद, इस बड़े संसार में केवल शेखर पर ही विश्वास करती थी। इसीलिये वह होनेवाले विवाह के सम्बंध में

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ १६, २. वही—पृष्ठ ७९, ३. वही (भाग २)—पृष्ठ ३३।

अपनी अनिच्छा का गुप्त रहस्य प्रकट करती है। शेखर की राय मानकर शशि विवाह की अग्नि में अपनी आहुति, समाज की मर्यादा के नाम पर देने को सहर्ष तैयार हो जाती है। वह लिखती है—'मैं तो विवाह के बाद चली जाऊँगी, माँ या कोई भी मेरा होम नहीं देखेगा—मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं देखेगा उसे! इस दुःख को अपने बन्धुओं के घेरे से बाहर ले जाने का यही एक तरीका है!'[१] इतनी सहनशील एवं त्यागमयी नारी थी शशि!! शशि ने ही शेखर को जीवन का अर्थ एवं उद्देश्य दिया था, वही नारी, दूसरे की पत्नी बनने से पूर्व, अन्तिम बार बहिन के पद से उसे नमस्कार करती है! कितनी मूक करुणा छिपी है, इस अभिवादन में!

जेल से लौटने पर शेखर जब शशि से मिलता है, उसमें बहुत परिवर्तन पाता है। फिर भी हर क्षण वह शेखर का ख्याल रखती है। शेखर को कुछ लिखने को प्रोत्साहित करती है। शेखर जानना चाहता है कि किसके लिये लिखूँ? वह कहती है कि मेरे लिये लिख सकते हो। वह शेखर को विवाह करने की सलाह देती है। शेखर जब खिन्न होकर पूछता है कि तुमने विवाह से क्या पा लिया, तो वह उत्तर देती है—'मेरे ब्याह की तो बुनियाद ही और है। मैंने ब्याह किया नहीं था, मेरा तो ब्याह हुआ था।'[२] शेखर तब उत्तर देता है—जो देवता देते हैं, उसके लिये शास्त्रों की भी साक्षी क्यों माँगी जाय?

समपर्ण की छाँह और रेशमी-स्पर्श द्वारा शशि शेखर को आत्म-हत्या से बचा लेती है। वह शेखर से कहती है—'मैं विवहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है। शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि—अब—कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ। मेरा जीवन न इतना मिट्टी था, न इतना हवा। सिद्धि और सम्पूर्णता नहीं है, पर मैं संतुष्ट हूँ शेखर; और सन्तोष का यह सुख तुम्हारा वरदान है।'[३]

पति ने शशि को भ्रष्टा एवं पापाचारिणी कहकर एवं मार-पीटकर घर से निकाल दिया। शेखर जब इस अन्याय से व्यथित हो रामेश्वर से बदला लेने पहुँचता है, शशि स्वयं उसे घर से निकलने का आदेश देती है। शशि अपना अपमान स्वयं मूकभाव से झेल लेना चाहती है। पति जब शशि की पीठ पर ठोकर मारता है तो वह अत्यंत विनयपूर्वक कहती है—'आपकी अन्तिम देन पीठ फेरकर नहीं लूँगी, लीजिए अब दीजिए—!'[४] प्रसाद-स्वरूप शशि के पेट में लात लगती है।

शेखर अनुभव करता है कि शशि उसके जीवन में सत्य की तरह पैठ गई है, और वह शशि के जीवन में उल्का की तरह छा गया है। शशि मानती है कि दर्द से

'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ ७९. २. वही—पृष्ठ १५५, ३. वही—(भाग २) पृष्ठ १६६-६७, ४. वही—पृष्ठ १८६।

बड़ी एक लाचारी होती है। शशि का विश्वास है कि एक दिन शेखर अवश्य बड़ा लेखक बनेगा। शशि में भी एक आग जला करती है। वह अपने भाषण में हिन्दू पुरुष समुदाय के आदर्शों की कलई खोलकर रख देती है। उनके लिये नारी केवल भोग्या है। यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है। शशि का विश्वास है कि कोई स्त्री प्यार नहीं जानती जो एक साथ ही बहिन, स्त्री और माँ का प्यार नहीं देना जानती।

'तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मैं मर जाना चाहती हूँ'—शशि की यही कामना है। शशि शेखर के आगे स्वीकार करती है—'शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया!'[1] शशि प्यार को भी एक कला मानती है जिसमें संयम की आवश्यकता होती है। वह अपने अन्तिम पत्र में शेखर को लिखती है—'तुमने कहा था कि आदर्श पर्याप्त नहीं है, आदर्शों का एक स्थूल प्रतीक चाहिये, और तब मैं प्रतीक बनने को आ खड़ी हुई थी···शेखर, उसमें अहंकार नहीं था अपना जीवन नष्ट करके—होम कर देकर, राख कर देकर—मैंने माँगा था, चाहा था कि वह तुममें फलित हो, तुममें अपनी सिद्धि पाए।···तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योंकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है—···तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर मेरे भविष्य तुम और केवल तुम थे।···' और 'उस अपने भविष्य की खोज में यदि तुम्हें मेरी याद आए तो अपने को इसलिये अपराधी मत ठहराना कि मेरे बिना तुम अकेले आगे चल सके, तुम चल सके, यह मेरी पराजय नहीं, मेरी अन्तिम विजय होगी···!'[2]

इतना बड़ा आत्मविश्वास था शशि के पास। परन्तु ईर्ष्यालु पति को प्रभावित न कर सकनेवाली शशि ही, शेखर की प्रेरणा एवं जीवनी शक्ति बन जाती है। शशि की मृत्यु से पाठक को आघात अवश्य लगता है, परन्तु शशि बहुत सुख से प्रिय की गोद में एक मंगलप्रद स्वप्न देखते हुए अपना प्राण विसर्जित करती है। शशि के जीवन की 'ट्रैजडी' पाठक को रुलाकर छोड़ती है, यही उसके चरित्र-चित्रण की अपूर्व सफलता का प्रमाण है। यदि 'शेखर' का चरित्र पूरे उपन्यास की आत्मा है तो 'शशि' का चरित्र उसका प्राण संस्थापक शरीर!

संवाद

कला की दृष्टि से यह आवश्यक है कि कथोपकथन पात्रों के चरित्र-वैशिष्ट्य के अनुकूल हो और उसमें गति हो। इस दृष्टि से संवाद का चरित्र-चित्रण से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संवाद में गति रहने से कथा के प्रवाह को सहायता मिलती है और उपन्यास की रोचकता में भी वृद्धि होती है। इस उपन्यास के संवादों में भी एक गति,

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २)—पृष्ठ २४२, २. वही—पृष्ठ २४७-४८।

एक लय मिलती है । इस उपन्यास के संवाद अत्यंत चुटीले हैं । छोटे संवादों में भी अपूर्व व्यंग मिलता है । जैसे—

शेखर ने पूछा—'जान आती कहाँ से है ?'

'ईश्वर से ।'

'जाती कहाँ है ?'

'ईश्वर के पास ।'

'ईश्वर ले लेता है ?'

'हाँ ।'

'इतनी सब जानें ईश्वर के पास गई होंगी ?'

'हाँ ।'

'जर्मनों की भी ?'

'हाँ ।'

'सब कुछ ईश्वर करता है ?'

'हाँ ।'

'तब लड़ाई भी ईश्वर ने कराई होगी ?'

'हाँ !'[१]

बालक शेखर के इन प्रश्नोत्तरों के पीछे कितना बड़ा सत्य छिपा है । यह होता है संवादों का कौशल । बड़ी से बड़ी बात को भी अत्यत सहज ढंग से कह जाना । पात्रों के सम्बन्ध को ठीक-ठीक दिखाने का आदर्श ढग संवाद ही है ! सम्वाद द्वारा पात्रों की मनोवृत्ति मूर्तिमती होती है । एकांत में शेखर और शारदा का प्रथम मिलन होता है । शारदा पूछती है—'Silly क्या देख रहे हो ?'

'उस पेड़ को देख रहा हूँ—सामने पहाड़ पर !'

'हूँ— क्यों ?'

'यों ही । अच्छा लगता है । मैं वहाँ बहुत जाया करता हूँ ।......बड़े दिनों की छुट्टियों में वहीं जाया करूँगा ।'

प्रथम मिलन की झिझक के अवसर पर, बातें इसी प्रकार 'लपेट' कर की जाती हैं । एलिजाबेथ बोवेन के शब्दों में—'सम्वाद वह सँकरा सा पुल है जिसपर से समय समय पर उपन्यास का सारा बोझ जाता रहता है । दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—(१)—पुल इसलिए होता है कि इस पर से जानेवाली वस्तु आगे बढ़े । (२)—पुल दृढ़ होना चाहिए कि बोझ को संभाल सके ।'[२]

शेखर जेल से छूटकर शशि के घर जाता है । शशि के पति रामेश्वर जिन शब्दों में अपना उल्लास एवं उत्साह प्रकट करते हैं, उनसे उनकी मनोवृत्ति शीशे की

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'—(भाग १)—पृष्ठ ८५-८६, २.'उपन्यास की रचना'—[illegible]—पृष्ठ १० ।

भाँति स्पष्ट हो जाती है। शेखर जब चलने लगता है, शशि सीढ़ियों के पास जाकर पूछती है—'देख लिया मेरा घर ?'

'देख लिया, शशि, बहुत कुछ देख लिया—!'[१]

इसी प्रकार शेखर की माता की मृत्यु का संवाद पाकर शशि उसे सांत्वना देने आती है और चलते वक्त कहती है—'धीरज से सहना भइया मेरे !'[२]

कितनी करुणा छिपी है, इन छोटे वाक्यों में। इसप्रकार हम देखते है कि इस उपन्यास के संवादों के संयोजन में अपूर्व कलात्मकता एवं सहृदयता से काम लिया गया है। शिशु शेखर की अबूझ जिज्ञासाएँ, प्रश्न बन जिन सशक्त संवादों में तैर गई हैं, वे केवल 'अज्ञेय' ऐसे सजग कलाकार की लेखिनी से ही संभव है। अतएव 'शेखर : एक जीवनी' के संवादों में भी एक ताजगी तथा अकृत्रिमता मिलती है।

भाषा-शैली

उपन्यास की भाषा अत्यंत प्रांजल एवं मधुर है। उसमें वेग है, कोमलता एवं लालित्य है। विषय के अनुरूप भाषा की गति एवं वेग में ऐसा उतार-चढ़ाव मिलता है, जिससे पूरे उपन्यास में कविता की गूँज एवं लय मिलती है। शब्द-माणिक नहीं, शब्द-कुसुमों का अधिक प्रयोग किया गया है। इसीलिए भाषा में मिट्टी की महक, फूलों की रंगीन गमक और ओस के बूँदों की सी ताजगी है। शब्दों के कुछ नये सुन्दर प्रयोग किये गये है, जैसे—'बुझते हुए स्वप्नों', 'बुड्ढे ओवरकोट', 'मीठी करुणा,' 'भूखी आँखों', 'प्यासे प्यार,' 'अन्धी उँगलियों', 'रेशमी स्पर्श,' 'धुँआले काँच सी जड़ित आँखें' आदि कुछ नये प्रकार के मुहावरे भी मिलते हैं—'शर्म गल जायेगी', 'पत्र निगलने लगा', 'सौन्दर्य खाया नहीं जा सकता' आदि ! सुन्दर उपमाएँ एवं रूपक, उपन्यास के पृष्ठों में इधर-उधर बिखरी हुई मिलती हैं।' कुछ नमूने देखिए—

'आह ! वे किरणें तो यहीं चली आ रही हैं—वे झील की काली बरौनियाँ अब क्षितिज की पलक में सुरमें की रेखा बन गई हैं, उनके ऊपर एक बड़ी सी पथराई हुई आँख की भाँति चाँद निकल आया है...!'[३]

'शेखर मानों जीवन की स्लेट पर से, भूल से या गलत लिखे गए अक्षर की तरह अपने को मिटा देना चाहता था।'[४]

'एकाएक वह अभिभूत हो गया, हल से जोती हुई भूमि की तरह टूटा हुआ सा अनुभव करने लगा।'[५] शारदा की याद ने ओस की तरह मीठे स्पर्श से भिगो दिया है।'[६]

इन प्रयोगों से भाषा की लक्षणा एवं व्यंजना शक्ति बढ़ गई है। वर्णन-शैली

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २)—पृष्ठ १११, २. वही—पृष्ठ १३३, ३. वही (भाग १)—पृष्ठ ९३, ४. वही—पृष्ठ १३३ ५. वही—पृष्ठ २३१, ६. वही—पृष्ठ २३९।

भी सुन्दर है। जैसे—'दिन, दोपहर, साँझ, रात, सवेरा, दिन, दोपहर, साँझ, रात, प्रत्यूष'' ज्वर, प्रस्वेद, क्लांति, स्निग्ध ताप, कँपकँपी, ज्वर; स्नेह-श्लथ हाथ, ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य'' 'होलियों की हवाएँ, स्निग्ध शीतल; अनवरत पतझार, छिटपुट रूई के गाले से सफेद बादल, आवारे, निश्चिन्त, निर्मोही, धूल-धूसर चक्रवात'''डाक्टर, राख भरी चिलमची, चार्ट और बोतलें, फलों का रस'''मौसी की ओर से गौरा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी।'[1]

इन टूटे वाक्य-खंडों वाली वर्णन शैली द्वारा लेखक ने हमारी आँखों के समक्ष जीवन्त चित्र ही उपस्थित कर दिया है। भाषा-शैली व्यंगात्मक बनकर कहीं-कहीं अत्यंत मार्मिक बन गई है—'मिस्टर लाल 'इंगलैंड रिटर्नड्' डाक्टर हैं। स्वयं लौटे हैं, तो साथ इंगलैंड का कुछ हिस्सा लेते आए हैं, और भारत की उर्वरा भूमि में उसे बोकर, उसी की छाया में रहते हैं।'[2]

भावावेश की शैली में एक अपूर्व ओज मिलता है—'जल, उर्ध्वगे, जल यज्ञ ज्वाले जल। उत्तप्त जल, उज्ज्वल और सुवासित जल, क्षारहीन और निर्धूम और अक्षय जल। यह मुझ अभागे का तुझे आशिर्वाद हो। तब आँसू आए, घने और झरझर।'[3] और 'प्रणाम यमुना, प्रणाम, पूर्वदिशा, प्रणाम, वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल; प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले; प्रणाम, दो पैरों से लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी तट, प्रणाम, बही हुई मुट्ठी भर राख।'''[4]

इसी प्रकार प्रकृति का चित्रण करते समय शैली, प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत मिलती है। परन्तु भाषा-शैली की इन समस्त विशेषताओं के बावजूद केवल अंग्रेजी कविता के उद्धरण कुछ खटकते हैं। 'हिन्दी कविता' को एक स्थल पर भी पूरे उपन्यास में कहीं उद्धृत नहीं किया गया है। हाँ, संस्कृत, बँगला और पंजाबी के दो एक उद्धरण अवश्य कहीं मिल जाँय। परन्तु केवल इसीलिए यह कहना कि इसकी भाषा हिन्दी अंग्रेजी की अजीब खिचड़ी है, अन्यायपूर्ण होगा। लेखक ने अपने इन आलोचकों के लिए ही अंग्रेजी पद्यांशों का हिन्दी अनुवाद, अनिच्छा रहते हुए भी दे दिया है। फिर भी यदि कोई उपन्यास की शैली को 'कृत्रिम और आत्म-विज्ञापन से बोझिल' कह दे, तो उसकी हठधर्मी का हम प्रतिवाद न करेंगे। इस 'कृत्रिम एवं रोषपूर्ण एकांगी आलोचना' का सही उत्तर तो 'शेखर' के सहृदय पाठक ही दे सकते हैं।

देश-काल

उपन्यास का देश-काल अत्यंत विस्तृत है। काश्मीर, लाहौर, नीलगिरी प्रदेश, मद्रास, पंजाब आदि प्रदेशों के चित्रण में स्थानीय रंग मिलता है। समुद्र का भी

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग २)—पृष्ठ २४३, २. वही (भाग १)—पृष्ठ १०१, ३. वही (भाग २) पृष्ठ ८०, ४. वही—पृष्ठ २४२।

उपयुक्त चित्र मिलता है। इसका 'काल' भी पर्याप्त लम्बा है। शेखर अपने बाल्यकाल में 'अंग्रेजों और जर्मनों' के महायुद्ध की खबरें समाचार-पत्रों में पढ़ता है। फिर युद्ध समाप्त होता है। महँगाई आती है। कश्मीर में वायसराय के स्वागत के अवसर पर, नदी के दोनों किनारे पैरहन और कुल्ला पहने काश्मीरियों का जो झुंड खड़ा था, उन सब स्त्री-पुरुषों का ताल के साथ छाती पीटते हुए, हाँप-हाँपकर कहना—'भत्त खुदाया! भत्त खुदाया!'—शेखर के शिशु-जीवन की एक मार्मिक स्मृति है, जो गरीब भारत के इतिहास का एक करुण पृष्ठ है। इसके बाद भारत में महामारी का भीषण प्रकोप होता है, और माता, पिता, भाइयों के पास ही एक चारपाई पर शेखर भी पड़ जाता है।[1]

फिर गाँधी जी का स्वदेशी आन्दोलन चलता है। शेखर भी विदेशी कपड़ों की होली जलाकर स्वदेशी मोटे वस्त्र पहनता एवं अंग्रेजी की जगह हिन्दी में ही बातें करने का प्रयत्न करता है।[2] गाँधीजी की प्रेरणा से 'अछूतोद्धार' आन्दोलन की लहर देश में फैल जाती है। ब्राह्मण-पुत्र शेखर भी 'मालाबार' के सुन्दर प्रदेश में 'अछूत'—'पञ्चमों' की हीन दशा देखकर त्रस्त एवं क्रुद्ध हो उठता है। 'ब्राह्मणों के लिए अलग सड़कें हैं जिन पर पञ्चम नहीं चल सकते, पञ्चमों को नदियाँ नाव में बैठकर या और किसी प्रकार पार करनी होती है क्योंकि पुल ऊँची जातियों के लिए सुरक्षित होते हैं; ब्राह्मणों के पड़ोस में अछूत भूमि नहीं ले सकते।'[3]

'अज्ञेय' ने केवल देश-काल का स्थूल चित्रण कर ही सन्तोष नहीं कर लिया है, वरन् इन सामाजिक कुरीतियों को दूर करने, उनसे संघर्ष करने की भी हमें प्रेरणा प्रदान की है। शेखर सोचता है—'कहते हैं कि धीरे-धीरे सब कुछ हो जायेगा, कि धीरे-धीरे अज्ञान दूर होगा, यह आत्मा पर छाया हुआ कुहरा उठ जायेगा। कहते हैं बहुत कुछ, पर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं, प्रतीक्षा को युग बीत जाते हैं, और कुछ नहीं होता। कुहरा उठ सकता है, परदा भी उठ सकता है; पर दीवार नहीं उठ सकती, उसे फाड़ना ही पड़ता है, गिराना ही पड़ता है, नहीं तो वह नहीं मिटती...!'[4]

इसीलिये उसका विश्वास है कि कार्यशीलता की सौ गलतियाँ, निकम्मेपन की एक अच्छाई से बढ़कर हैं। शेखर भी केवल बौद्धिक सहानुभूति नहीं प्रदर्शित करता, रचनात्मक कार्य करता है। नारी समस्या की ओर भी लेखक हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। वह माँ-बाप के गुलाम भारतीय नवयुवक के प्रति अपना आक्रोश दबा नहीं सका है—'समाज की सड़ती हुई हड्डियों को भड़कीले लाल रेशम में लपेटकर हम कहते हैं—देखो, हमारा युवक-समुदाय'![5]

मद्रास एवं लाहौर के कालेज-जीवन का अत्यन्त व्यंजक जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। लाहौर कांग्रेस अधिवेशन, स्वयंसेवक और नेता तथा अनुशासन की

१. 'शेखर : एक जीवनी' (भाग १)—पृष्ठ ८९, २. वही—पृष्ठ ११८, ३. वही—पृष्ठ २१५, ४. वही—पृष्ठ २१७, ५. वही—पृष्ठ २३१।

समस्या पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजों का पुलिस राज्य एवं सैनिक अत्याचार, झूठे मुकदमों का सृजन आदि अनेक तथ्यों को भी सही ढंग से चित्रित किया गया है। जेल-जीवन के अत्याचारों एवं अमानुषिक व्यवहारों का भी पर्दाफाश किया गया है। हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के प्रति भी देशवासियों के विचारों को सूक्ष्म रूप से चित्रित किया गया है। लेखक के साथ प्रकाशकों एवं सम्पादकों द्वारा किया जानेवाला दुर्व्यवहार एवं शोषण का नग्न रूप चित्रित किया गया है। सुधार-संस्थाओं का संकीर्ण दृष्टिकोण भी व्यंजक ढंग से चित्रित है। आतंकवादियों की कार्य-प्रणाली पर भी थोड़ा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार हिंसा-अहिंसा, नैतिकता-अनैतिकता, शासन और जनता, कानून और न्याय, स्त्री और पुरुष आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की विचार-तरंगें इस उपन्यास में बिखरी हुई यत्र-तत्र मिलती हैं।

इस प्रकार देश-काल के सजीव चित्रण एवं अंकन से, इस उपन्यास को सजीव धरातल एवं वातावरण प्राप्त हुआ है।

'शेखर : एक जीवनी' पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर लेने के उपरान्त, हम एक बार पुनः पाठकों को लेखक के इस कथन से परिचित करना चाहते हैं—'शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं है, वह अच्छा भी आदमी नहीं है। लेकिन वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है। वह अच्छा संगी नहीं भी हो सकता है, लेकिन उसके अन्त तक उसके साथ चलकर आपके उसके प्रति भाव कठोर नहीं होंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। और, कौन जाने आज के युग में जब हम आप सभी संश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप पाये कि आपके भीतर भी कहीं पर एक शेखर है जो बड़ा नहीं, अच्छा भी नहीं, लेकिन जागरूक और स्वतन्त्र और ईमानदार है, घोर ईमानदार!'[1]

मेरा निवेदन उन सहृदय ईमानदार पाठकों से है, जिन्होंने अपना 'ईमान' किसी आलोचक के हाथ बेच नहीं दिया है, वे उपर्युक्त वक्तव्य के प्रकाश में पूरा उपन्यास पढ़कर, स्वयं निर्णय देवें, 'क्या शेखर केवल मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला है, जिसके पास जीवन के अनुभव एवं आस्थाएँ नहीं हैं', 'क्या शेखर असामाजिक, नृशंस, घातक व्यक्ति है', 'क्या वह निरा घोंघा है', 'क्या वह केवल उस कुत्ते की भाँति है जो अपनी पूँछ पकड़ने के लिये अपने ही चारों ओर चक्कर लगा रहा है' या वह कुछ और भी है?

आत्मविश्लेषण की जो नयी प्रवृत्ति इस उपन्यास में पहले पहल देखने को मिलती है, स्मृति-सूत्रों के सहारे डायरी-शैली में अपने विचार प्रकट करते हुए बीच-बीच में उद्धृत कविताओं के शीतल छींटे देते चलना—इस परम्परा में आज हिन्दी में अनेक उपन्यास लिखे जा चुके हैं। उपन्यास-लेखकों के लिये 'शेखर : एक जीवनी',

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' भूमिका पृष्ठ १०।

प्रकाश-स्तम्भ बन गया है। डा० देवराज का 'पथ की खोज', आत्मचरितप्रधान शैली में इसी परम्परा में लिखा गया एक सफल एवं लोकप्रिय उपन्यास है।

श्री विश्वम्भर 'मानव' के इस अभिमत से हम पूर्णतः सहमत हैं—" 'गोदान' और 'शेखर : एक जीवनी' के बीच कोई दूसरा उपन्यास नहीं आता। इन दोनों उपन्यासों की महत्ता दो भिन्न दिशाओं की है और शायद दोनों की तुलना करना ठीक नहीं होगा। यह कृति 'प्रसाद' की 'कामायनी'से इस बात में अवश्य समानता रखती है कि दोनों में ही एक विराट् जीवन दर्शन को आकार देने का प्रयत्न किया गया है और 'कामायनी' की कला की भाँति इस उपन्यास का शिल्प-विधान भी अत्यंत प्रौढ़ है। ये तीनों ही कृतियाँ इस शताब्दी की महान् साहित्यिक कृतियाँ हैं। यदि 'गोदान' भारत की मिट्टी है, तो 'कामायनी' हिमालय, और 'शेखर : एक जीवनी' अधूरा ताजमहल!"[१]

———

१. 'आलोचना' (अक्तूबर १९५४) पृष्ठ १०७।

दिव्या

'दिव्या' सुप्रसिद्ध कथाकार यशपाल की एक बहुत ही विशिष्ट रचना है। बौद्धकाल की चित्रमयी भूमिका ने इस उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास जैसा सजीव वातावरण प्रदान किया है। हिन्दी में बौद्धकालीन युग का आधार लेकर आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' नामक उपन्यास लिखा है। परन्तु उसका काल, 'दिव्या' से भी पूर्व का बौद्ध काल है।

यशपालजी 'दिव्या' को इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना मात्र मानते हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है। अतीत के मनन और मन्थन की सार्थकता यशपालजी भविष्य के लिये संकेत पाने के प्रयोजन से मानते हैं। परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है और मनुष्य ही परिस्थितियों का स्रष्टा है।

'दिव्या' का सही मूल्यांकन करने की दृष्टि से लेखक की ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं—'इतिहास विश्वास की नहीं, विश्लेषण की वस्तु है। इतिहास मनुष्य का अपनी परम्परा में आत्म-विश्लेषण है।......इतिहास के मन्थन से प्राप्त अनुभव के अनेक रत्नों में सबसे प्रकाशमान है – 'मनुष्य भोक्ता नहीं, कर्ता है। सम्पूर्ण माया मनुष्य की ही क्रीड़ा है।'...मनुष्य से बड़ा है—केवल उसका अपना विश्वास और स्वयं उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख विवशता अनुभव करता है और स्वयम् ही वह उसे बदल भी देता है। इसी सत्य को अपने चित्रमय अतीत की भूमि पर इस कल्पना में देखने का प्रयत्न 'दिव्या' है!...'[1]

स्पष्ट है कि प्रगतिशील यशपाल इतिहास को पूजा या अंधविश्वास की वस्तु न मानकर, विश्लेषण की वस्तु मानते हैं। अतएव जहाँ तक अतीत को उसके यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का प्रश्न है, 'दिव्या' हिन्दी में अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। इसके अन्दर उपन्यासकार ने बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। जहाँ तक 'दिव्या' की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उसका कथानक, घटना-क्रम और पात्र सभी कल्पित हैं। कथानक की पृष्ठभूमि में वर्णित देश-काल का ऐतिहासिक वातावरण यथार्थ के बहुत निकट है। यशपाल ने 'दिव्या' में ही तत्कालीन समाज के वर्गपरक स्वरूप को सर्वप्रथम चित्रित किया है। उस वर्ग-परक समाज में भी 'इतर जनों के जीवन का मूल्य अभिजात वर्ग के सुख का उपकरण बनने में है!'

यशपाल ने इतिहास को मार्क्सवादी के दृष्टिकोण से देखा है। मार्क्सवाद

---

१ 'दिव्या'—प्राक्कथन—पृष्ठ ५-६।

मानव-समाज के दो वर्ग मानता है—शोषक एवं शोषित। सामाजिक सम्बंधों का आधार आर्थिक माना जाता है। स्वभावतः सहानुभूति शोषित के प्रति होती है। यथार्थ के नाम पर भौतिकता का आग्रह मिलता है। उपन्यास का एक प्रमुख पात्र 'मारिश' आरम्भ से अंत तक भौतिकतावादी दर्शन की व्याख्या करता जान पड़ता है। उपन्यासकार स्वयं कुछ न कहकर जो कुछ चाहता है, 'वह मारिश' के माध्यम से कहला देता है।

जिस सामाजिक संघर्ष को 'दिव्या' के अन्दर लेखक ने उभार कर रखना चाहा है उसका चित्रण एकमात्र गणराज्य में ही संभव था, जहाँ प्रायः अभिजात वर्ग का ही शासन एवं राज्य पर एकाधिकार होता। इतिहास को देखने की उपन्यासकार को अपनी एक दृष्टि रही है। उसी विशेष दृष्टि के फलस्वरूप 'दिव्या' एक सोद्देश्य रचना बन गई है। उस युग में वर्ण-व्यवस्था शोषण का एक जबर्दस्त हथियार था। क्रांति का प्रेमी लेखक वर्तमान समाज से असंतुष्ट होकर अतीत की ओर जाता है। 'दिव्या' एक सामाजिक प्रश्न बन जाती है! उसे लेखक ने क्रांति और विद्रोह का प्रतीक बना दिया। वर्ण, धर्म, कुल, समाज और आदर्शों के विरुद्ध 'दिव्या' विद्रोह करती है। उसके द्वारा लेखक ने सामाजिक मान्यताओं का खोखलापन प्रस्तुत किया है। अन्त में आदर्शों की पराजय होती है, भौतिकतावादी दर्शन की विजय होती है।

समाज, कुल, धर्म, वर्ण और राज्य के प्रति लेखक की विद्रोह-भावना है। व्यक्ति का उन्मेष लेखक का उद्देश्य है। 'दिव्या' को अपने उद्देश्य-पूर्ति के साधन रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उपन्यास में आज के युग की ही समस्याएँ हैं। 'दिव्या' में वर्णित नारी-समस्या शाश्वत है, जो आज भी वैसी ही है। व्यक्ति और समाज का संघर्ष, स्त्री और पुरुष के सम्बंध की समस्या प्राचीन युग से वर्तमान युग तक में किसी न किसी रूप में मिलती है।

यशपालजी का प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' था, उसमें उन्होंने अहिंसात्मक विप्लव की व्यर्थता प्रतिपादित की है। 'देशद्रोही' में साम्यवाद की उपयोगिता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द के बाद यशपालजी ने ही राजनीतिक विषयों पर पहली बार उपन्यास लिखे। प्रेमचंद ने अपने युग की उथल-पुथल का सचाई के साथ कलात्मक अंकन किया, परन्तु यशपाल ने उपन्यास को सिद्धान्त प्रचार का साधन बनाया। एक बात और। यशपालजी के प्रत्येक उपन्यास में नारी को यौन-स्वच्छंदता दिलाने की वकालत पाई जाती है। 'दिव्या' में भी लेखक ने पुरानी पगडण्डी छोड़ी नहीं है। इसका प्रकाशन १६४५ में हुआ था।

कथा

उपन्यास का समारंभ बहुत ही भव्य है। कला-प्रदर्शन के लिये एक सुरुचिपूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है। लेखक ने अपनी अपूर्व वर्णन-शैली द्वारा उस सुन्दर पृष्ठभूमि का सजीव शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है।

इस उपन्यास की नायिका 'दिव्या', मद्र-साम्राज्य के धर्मस्थ महापंडित देवशर्मा की प्रपौत्री है। सागल में 'मधुपर्व' के अवसर पर, कला की अधिष्ठात्री राजनर्तकी देवी मल्लिका के निर्देशन में 'मगली-नृत्य' करके दिव्या ने 'सरस्वती-पुत्री' का पुष्प-किरीट वयोवृद्ध गणपति से प्राप्त किया। उसी दिन तक्षशिला और मगध से शस्त्र और शास्त्र की शिक्षा पूर्ण कर आये ब्राह्मण एवं यवनकुमारों के शस्त्र-कौशल की प्रतियोगिता का कार्यक्रम था। इसी प्रतियोगिता के आधार पर युवक मद्रगण की सेना में पदों के अधिकारी होते थे। दासपुत्र पृथुसेन उस प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया और परम्परा के अनुरूप 'सरस्वती-पुत्री' दिव्या ने उसे पुष्प-मुकुट पहनाया। उसी दिन कुमारी दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने के अवसर पर रुद्रधीर ने ललकारा—'दास-पुत्र को अभिजात वंश के युवकों के साथ शिविका में कंधा देने का अधिकार नहीं'। पृथुसेन ने उत्तर दिया—'मेरे अधिकार का निश्चय मेरा खड्ग करेगा।'[१]

वयोवृद्ध गुरुजनों के बीच-बचाव के कारण रक्तपात न हो सका। अपमानित पृथुसेन न्याय की पुकार लेकर धर्मस्थ के प्रासाद में गया। 'उस प्रासाद में सुरा और सुन्दरी के व्यसन की अपेक्षा ज्ञान और तर्क का अनुराग अधिक प्रबल था। युक्ति और तर्क की लहरों से अतिथि, रजत आधारों पर स्फटिक के चषकों में कपिशायिनी सुरा लिये सम्मुख खड़ी श्याम और पिंगल दासियों को भूल जाते। महापंडित के आस्थान में ज्ञान और कर्मकाण्ड के प्रसंग, श्रुतिस्मृति के शब्द-प्रमाण और न्याय के तर्क-प्रमाण, वेदों के 'एकमेवाद्वितीयं' और नासदीयवाद के लिये स्थान था। वहाँ यवन ऋषि प्लातो के प्रतीयमान जगत से परे तर्कप्राप्य ध्रुव सत्य के विमर्ष और तथागत के अनात्म कर्मवाद के लिये भी स्थान था। उनकी उदारता में ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करनेवाले, सागल के धर्मज्ञविप्र समाज द्वारा लांछित और तथागत के अभिधर्म द्वारा अभिशप्त, लोकायत के समर्थक, केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मान्तर में कर्मफल को असत्य बतानेवाले, चारवाक् मारिश के लिये भी स्थान था। धर्मस्थ के न्याय द्वारा दो बेर दण्डित होकर भी वह महापंडित का कृपापात्र था।'[२]

ऐसे न्यायप्रिय धर्मस्थ के आस्थानागर में महाश्रेष्ठ प्रेस्थ का पुत्र पृथुसेन न्याय के विश्वास के साथ अपनी याचना लेकर उपस्थित हुआ। दिव्या ने धर्मस्थ के आदेश से अतिथि का स्वागत-सत्कार किया। उसने पृथुसेन को न्याय का आश्वासन भी दिया।

उसी दिन से दिव्या के मन से एक गाँठ पड़ गई। वह संकुचित तथा शिथिल रहती। उस समय महापितृव्यों, पितृव्यों, मातामही और पितृव्याओं, भाइयों और बहिनों का स्नेह बोझ-सा जान पड़ने लगता। महादेवी ने दिव्या को व्यस्त रखने के लिये अनेक कार्य निर्दिष्ट किये। अपनी सखी एवं समवयस्का दासी छाया से दिव्या को ज्ञात होता है कि महादेवी ने आज्ञा दी है कि संध्या समय आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आर्य रुद्रधीर के आने पर कुमारी उनकी अभ्यर्थना करे। लेकिन संध्या समय दिव्या छाया

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ १८। २. वही—पृष्ठ २०-२१।

के साथ रथ पर बैठ मल्लिका के समाज में जा पहुँची। वहाँ पृथुसेन से उसकी भेंट होती है। पृथुसेन न्याय के लिये विशेष व्यग्र एवं चिन्तित था।

पृथुसेन का पिता श्रेष्ठी प्रेस्थ विशेष धन-संचय कर, जन से यथेष्ट सम्मान पाकर भी कुलीन न होने के कारण गणपरिषद् का सदस्य न बन सका। लेकिन अपने द्रव्य बल, चातुर्य और विनय से गणपति महासेनापति मिथोद्रस का विशेष विश्वासपात्र बन गया। मिथोद्रस की दक्षिण भुजा बनकर, चतुर, साहसी और विनीत प्रेस्थ अत्यंत प्रभावशाली बन गया। प्रेस्थ ने अपने पुत्र पृथुसेन को अभिजात वंशीय कुमारों की भाँति शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा दिलवायी। शैशव से ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्म-गौरव का भाव पिता से अधिक और विनय का चातुर्य कम था।

केन्द्रस का आक्रमण होता है। सागल के अभिजात वर्ग ने शतरंज की चालें चलनी प्रारम्भ कर दी। इस स्वार्थ-वृत्ति पर व्यंग करती हुई मल्लिका कहती है—'आर्य, क्या पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम शत्रु के हाथ आत्म-समर्पण होगा?... जब मद्र और सागल नहीं रहेंगे, किसका उपालंभ कौन सुनेगा.........?'[1]

राज्य-पुरुष संग्राम-यज्ञ की विशेष बलि के नाम पर साधारण जनों को लूटकर अपना घर भर रहे थे। केन्द्रस के लूटने से पूर्व ही, मद्र के राज्य-पुरुष साधारण जनों को लूट लेना चाहते थे। साधारण जनता में पर्याप्त असन्तोष फैला हुआ था। एक वृद्ध मद्यप के शब्दों में—'क्या उपयोग है इस धन का! जो खा लिया, जो पी लिया, वही मेरा है। मैं दिन भर उग्र ताप में बैठकर तलवारें गढ़ता हूँ। वही तलवार हाथ में ले राजपुरुष मेरे पुत्र को बलात् सैन्यदल में हाँक ले गये। मेरा पुत्र केन्द्रस के खड्ग का प्रहार सहने दावँ जायगा और याजक, पुरोहित मेरे दिये राजबलि के द्रव्य से मंत्रपूत सुरापान कर, बलि के मांस का भोजन कर, मंत्र पाठ द्वारा रक्षक देवता का आह्वान करेगा। महायोद्धा सामन्त गौर और कृष्ण वर्ण दासियों को अंक में ले शय्यारूढ़ होने का पराक्रम करेगा और खड्ग के आघात से काँपता हुआ मेरा पुत्र कायर होगा। हाय, इससे तो वह श्रमण बन कर दीर्घजीवी होता तो अच्छा था...!'[2]

बौद्ध धर्म के प्रति उस युग में कायरों को विशेष आकर्षण का अनुभव होता। उधर मद्र की सेना के केन्द्रस द्वारा पराजित होने के समाचार गणपति से गुप्त रखे जा रहे थे। प्रेस्थ ने धन व्यय कर आचार्य प्रवर्धन की शूरसेन और मगध से गुप्त अभिसंधि के अकाट्य प्रमाण एकत्र कर लिये थे। प्रेस्थ ने अवसर से लाभ उठाने का उपदेश अपने पुत्र पृथुसेन को दिया। महत्वाकांक्षी प्रेस्थ ने अपने पुत्र को आगे कर गणपति और धर्मस्थ की विशेष कृपा प्राप्त की। गण-परिषद् की अनुमति से गणपति मिथोद्रस ने युद्ध के संक्रमणकालीन सर्वाधिकार प्राप्त किये। राजाज्ञा निकाली कि कोई राजपुरुष जन से बलात् संग्राम-यज्ञ के लिये बलि न ग्रहण करेगा। कोई नागरिक बलात्

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ४८ २. 'वही'—पृष्ठ ५३।

सैनिक कार्य के लिये बाधित न होगा। स्वेच्छा से सैन्य-कार्य करनेवाला दास स्त्री और सन्तान सहित दासत्व से मुक्त होगा।

सामन्त कार्त्तवीर, सामन्त लक्ष्मण, श्रेष्ठी धर्मजीत, पंडित विष्णुशर्मा, विनय शर्मा रूद्रधीर आदि चिन्तातुर होकर अर्द्धरात्रि में बैठकर आपस में वार्तालाप करते हैं। धर्मस्थान से दासपुत्र पृथुसेन के अपमान के लिये एक सहस्र दिवस का निर्वासन दण्ड आचार्य रुद्रधीर को मिला। विरोध करने पर, धर्मस्थान में अनुशासन की अवज्ञा करने के अपराध में एक सहस्र दिवस के और निर्वासन दण्ड की आज्ञा मिलती है। इस न्याय पर वे विचार कर रहे थे। यह निश्चय हुआ कि इस दीर्घ समय का उपयोग रुद्रधीर मगध की यात्रा द्वारा ही करे। मगध में द्विज सेनापति और अग्निमुख नीतिज्ञ महर्षि पतञ्जलि के सामीप्य में वर्णाश्रम के उद्धार के लिये दीक्षा ग्रहण करे।

पृथुसेन ने सेना का उत्साह से नेतृत्व सम्हाला। प्रस्थान से पूर्व दिव्या ने उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। पृथुसेन में उत्साह का दूना आवेग उमड़ पड़ा। उसने न केवल केन्द्रस की गति को ही रोक दिया, वरन् उसे पीछे ढकेलना शुरू किया। अन्त में पृथुसेन ने दार्व का आधा प्रदेश जीत लिया। केन्द्रस युद्ध में पृथुसेन के खड्ग-प्रहार से धराशायी हुआ और पृथुसेन भी आहत हुआ। विजयी सेना दार्व से स्वर्ण, रत्न, अश्व और बहुमूल्य पदार्थों तथा दो सहस्र बलिष्ठ दास और सुन्दर दासियों का समूह लिये लौटी। इस समाचार से दिव्या हर्षित एवं पुलकित हो उठी। अपने शरीर में पृथुसेन की उपस्थिति अनुभव कर गर्व और उल्लास से उसका हृदय उछलने लगता। लेकिन अपने शरीर में आते परिवर्तन से संकोच अनुभव कर वह अस्वास्थ का बहाना कर प्रायः कक्ष से बाहर न निकलती।

दिव्या की इस विवशता का लाभ गणपति मिथोद्रस की कन्या सीरो ने उठाया। वह दिन-रात घायल पृथुसेन की परिचर्या करती रहती। साहस कर एक दिन दिव्या अपने प्राणपति से मिलने आयी। सीरो के कठोर नियंत्रण में वह पद-धूलि भी न प्राप्त कर सकी और खाली हाथ लौट गई।

पृथुसेन को दिव्या की उपेक्षा असह्य लगी। उसने धर्मस्थ के प्रासाद में जाने का निश्चय किया। दूरदर्शी प्रेस्थ अपने पुत्र से अधिक महत्त्वाकांक्षी थे। वे पुत्र से कहते हैं—'पुत्र, देवताओं ने प्रसन्न हो तुम्हें विद्या, बुद्धि, कौशल, धन और रण में विजय का सम्मान दिया है। समय पर वे देवता तुम्हें स्त्री-सुख देने में भी कृपणता न करेंगे। एक दिव्या क्या, अनेक लावण्यमयी, कलामयी ललनायें तुम्हारे भोग के लिये प्रस्तुत रहेंगी। जो बुद्धिमान अवसर के अनुकूल व्यवहार करता है, उसके लिये देवता इस लोक और परलोक के सभी सुखों का वरदान देते हैं। पुत्र, अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करो!'[1]

श्रेष्ठी प्रेस्थ के अनुसार स्त्री जीवन की पूर्ति नहीं, जीवन की पूर्ति का एक

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ८३

उपकरण और साधन मात्र है। सामर्थ्यवान, सफल मनुष्य अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है परन्तु सफलता के अवसर जीवन में अनेक नहीं आते। संसार में बल ही प्रधान है, धन-बल और जन-बल। अतएव यवन गणपति की पौत्री से विवाह कर पृथुसेन निर्विरोध महाकुलीन बन सकता था। दिव्या को ग्रहण कर सम्पूर्ण द्विजसमाज को शत्रु बनाना होगा। क्योंकि द्विज-वर्ग की सत्ता, इतर जन की हीनता और उनसे सेवा प्राप्त करने के अधिकार पर आश्रित है। प्रधान सुख, शक्ति का भोग है। पृथुसेन उत्तर देता है—'परन्तु तात, मैं दिव्या से प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। मैं उसे पत्नी रूप से ग्रहण कर चुका हूँ। यह विश्वासघात होगा?'[1]

दिव्या भग्न मन से पृथुसेन की उपेक्षा पर विचार करती रहती, और अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाती। इसी बीच उसे ज्ञात हुआ कि सीरो और पृथुसेन विवाह-सूत्र में बँधनेवाले हैं। गर्भ पूर्ण होने को आया। रहस्य गुप्त न रह सका। क्षोभ एवं लज्जा से द्रवीभूत दिव्या अपनी दासी धात्री को साथ लेकर प्रेस्थप्रसाद की ओर चल पड़ी। वहाँ पहुँचकर ज्ञात हुआ कि पृथुसेन इस समय प्रमदोद्यान में गणपति की पौत्री आयुष्मति सीरो की संगति में है।

अनुभवी धात्री ने शिविका-वाहकों को शिविका लौटा ले चलने का आदेश दिया। राजपथ पर भी दिव्या की अश्रुधारा न रुकी। धात्री ने शिविका के पट गिरा दिये। दिव्या ने इसे अपमान समझ, पुनः अपने हाथ से पट उठा दिये और अश्रु पोंछ डाले। चतुर धात्रा ने वाहकों को उज्ज्वल प्रकाश से पूर्ण राजपथ छोड़ दूसरे मार्ग से चलने का आदेश दिया। अन्धकार-पूर्ण और निर्जन-पथ पर जाती हुई इस शिविका का मार्ग उच्छृंखल मातालों ने रोका। वे मदिरापान से मदोन्मत्त हो रहे थे। धात्री की चेतावनी एवं दिव्या की वर्जना से भी उनका उन्माद न रुका। वे कुलीन नारी के नाम पर भी मार्ग छोड़ने को तैयार न थे। वृक ने अट्टहास कर कहा—'हाँ-हाँ कुलीन! धन सबसे बड़ा कुल है, महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का कुल। वक्ष पर शस्त्रप्रहार सहनेवाले सेनापति पृथुसेन के सैनिकों को कौन अकुलीन कहता है!......नारी का कुल क्या? उसे भोगनेवाले पुरुष के कुल से नारी का कुल होता है!...दार्व की भय से काँपती महाकुलीन सुन्दरियों का भोग उनके रजतपर्यंकों पर किया है। कुलीन सुन्दरी, बोलो तुम्हारे सहवास का क्या मूल्य है? यदि तुम वसुमाला और मल्लिका भी हो तो स्वर्ण का दण्ड तुम्हारे द्वार पर खड़े प्रतिहारियों के खड्ग को नत कर देगा।'[2]

ठीक समय पर अजेय वर्मा के आ जाने के कारण कुमारी की रक्षा होती है। वसुमित्रा के सिंहद्वार पर शिविका छोड़कर दिव्या उद्यान में प्रविष्ट होकर धात्री से विदा माँगती है। अपनी बेटी के समान स्तन का दूध पिलाकर जिसका पालन किया, उसे आज इस असहाय अवस्था में भला कैसे धात्री छोड़ सकती थी। दिव्या और धात्री शिविका-वाहकों को छोड़कर उद्यान के पृष्ठद्वार से निकल पुनः नगर की अँधियारी

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ८६, २. वही—पृष्ठ ९६-९७

वीथियों में फिरने लगीं। शरीर के भार के कारण दिव्या के लिये निरंतर चलते रहना दूभर था। सब ओर भय था। पुरुष का भय था, अज्ञात का भय था और प्रकाश एवं अंधकार से भय था। वे आश्रय खोज रही थीं परन्तु जानती न थी कि आश्रय कहाँ है और वह कैसा होगा।

एक वृद्धा ने इन दोनों को आश्रय के बहाने बन्धन में बाँध दिया। दास-व्यवसायी ने दिव्या से सारे बहुमूल्य आभूषण प्राप्त कर लिये। एक कक्ष में दिव्या को अकेली कैद कर दिया। कक्ष में दिव्या और बाहर धात्री के कण्ठों में चीत्कार उठा परन्तु स्वयं ही उसकी व्यर्थता अनुभव हो जाने से वह निःशब्द श्वास में बह गया। कौन उसे सुनता ?

दिव्या के न लौटने पर धर्मस्थ के प्रासाद में चिन्ता बढ़ी। द्रुतगामी अश्व भी दिव्या का पता लगाने में असमर्थ रहे। शिविका-वाहक और दासी धात्री की पुत्री छाया, विष्णु शर्मा की आज्ञा से तत्काल बंधन में ले लिये गये। इन्हें पीड़ित कर रहस्य जानने का प्रयत्न किया जाने लगा। तात धर्मस्थ दो कंचुकियों का आश्रय लिये धीरे-धीरे अत्यन्त कष्ट से पग धरते वहाँ पहुँचे। आर्त-क्रन्दन के चीत्कार ने उन्हें व्यथित एवं व्यग्र बना दिया था। उन्होंने दासी छाया को अपने सामने बुलाया। ज्ञात हुआ दासी छाया जीवित न रही। वे काँप उठे। वे कम्पित स्वर में बोले —'प्रतिकार और प्रतिहिंसा न्याय नहीं है। तुम्हें बेटी के चले जाने पर आक्रोश है। वह किसके अपराध से गई ? मेरे······और समाज के······अनुशासन से !'[1] अन्याय के प्रायश्चित्त स्वरूप बूढ़े रुग्ण धर्मस्थ ने अपने प्राण निछावर कर दिये।

दास-व्यवसायी प्रतूल अपने सब दास-दासियों के साथ मद्र छोड़कर जा रहा था। सीमा पर प्रधान शौल्किक की जाँच के अवसर पर वह दिव्या का पत्नी रूप में परिचय देता है। दिव्या परिस्थितियों के सूक्ष्म बंधनों से बँधी हुई थी। उत्पीड़ित होकर भी वह शरण पाये है। अतएव उसकी वाणी मूक ही रही। जिसके लिये जीवित रहने का अवसर नहीं, उसकी स्वतंत्रता का मूल्य क्या ?

श्रेष्ठी प्रतूल ने मथुरापुरी के दास-व्यापारी भूधर को गर्भवती दिव्या का 'दारा' के रूप में परिचय देकर, इस असाधारण सुन्दरी को बेचने का प्रस्ताव किया। पैनी दृष्टि से निरीक्षण कर भूधर ने बीस स्वर्ण मुद्रा मूल्य लगाया। मोल-भाव के बाद भूधर ने उसे खरीद लिया। प्रसव के बाद ही भूधर ने पुरोहित चक्रधर के हाथ पचास स्वर्ण-मुद्रा में दारा को सन्तान सहित बेच दिया।

पुरोहित चक्रधर की रुग्ण पत्नी ने एक बालक को जन्म दिया। इस नवजात शिशु के लिये दूध की आवश्यकता थी। द्विज-पत्नी के स्तन सूख गये थे। दारा ने दोनों नवजात शिशुओं को हृदय से लगा लिया। उसने मुक्ति की साँस ली। परन्तु दारा को अपेक्षित संतोष न मिला। द्विज-पत्नी की आज्ञा थी कि पहले स्वामिनी के

---

१. वही—पृष्ठ १११

पुत्र को स्तन-पान कराके वह अपने पुत्र को स्तन दे। परन्तु द्विज-पुत्र को स्तन-पान करा देने के बाद उसके अपने पुत्र शाकुल के लिये दूध शेष न रहता। अपनी सन्तान को क्षुधित देखकर दारा का हृदय रो उठता। वह अपने स्तन के दूध की चोरी करने लगी। स्वामी की सन्तान के प्रति उसके हृदय में दारुण घृणा बैठ गई। उसके लिये छाती में दूध ही नहीं उतरता। द्विज-पत्नी क्रोध से क्षुब्ध हो उठती। दारा को घोर प्रतारणा सहनी पड़ती। चतुर द्विज-पत्नी ने इसका भी उपाय ढूँढ़ निकाला। दारा के पुत्र शाकुल को उसके सम्मुख लाया जाता। ममता के वशीभूत होकर दारा के स्तन से दूध और नेत्रों से जल बहता। उससे स्वामी की संतान तृप्त होती। यही क्रिया प्रतिदिन प्रातःसंध्या पुरोहित चक्रधर के आँगन में बँधी गाय के साथ भी होती।

दारा को ज्ञात होता है कि उसके पुत्र शाकुल को स्वामिनी ने कहीं दे डालने का निश्चय कर लिया है। वह काँप उठी। किसी बौद्ध श्रमण की पुकार उसके कानों में सुनाई पड़ी—'संसार के संतप्त प्राणियो, शान्ति के लिये बुद्ध की शरण आओ। धर्म की शरण आओ! संघ की शरण आओ!'

दारा अपनी संतान को छाती से चिपकाये शरण की कामना से महाबोधी चैत्य में बौद्ध-स्थविर के समक्ष पहुँची। बिना अभिभावक की अनुमति के संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता था। दारा ने प्रश्न किया—'तथागत ने तो वेश्या अम्बपाली को भी संघ में शरण दी थी।'

स्थविर ने उत्तर दिया—'वेश्या स्वतंत्र नारी है, देवी!'[1]

निराश दारा अपने बंधनों पर विचार करती हुई, जीवन की पगडण्डी पर भटकते कदमों से चलने लगी। निश्चय किया कि स्वतन्त्र नारी बनने के लिये वह वेश्या बनेगी! वह एक नागरिक से वेश्याओं के निवास का मार्ग पूछती है। उसकी दीन दशा का कोई उपहास करता है और कोई उसकी दीन दशा पर व्यंग करता है—'तू वेश्या बनना चाहती है? माता का सम्मानित पद पाकर तू वेश्या बन समाज की शत्रु बनना चाहती है! धन के लोभ में अपना शरीर और अपनी मातृत्व की शक्ति बेचना चाहती है!⋯⋯हतभागी तू वेश्या बनने योग्य भी नहीं। विलासी के द्रव्य के मूल्य में तू क्या देगी? तू लुट चुकी है। किसी ने तेरा रस चूस कर फल्गुमात्र छोड़ दिया है।⋯⋯चूसी जाकर, जीवन के अयोग्य होकर जीवित रहने का मोह छोड़ दे!⋯ असमर्थ को जीने का अधिकार नहीं। जा! यमुना की शीतल धारा में विश्राम ले!'[2]

भगोड़ी दासी का पीछा करते-करते पुरोहित वहाँ आ पहुँचा। उसने ललकारा। पुरोहित चक्रधर के सहायक अनेक बन गये। दासत्व की अपेक्षा मृत्यु ही प्रिय लगी। शाकुल को हृदय से चिपकाये दारा ऊँचे तट से जलधारा में कूद पड़ी।

शिशु निष्प्राण हो गया एवं राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा द्वारा 'दारा' बचा ली

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ १२४, २. वही—पृष्ठ १२६।

गयी। पुरोहित ने महाउपरिक रविशर्मा से न्याय की याचना की। राजनर्तकी रत्नप्रभा के हस्तक्षेप से दारा की रक्षा हुई। रत्नप्रभा को दारा के रूप में मणि प्राप्त हुई।

रत्नप्रभा दारा के प्रति दयालु थी। उसका गुण और रहस्य जानकर वह उस पर आदर से अनुरक्त हो गई। उसने दारा का नाम रखा अँशुमाला। नाम बदलने के साथ उसका संसार बदल गया। द्रव्य और विलास के प्रवाह में, सगीत और नृत्य के भँवर में वह हँस शावक की भाँति अविच्छिन्न तैरने लगी। उसके दुख के दुर्भेद्य कवच के भीतर उस विलास और विनोद के भँवर के जल की बूँद भी न गई। उसकी मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्त्तव्य मात्र था। रत्नप्रभा का प्रासाद, कला का तीर्थ बन गया। नाम था रत्नप्रभा का, वास्तविकता थी अँशुमाला।

रत्नप्रभा को अंशुमाला में अपने पद और स्थान की स्पर्धा करने वाली प्रतिद्वन्द्वी नहीं अपितु अपनी परम्परा की रक्षा करनेवाली उत्तराधिकारिणी दिखाई दी। वह रत्नप्रभा की काष्ठ-पुत्तलिका मात्र है। रत्नप्रभा ने समझाया—प्रयोजन से हीन कला मोहक रूप-रंग लिए मिट्टी के फल के समान है जो तृप्ति नहीं दे सकती। अंशुमाला ने कम्पित स्वर में उत्तर दिया—'स्वामिनी, यह तन तुमने क्रय किया है। मन स्वयं मेरे वश नहीं। तुम्हारी करुणा से अधीन मैं उसे भी तुम्हें अर्पण कर देना चाहती हूँ। मैं आभारी हूँ, आज्ञा का पालन करूँगी।'[१]

श्रावण मास में प्रतिवर्ष मथुरापुरी के उपान्त, वृन्दावन में 'दोल महोत्सव' होता था। रसिकों की सभा सर्वश्रेष्ठ कलावंत को सम्मानित करती। दोलोत्सव से अंशुमाला की ख्याति दिगन्त पर्यन्त फैल गई। मथुरापुरी की प्रतिष्ठा बढ़ी।

मारिश आता है। वह अंशुमाला को पहचानता है। वह कहती है—'आर्य, अब मैं दिव्या नहीं हूँ। अब कुमारी भी नहीं हूँ। देवी रत्नप्रभा की क्रीत दासी, वेश्या नर्तकी अंशुमाला हूँ।...[२]

मारिश ने अंशुमाला में पुनः अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया। उसका यौवन कछुवे की भाँति अपने आप में सिमटा हुआ अनुराग के प्रहारों को सह रहा था। इस चतुर आखेटक ने उसके मर्म स्थान पर चेतना का बाण मारकर उसे व्याकुल कर दिया।

आर्य रूद्रधीर भी उसके नाम की डोर में बँधा उसके समीप उपस्थित होता है। अंशुमाला के विगत जीवन की याद दिलाता है। दिव्या के रूप में जो नारी थी वह मर चुकी थी, अंशुमाला तो केवल वेश्या थी। औपचारिक शिष्टाचार में वह प्रवीण थी। उस निर्लिप्त नर्तकी को आर्य रुद्रधीर तन, मन और धन से भी नहीं पा सका। रुद्रधीर ने धमनियों में बहनेवाले विप्र रक्त की दुहाई दी। कीचड़ में गिरकर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता। अतएव सागल के आचार्य पद पर रुद्रधीर उसे पत्नी रूप से ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करता है। अंशुमाला ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—

१. 'दिव्या'—पृष्ठ १३९, २. वही पृष्ठ—१४१

'आर्य की भावना के प्रति दासी अत्यन्त कृतज्ञ है। अपनी प्रवृत्ति के कारण दासी कुल वधू के सम्मान के योग्य नहीं। दुर्भाग्य की अग्नि में जलकर दासी ने स्वतंत्र नारी का कलंक पाया है। वही उसे प्रिय है।'[1]

रुद्रधीर ने प्रवास की लम्बी अवधि समाप्त कर सागल में प्रवेश किया। इधर पृथुसेन हीनकुल में जन्म पाने के कलंक से मुक्त होकर मद्र का सबसे अधिक समृद्ध सम्मानित सामन्त बन गया। सीरो मद्र के परम भट्टारक गणपति की पौत्री, गण परिषद् के संवाहक की पुत्रवधू और महापराक्रमी सेनापति की अर्धाङ्गी थी। समाज में सबसे सम्मानित आसन की वह अधिकारिणी थी। सीरो के हठ के कारण ही पृथुसेन ने दिव्या को खोया। सीरो की उच्छृंखलता उसे सह्य नहीं हुई। सीरो ने उत्तर दिया— 'मैं तुम्हारी क्रीतदासी नहीं हूँ। ......तुम वेश्याओं से विलास नहीं करते ? कितनी दासियाँ तुम्हारी पर्यंक-सेवा के लिये हैं ? भोग के भिन्न-भिन्न सुखों और रसों के लिये तुम्हें कितनी नारियाँ चाहिये ! मेरे लिये भी संसार में केवल तुम ही एक पुरुष नहीं हो ! तुम जैसे अनेक और तुमसे श्रेष्ठ अनेक।......मैं तुम्हारे वंश की धुरी खींचने के लिये बछड़े उत्पन्न करनेवाली गाय नहीं हूँ।......तुम्हें सेनापति बना सकती हूँ तो दूसरे को महासेनापति बना सकती हूँ।'[2]

पृथुसेन ने सीरो को पत्नी रूप में भुला देना चाहा, उसके प्रति मन घृणा से भर गया, लेकिन गणपति के जामाता होने के गर्व को सम्हाले रहा। उसकी साधना शक्ति बन गई।

रुद्रधीर ने एक षड़यन्त्र रचा। शरद् पूर्णिमा के दिन देवी मल्लिका के प्रासाद में विशाल समारोह का आयोजन किया गया। इस समाज में नगर के अभिजात कुल वर्ग, गणपरिषद् के सदस्य, श्रेणी जेट्ठक, श्रेष्ठी, कुलनारियाँ और नगर की सम्मानित नर्तकियाँ सभी सम्मिलित हुए। नृत्य और संगीत के इस महोत्सव में विशेष मूल्यवान विभिन्न प्रकार की मदिराओं का अतिथियों ने खूब सेवन किया। मदिरा-पान के कारण अतिथियों पर श्रान्ति और शैथिल्य का निरन्तर प्रभाव बढ़ रहा था। पृथुसेन को षड्यन्त्र का कुछ सुराग लग जाता है। वह छिपकर भाग निकलता है।

निस्सहाय और निश्शस्त्र पृथुसेन स्थविर चीवुक के निर्देशानुसार संकट के समय में बुद्धरक्षित संघाराम में शरण ग्रहण करता है। स्थविर के उपदेशों से वह प्रभावित होता है। वह स्थविर के साथ आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर भिक्षा के लिये जाता है। रुद्रधीर मन ही मन परास्त होता है। सुरक्षित रूप में रुद्रधीर भिक्षु के वेश में निकल आता है।

देवी मल्लिका उत्तराधिकारिणी की खोज में मथुरा जाती है। अपनी शिष्या रत्नप्रभा की शिष्या अंशुमाला की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची थी। रत्नप्रभा से गुरुदक्षिणा

---

१. वही—पृष्ठ १६७, २. वही—१७२।

में अंशुमाला को मल्लिका ने माँगा। उसे अंशुमाला नहीं, अपनी पुत्री दिव्या सहज ही प्राप्त हो गयी।

देवी मल्लिका दिव्या के साथ सागल लौट आयी। मल्लिका ने फाल्गुन की पूर्णिमा को अपनी उत्तराधिकारिणी का अभिषेक करना निश्चित किया। दिव्या को देखकर अभिजात-वर्ग में हलचल मच जाती है। द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिये भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती। दिव्या ने आचार्य रुद्रधीर से व्यवस्था माँगी। उत्तर मिला—'वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल के लिये सत्य है।'[1]

अभिषेक की वेदी से उतर कर निराश्रय दिव्या पान्थशाला में जाती है। भिक्षुक पृथुसेन, आचार्य रुद्रधीर एवं मारिश तीनों उसे आश्रय देने के लिये आगे बढ़ते हैं। दिव्या को आचार्य रुद्रधीर ने आश्वस्त किया—'देवी, तुम्हारा स्थान नर्तकी-वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुलकन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्यकुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित हैं।...'

दिव्या उत्तर देती है—'आचार्य, कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहादेवी का आसन दुर्लभ सम्मान हैं।...परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुलमहादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतंत्र और आत्मनिर्भर नहीं हैं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। उसे भोग करनेवाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है।...दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'[2]

भिक्षु पृथुसेन ने पुकारा—'आर्ये, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिये उपस्थित हूँ।'[3]

दिव्या ने पूछा—'भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?'

भिक्षु ने उत्तर दिया—'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।'

दिव्या—'भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें। नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें!'

मारिश ने पुकारा—'मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिये ही मथुरापुरी से सागल आया हूँ। मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरन्तन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख दुःख अनुभव करता है! अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूल-धूसरित मार्ग का पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ २०८ २. वही—२१२ ३. वही—पृष्ठ २१२।

अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है। वह नश्वर-जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।......सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।'

दिव्या ने दोनों बाहु फैला दिये—'आश्रय दो आर्य !'[१]

संक्षेप में दिव्या का यही मूल कथानक है।

वस्तु-कौशल

कथानक का प्रवाह सहज एवं एकरस है। कथा का आरंभ अत्यंत आकर्षक है इसका अंत भी बहुत ही प्रभावपूर्ण है। कथा का प्रारम्भ एवं अन्त जन-सागर के बीच होता है। आरम्भ में दिव्या का मराली नृत्य और अन्त में जीवन की वास्तविकताओं से पराजित एवं अनुभवों से त्रस्त एवं विवश दिव्या का बाहें फैलाकर मारिश की ओर बढ़ना, दोनों में नाटकीयता है।

ऐतिहासिक कथा-शैली में पूरा कथानक वर्णित है। लेखक तटस्थ होकर सबकुछ लिख रहा है। कथानक को तेरह अध्यायों में लेखक ने बाँटा है। प्रत्येक अध्याय का नामकरण मुख्य घटना, परिस्थिति अथवा पात्र के आधार पर किया गया है। जैसे—'मधुपर्व', 'प्रेस्थ', 'आचार्य प्रवर्धन', 'आत्मसमर्पण', 'विकट वास्तव', 'दारा', 'अंशुमाला', 'मल्लिका', 'दिव्या' आदि। प्रत्येक अध्याय से दूसरा अध्याय स्वयं विकसित होकर निकलता है।

कथा कलात्मक ढंग से नियोजित की गई है। पाठक की उत्सुकता बराबर बनी रहती है। घनटाएँ आकस्मिक ढंग से घटती हैं परन्तु अस्वाभाविकता नहीं आने पायी है। कथा प्रधानतः दिव्या के जीवन से सम्बंधित है। दिव्या की जीवन-कथा के साथ-साथ अनेक सहायक उपकथाएँ, वृक्ष के तने से निकली एवं जुड़ी शाखाओं की भाँति सम्बद्ध हैं। कथा में कहीं भी अनावश्यक विस्तार नहीं मिलता। कथा का अंत कुछ अप्रत्याशित ढंग से होता है। पाठक की कल्पना के विपरीत दिव्या, पृथुसेन एवं रुद्रधीर को छोड़कर मारिश को अपनाती है। परन्तु परिस्थितियों के अनुसार यह स्वाभाविक ही कहा जायेगा।

यशपालजी में उच्च-कोटि की कारयित्री प्रतिभा है। कथा कहने का उनका अपना एक खास ढंग है। उन्हें एक सचेत कलाकार का विवेक प्राप्त है। अतएव कथा के स्वाभाविक प्रवाह में कहीं भी व्यवधान नहीं पड़ा है। नाटक के रंगमंचीय कौशल (stage-craft) की भाँति ही, इस उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण की अवतारणा की गई। इससे उपन्यास को यथार्थ पृष्ठ-भूमि प्राप्त हो गई है। 'वस्तु-कौशल' की महान सफलता यह है कि 'दिव्या' सचमुच एक ऐतिहासिक पात्रा के रूप में प्रारम्भ से अन्त तक पाठक के दिल-दिमाग पर छाई रहती है।

१. 'दिव्या'—पृष्ठ २१३।

चरित्र-चित्रण

'दिव्या' के सभी पात्र कल्पित हैं। परन्तु देश-काल के अनुरूप ही लेखक ने उनके चरित्र में रंग भरा है। अतएव सभी पात्र सजीव बन गये हैं। लेखक के सिद्धान्तों का प्रचारक मारिश भी हमारी सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित करने में सफल होता है। अतएव चरित्र-चित्रण अत्यंत सफल ढंग से किया गया है। चरित्र के अन्तर्पक्ष एवं बाह्य-पक्ष दोनो का कलात्मक चित्रण मिलता है। पात्रों के जीवन में एक ओर बाह्य संघर्ष है, दूसरी ओर उनके मानसिक आवेगों का झंझावत उन्हें व्यग्र करता है। लेखक ने कहीं-कहीं पात्र के चरित्र में भाव-परिवर्तन अत्यंत मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखक ने विश्लेषणात्मक (Analytic) तथा नाटकीय (Dramatic) दोनों पद्धतियों के सहारे चरित्र-चित्रण किया है।

'दिव्या' के प्रमुख पात्र पृथुसेन, मारिश तथा दिव्या हैं। मल्लिका, रत्नप्रभा, रुद्रधीर, धर्मस्थ, गणपति मिथोद्रस, श्रेष्ठी प्रेस्थ, सीरो तथा छाया आदि अन्य सहायक पात्र हैं। पात्रों का नामकरण युगानुरूप मिलता है। इनमें वैयक्तिक विशेषताएँ भी मिलती हैं और वर्गीय रंग ढग भी। 'मल्लिका' सागल की राजनर्तकी ही नहीं, कला की अधिष्ठात्री भी है। 'रत्नप्रभा' मथुरापुरी की राजनर्तकी एव मल्लिका की शिष्या है रत्नपभा में नारी सुलभ ममता, दया, दाक्षिण्य के सभी गुण वर्तमान हैं। समय पडने पर अपनी सबसे प्रिय वस्तु को भी वह सहज ढंग से गुरु-दक्षिणा के रूप में दे डालती है।

'रुद्रधीर' वर्णाश्रम धर्म की कट्टरता का प्रतीक है। अभिजात वंशीय संस्कारों ने उसमें दर्प कूट-कूट कर भर दिया है। दिव्या के प्रति वह सहृदय भी है एवं उसको आश्रय देने को उत्सुक भी। परन्तु वेश्यागामी ब्राह्मण रुद्रधीर द्विज-कन्या को वेश्या बनते नहीं देख सकता। अपने बुद्धि-कौशल एवं छल से वह अपने अपमान का बदला लेता है। मद्र का शासन-सूत्र पुनः वर्णाश्रम धर्म के प्रेमियों के हाथ में आ जाता है। द्वार पर भिक्षु के भेष में आये शत्रु पृथुसेन को वह मूक-भाव से क्षमा कर अपनी मानवता की रक्षा करता है। दिव्या को महादेवी के पद पर प्रतिष्ठित कराने की उत्कंठा एवं उत्साह प्रदर्शित कर हमारी सहानुभूति का भी अधिकारी बन जाता है। लेखक ने रुद्रधीर का चरित्र-चित्रण भी सहानुभूतिपूर्वक किया है।

'धर्मस्थ' उस युग के एक वर्गीय पात्र हैं। उदारता के वे सजीव रूप कहे जा सकते हैं। अपनी प्रपौत्री 'दिव्या' के प्रति उन्हें अकथनीय हार्दिक स्नेह है। वे जानते हैं कि उनके तथा समाज के अनुशासन के भय से दिव्या भागी है। दासी छाया के प्रति किये गये अन्याय को भी वे सह नहीं पाते। और इसी अत्याचार के प्रायश्चित्त स्वरूप वे अपने प्राणों का उत्सर्ग करते हैं। 'गणपति मिथोद्रस' एक कठपुतली के सदृश्य लगते हैं। उनका व्यक्तित्व पूरे उपन्यास में कहीं भी उभर कर सामने नहीं आया। केवल केन्द्रस के आक्रमण के अवसर पर की गई उनकी घोषणा

उनकी महानता की सूचक है। 'श्रेष्ठी प्रेस्थ' महत्त्वाकांक्षी दास वणिक है। उसके अनुसार 'शक्ति' से बड़ा संसार में कुछ नहीं है। वह अपनी ही राह पर पृथुसेन को भी ले जाना चाहता है, क्योंकि उसके मनसूबे बहुत ऊँचे हैं।

'सीरो' गणपति की कन्या है। वह पृथुसेन से स्पष्ट कह देती है कि वह दिव्या को सपत्नी रूप में नहीं स्वीकार कर सकती है। वह आर्यों की कुत्सित बहु पत्नी-प्रथा की आलोचना करती है। वह प्रियतम के हृदय की एकछत्र रानी बनना चाहती है। समाज में सबसे सम्मानित आसन की वह अधिकारिणी थी और उससे अधिक स्पर्द्धा उसके मन में थी। वह सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती थी और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरुषों से आदर की आशा करती थी। उसके रागरंजित ओठ केवल मदिरा से धुलते। रस-वैचित्र्य उसे भिन्न-भिन्न ओठों में ही मिला। स्पर्श-सुख उसके लिये युवा-पुरुषों की बलिष्ट भुजाओं और लोमपूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था। वह अपने को पृथुसेन के वंश की धुरी खींचने के लिये बछड़े उत्पन्न करनेवाली गाय नहीं मानती है। उसे अपने अधिकार का गर्व है। उसका चरित्र लेखक ने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है।

वस्तुतः सम्पूर्ण उपन्यास में 'दिव्या' को छोड़कर सबसे करुण एवं प्रभावशाली चरित्र 'छाया' का ही है। दिव्या की दासी धाता की पुत्री छाया उसकी समवयस्का, क्रीडा सखी थी। छाया अन्तःपुर में युवा-पुरुषों और उनकी युवती पत्नियों की सेवा और अत्यंत सामीप्य से अपने शरीर के विकास और उपयोग से शीघ्र ही परिचित हो गई। स्नान के समय वह विनय शर्मा के शरीर पर उबटन मलती। एक दिन कादम्बिनी का पात्र उपस्थित करते समय आर्य विनय शर्मा ने कौतुक से हाथ छाया के अंग पर दबा दिया। छाया लज्जा एवं संकोच से सिमट गई। इस पर कुपित होकर स्वामिनी अमिता ने उसे कक्ष से बहिष्कृत कर दिया और कहा—'दासी होकर कुल ललनाओं की भाँति लजाती है।...'[1] अर्थात् 'लज्जा' भी मानों अभिजात-वर्ग की सम्पत्ति है! छाया का प्रेमी दास-नायक बाहुल है। युद्ध में वह मारा जाता है। छाया अपना सारा स्नेह दिव्या पर उंडेलती है। वह अपनी स्वामिनी दिव्या पर अपना सब कुछ निछावर करने को तैयार है। दिव्या के चले जाने पर उसे विशेष रूप से पीड़ित किया जाता है। वह अपने प्राण दे देती है लेकिन रहस्य नहीं खोलती। 'छाया' पर जिस प्रकार का अमानुषिक अत्याचार किया गया वह हमें सहज ही द्रवीभूत कर देता है और उसकी चारित्रिक दृढ़ता हमें उसके प्रति गौरव-भावना से अभिभूत कर डालती है।

संक्षेप में 'दिव्या' के प्रमुख सहायक चरित्रों की भाव-भंगिमाओं के साथ अन्य प्रमुख चरित्रों का विश्लेषण करने पर पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि लेखक चरित्र-चित्रण करने में अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है।

---

१. 'दिव्या—पृष्ठ ३३

दिव्या

'दिव्या' ही इस सम्पूर्ण उपन्यास की आत्मा है। 'दिव्या' की जीवन-सरिता में 'दारा' और 'अंशुमाला' के रूप में दो धाराएँ आकर और मिलती हैं। त्रिवेणी में 'गंगा' की जलधारा 'यमुना' और 'सरस्वती' का जल-ग्रहण कर जब काशी पहुँचती है तब यह बताना नितान्त कठिन हो जाता है कि इस जलधारा में कितना जल गंगा का अपना है और कितना यमुना या सरस्वती का है! उसी प्रकार 'दिव्या' की जीवन-गंगा में ही दारा रूपी यमुना और अंशुमाला रूपी सरस्वती का जल मिल जाता है। अर्थात् 'दिव्या' के समग्र जीवन के यही विभिन्न पक्ष हैं, खंड-चित्र नहीं हैं। 'दिव्या' का जीवन एक तीव्र व्यंग से पूर्ण है। वह एक नारी जीवन की करुण कहानी है।

दिव्या धर्मस्थ पंडित देवशर्मा के जेष्ठ पुत्र की कन्या थी। अर्थात् वह देवशर्मा की प्रपौत्री थी। उसके उज्ज्वल भविष्य के विश्वास से उसे 'दिव्या' पुकारा गया, लेकिन दुर्भाग्य से जन्म के बाद ही पिता-माता, पितामह दैवी प्रकोप से व्याधि के कारण अकाल में ही काल-कवलित हो गये। प्रपितामह देवशर्मा के वात्सल्य की अधिकारिणी दिव्या बनी। धर्मस्थ का आस्थानागार ज्ञानमय वातावरण से पूर्ण था। इस वातावरण में पोषित होकर दिव्या ज्ञान, कला और संस्कृति से उसी प्रकार आपूर्ण थी जैसे कमल जल से भींगा न रहने पर भी जल से रचा रहता है। उसकी विशेष रुचि संगीत और नृत्य में थी। शब्दों की अपेक्षा ज्ञान को उसने भावना में पाया था।

'सरस्वती पुत्री' का सम्मान पाकर दिव्या ने सागल के जन-समाज में अपनी कला-निपुणता की धाक जमा दी। उसकी शिविका में कन्धा देने के लिये आचार्य पुत्र आर्य रुद्रधीर ने खड्ग खींच लिया था। वे एक पत्नी के रहते हुए भी दिव्या को पत्नी रूप में पाना चाहते थे। दिव्या को रुद्रधीर की द्वितीय पत्नी बनने की कल्पना अच्छी न लगी।

न्याय की भिक्षा के लिये द्वार पर उपस्थित अतिथि दासपुत्र पृथुसेन के प्रति दिव्या की संवेदना बढ़ी। दिव्या की शीविका में कन्धा देने के लिये ही पृथुसेन ने भी खड्ग खींच लिया था। इस सम्मान के प्रति वह कृतज्ञ थी। मारिश के शब्द उसके कान में गूँजते रहते—'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है!'[1]

कुमारी दिव्या के मन में विचित्र द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। रुद्रधीर और पृथुसेन दोनों ही उसके मानस नेत्रों के समक्ष आते, लेकिन पृथुसेन का आकर्षण प्रबल निकला। मल्लिका के यहाँ पुनः पृथुसेन से भेंट होती है। प्रेम और आकर्षण बढ़ता जाता है। दिव्या आत्म-समर्पण की तुष्टि और आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति की दुविधा में पृथुसेन के बढ़े हाथों को रोकती है। परन्तु जब पृथुसेन युद्ध में जाने लगता है तो वह

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ २७।

अत्यधिक व्यग्र हो उठती है। उसकी खोज में वह मल्लिका, वसुमित्रा और प्रेस्थ के प्रासादों में चक्कर लगाती है। अपने परिवार से क्षुब्ध दिव्या अपनी दासी छाया से स्पष्ट कह देती है—'तात और सम्पूर्ण प्रासाद जान ले, आर्य पृथुसेन के अतिरिक्त मैं किसी से विवाह न करूँगी। विवाह भी विलम्ब से नहीं, तुरन्त···आर्य के युद्ध पर जाने से पूर्व ही करना चाहती हूँ !'[1]

दिव्या अपने मन, शरीर और आत्मा को भी पृथुसेन को समर्पित कर देती है। वह पृथुसेन के मंगल के लिये तांत्रिक से 'महाशक्ति कवच' प्राप्त करती है। दिव्या आत्म-समर्पण करती है। पृथुसेन विजयी हो लौटता है। गर्भवती दिव्या संकोच एवं लाज के रेशमी डोरों से बँध जाती है। सीरो इस अवसर से लाभ उठाती है। पृथुसेन इसे अपनी उपेक्षा समझता है। उसका पिता प्रेस्थ उसे स्वार्थ का पाठ पढ़ाता है। सब ओर से उपेक्षित एवं त्रस्त गर्भवती दिव्या अपनी दासी के साथ भाग्य की डोर पकड़े जीवन-पथ पर निकल पड़ती है। उसके जीवन की सम्पूर्ण महत्त्वाकांक्षा और माधुर्य कलंक और अपराध बन गया। वह सीरो के साथ सख्य भाव से सपत्नीत्व भी स्वीकार करने को प्रस्तुत है। वह छाया से एकबार कहती है—'आर्य के प्रासाद में बीसियों दासियाँ अनेक सेवा-कार्य के लिये हैं, क्या मेरे लिये वहाँ स्थान नहीं !'[2]

दिव्या दासी भी न बन सकी। उसका स्थान सीरो ने ले लिया। पथ पर भटकती दिव्या से माताल छेड़छाड़ करते हैं। वह अपनी दासी से कहती है—'भय किससे नहीं है ! माताल वृक से भय है ? पृथुसेन से भय नहीं किया था,···क्या हुआ ! नारी है क्या !···धीर रुद्रधीर, अभद्र मारिश और माताल वृक, नारी के लिये सब सामान हैं। जो भोग्य बनने के लिये उत्पन्न हुई है, उसके लिये अन्यत्र शरण कहाँ ? उसे सब भोगेंगे ही।'[3]

दिव्या दासव्यवसायी प्रतूल के हाथ में पड़ गई। उसने मारिश के कहे शब्दों की सत्यता अनुभव की। ओह ! उस आकर्षण में, नारी में निहित सृष्टि की शक्ति में कितना अभिशाप अन्तर्निहित है। दास-व्यवसायी के साथ सागल नगरी छोड़ते हुए दिव्या को दुःसह वेदना का अनुभव हुआ। वह मुक्त हो सकती थी, परन्तु जिसके लिये जीवित रहने का अवसर नहीं, उसके लिए स्वतंत्रता कहाँ ! भेड़-बकरी की भाँति 'दिव्या' बेची जाती है। वस्तुतः दारा के रूप में पुनः मरी हुई दिव्या जी उठती है।

पुत्र-प्रसव के बाद वह पुरोहित चक्रधर की सम्पत्ति बनती है। उसके मातृत्व के क्रेता ब्राह्मण-दम्पत्ति उसके साथ पशु-तुल्य व्यवहार करते हैं। एक दिन जंजीर तोड़कर, जेठ की धूप में वह शिशु सहित बौद्ध विहार में शरण की कामना से जाती है। परन्तु परतंत्र नारी के लिए वहाँ भी स्थान नहीं। वह वेश्या बनकर स्वतंत्र नारी का गौरव प्राप्त करना चाहती है। लेकिन समाज के विशाल पंजे में तड़पती हुई नारी को आश्रय मिलता है, यमुना की जलधारा में। राज्य इसे भी अपराध मानता है, और उसे

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ७२, २. वही—पृष्ठ ९१, ३. वही—पृष्ठ १००।

दंड मिलता है। पुत्र का बलिदान कदाचित् उस वंचिता नारी के पापों का यथेष्ट प्रायश्चित्त नहीं था।

रत्नप्रभा द्वारा वह बचा ली जाती है। अब दारा की मृतदेह से कलाविद् अंशुमाला जन्म ग्रहण करती है। परन्तु उसकी मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्तव्यमात्र था। समाज से वह तटस्थ थी। वह अपने प्रति निरपेक्ष थी। रत्नप्रभा के प्रति अत्यंत कृतज्ञ, अनुरक्त और आश्रित ! कामना के रूप में वह जीवन की ऊष्मा से हीन थी। वह रत्नप्रभा की काष्ठ-पुत्तलिका मात्र थी। अंशुमाला की ख्याति दिगन्त पर्यन्त फैल गयी। मारिश उसे पहचानता है। दिव्या कहकर सम्बोधित करता है। अंशुमाला उत्तर देती है—'आर्य, अब मैं दिव्या नहीं हूँ। अब कुमारी भी नहीं हूँ। देवी रत्नप्रभा की क्रीत दासी, वेश्या नर्तकी अंशुमाला हूँ !...'[1]

भाग्यवादी अंशुमाला मारिश की समवेदना के प्रति कृतज्ञता विज्ञापित करती है। नारी से अनुराग की कामना करनेवाले मारिश को अंशुमाला बताती है कि नारी दिव्या तो मर चुकी है। अब नर्तकी वेश्या अंशुमाला से वह अनुराग कहाँ मिलेगा ? इसी प्रकार वह रुद्रधीर को उत्तर देती है कि उसे कुलवधू के सम्मान की लालसा नहीं ! क्योंकि दुर्भाग्य की अग्नि में जलकर ही उसने स्वतंत्र नारी का कलंक पाया है।

मल्लिका अपनी शिष्या रत्नप्रभा से अंशुमाला को गुरुदक्षिणा के रूप में माँग लाती है। मागल में आकर कला की उपासिका अंशुमाला को पुनः दिव्या के रूप में जीवित करने का मल्लिका असफल प्रयास करती है ! वह अपनी उत्तराधिकारिणी उसे बनाना चाहती है। परन्तु अंशुमाला उसकी उत्तराधिकारिणी हो सकती है, समाज को कोई आपत्ति न होगी। लेकिन दिव्या ? उसकी रगों में द्विज-रक्त बह रहा है। उसे कैसे वेश्या बनने की स्वतंत्रता दी जा सकती है ? अतएव दिव्या भी व्यवस्थापक एवं रूढ़िबद्ध समाज की मान्यताओं को ठुकराकर, स्वतंत्र जीवन यापन करनेवाले भौतिकतावादी मारिश को अपनाती है।

दिव्या एक सामाजिक प्रश्न है। उसके चरित्र द्वारा लेखक ने समाज के खोखलेपन को दिखाया है। नारी-जीवन की परवशता एवं करुणा के अत्यंत हृदय-द्रावक चित्र लेखक ने दिव्या के रूप में प्रस्तुत किया है। वर्णाश्रम धर्म के प्रतिष्ठापक समाज में नारी का महत्व दासी से अधिक नहीं होता है। वह केवल पुरुष की भोग्या मात्र है। नारी जीवन की समस्याएँ चिरंतन काल से एक ही हैं। उसे आश्रय और रोटी चाहिए। श्री मैथलीशरण गुप्त के शब्दों में 'दिव्या' के लिए कहा जा सकता है—

'अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
आंचल में है दूध और आँखों में पानी ॥'

पृथुसेन

महाश्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र पृथुसेन सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया जाता है।

---

1. 'दिव्या'—पृष्ठ १४१।

शिविका में कन्धा देने के अवसर पर रुद्रधीर द्वारा उसका अपमान होता है। तलवार पर हाथ जाता है। हृदय में प्रज्वलित क्रोध की अग्नि का धुआँ मस्तिष्क में घुट जाने के कारण वह क्षुब्ध हो उठता है। 'जन्म का अपराध! यदि वह अपराध है, तो उसका मार्जन किस प्रकार सम्भव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले?··· या उससे ले जिसने अपने स्वार्थ के लिये जन्म के असत्य अधिकार की व्यवस्था निर्धारित की है!···हीन कहे जाने वाले कुल में मेरा जन्म अपराध है? अथवा द्विज कुल में जन्मे अपदार्थ लोगों का अहंकार!······'[1]

व्यथित पृथुसेन धर्मस्थ के प्रासाद में न्याय की भिक्षा के लिये उपस्थित होता है। सरस्वती-पुत्री द्वारा उसे न्याय का आश्वासन प्राप्त होता है। वह वर्ण का नहीं, धर्म का न्याय चाहता है। शैशव से ही सम्मान पाने के कारण पृथुसेन में आत्म-गौरव का भाव पिता से अधिक और विनय का चातुर्य कम था। धन और प्रतिभा में अपने समवयस्कों से बढ़कर होने पर भी उनकी तुलना में सम्मान की न्यूनता उसके लिये असह्य थी। उसे अपनी तलवार पर पूर्ण विश्वास था। उसके पिता श्रेष्ठी प्रेस्थ उसे अवसर से लाभ उठाने का उपदेश देते हैं।

पृथुसेन, दूरदर्शी भी है। वह दिव्या से केन्द्रस के आक्रमण के अवसर पर सागल में व्याप्त अव्यवस्था की ओर संकेत कर कहता है—'इन लोगों की दृष्टि में यह आक्रमण केवल मुण्डी-धर्म के पाप का प्रायश्चित्त है। आचार्य प्रवर्धन संग्राम यज्ञ की ओट में वर्णाश्रम धर्म की स्थापना का षडयन्त्र चला रहे हैं।······मैं जब कल्पना करता हूँ, हमारे प्रज्वलित प्रासादों की ज्वालाओं के प्रकाश में विजय और मद से मत्त दार्व सैनिक तुम्हारे शरीर पर हाथ डालेंगे और मैं शृंखला-बद्ध खड़ा होऊँगा······ उससे पूर्व या तो मैं शत्रु के खड्ग से जीवन मुक्त हो चुका होऊँगा या स्वयं अपनी कटार से······। परन्तु अपनी मृत्यु के पश्चात् भी तुम्हारे लिये उस दारुण विभीषिका की कल्पना असह्य है!'[2]

दिव्या सिसक उठती है। उसे सान्त्वना देने के प्रयत्न में वह दिव्या के शरीर की सजीवता में आश्रय ढूँढ़ने लगा। शिथिल दिव्या को आलिंगन में लेकर, उसके मस्तक, कपोल और मुख पर चुम्बनों की वर्षा करते हुए, पृथुसेन बोला—'दिव्ये, भय और त्रास से क्या लाभ? जीवन के दो क्षण पूर्णता से जीकर साहस से जीवन समाप्त कर दें!'[3]

दासपुत्र पृथुसेन के उपचार के लिये भी दासियाँ थीं। स्वामी के विनोद के लिये उनका शरीर निरावरण भी रहता। यह भी विचित्र बात थी। जिसे 'दास-कुल'

१. 'दिव्या'—पृष्ठ १८, २. वही—पृष्ठ ४८-४९, ३. वही—पृष्ठ ४९।

में जन्म ग्रहण करने का इतना पश्चात्ताप था, उसे भी दासियों की सेवा की आवश्यकता पड़ती थी। अर्थात् 'धन' ही वह मूल विभाजक रेखा थी, जिसने समाज में अभिजात-वर्ग और दास-वर्ग की सृष्टि की थी।

पृथुसेन साहसी भी था। वह तात धर्मस्थ के समक्ष उनकी प्रपौत्री के पाणि-ग्रहण के लिये स्वयं उपस्थित होकर प्रार्थना भी करता है। नवीन बलाधिकृत पृथुसेन परिश्रमी भी है। दिन और रात्रि उसके अश्व की पीठ पर ही बीतते। एक अश्व थक जाने पर वह दूसरा बदल लेता, परन्तु स्वयं कभी न थकता।

युद्ध में विजयी, घायल पृथुसेन सागल लौटता है। नगर-द्वार पर कुल-कन्याओं ने जिस समय उसका अभिषेक किया, उसके व्याकुल नेत्र दिव्या को ढूँढ़ रहे थे। वह दिव्या के निकट पहुँचना चाहता था, लेकिन असमर्थ था। सीरो से जब उसे ज्ञात होता है कि दिव्या आकर भी उसके जागरण की प्रतीक्षा किये बिना लौट गई, उसके हृदय को ठेस लगती है। श्रेष्ठी प्रेस्थ महत्त्वकांक्षाओं के पुल बनाकर, पृथुसेन को दिव्या से विरत होने का उपदेश देते हैं। वह स्पष्ट कह देता है—'तात धर्मस्थ की प्रपौत्री से प्रतिज्ञाबद्ध होने और उसके प्रति अत्यंत अनुराग के कारण किसी दूसरी कन्या से विवाह का प्रसंग मन में लाना मेरे लिये सम्भव नहीं!'[1]

वह दिव्या को पत्नी रूप से ग्रहण कर चुका था, अतएव उसके प्रति विश्वासघात नहीं करना चाहता था। लेकिन प्रेस्थ ने उसे विश्वास दिलाया था कि गणपति की कन्या सीरो से विवाह कर, वह भविष्य में सफलता और शक्ति प्राप्त कर सकता है। उसके मन में निरंतर एक ही समस्या थी, सीरो से विवाह करके भी वह दिव्या को पा सके। परन्तु सीरो उसके प्रस्ताव को ठुकरा देती है। सीरो के लिये पृथुसेन ने अपना हनन किया था। सीरो के हठ के कारण उसने दिव्या को खोया। उसके चिरपोषित स्वप्न धूल में मिल गये। सीरो की उच्छृंखलता एवं विलासिता के कारण, उसके प्रति उसका मन घृणा से भर गया। उसने अनुभव किया, संसार में केवल एक सत्य है—शक्ति और सामर्थ्य। शेष संसार उसके अन्तर्गत है। सीरो को उसने पत्नी रूप से भुला देना चाहा, परन्तु गणपति के जामाता होने के गर्व को सम्हाले रहा। उसकी साधना बन गई—शक्ति !

उसे गर्व होता है—'मद्र में ऐसा कौन है जो सेनापति पृथुसेन की इच्छा का विरोध करेगा ?'[2] शरद्-पूर्णिमा के दिन देवी मल्लिका के प्रासाद में विशाल समारोह होता है। आर्या अमृता को लेकर पृथुसेन नृत्य करता है। उसे नृत्य के रस की अपेक्षा आचार्य रुद्रधीर और कुलवर्ग के मौन से ही अधिक तृप्ति अनुभव हो रही थी। शिविका में कंधा देने के कारण जिस रुद्रधीर ने उसका अपमान किया था, आज उन्हीं के समक्ष उसकी अनुजा, पृथुसेन की भुजाओं में सुख पा रही है और वे देखते

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ८४, २. वही—पृष्ठ १७९।

हुए भी मौन हैं। शक्ति के गर्व के उन्माद से पृथुसेन उन्मत्त हो उठा। ज़ोला को बाहों में लिये वह एक कुंज की ओर बढ़ गया।

अर्धचेतन अवस्था में भी सतर्क पृथुसेन विपक्षियों के षड्यन्त्र का सुराग पाकर कौशल से भाग निकलता है। निश्शस्त्र, निस्सहाय पृथुसेन के समक्ष सबसे बड़ी समस्या थी—वह कहाँ जाय? सब कुछ समाप्त हो चुका था। स्थविर चीबुक की कृपा से उसे बुद्धरक्षित संघाराम में शरण प्राप्त हो जाती है। परन्तु पृथुसेन शत्रु का सामना करना चाहता है। दैन्य में आत्महनन उसे स्वीकार नहीं। उसे उपदेश मिलता है कि शत्रु का शस्त्र द्वारा वध किया जा सकता है, परन्तु उसे विजित नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ा शत्रु तो मन का होता है। आचार्य रुद्रधीर के द्वार पर भिक्षु पृथुसेन भिक्षा के लिये जाने को तैयार होता है। भय और चिन्ता से मुक्त, सार्वभौम मैत्री भाव से पूर्ण पृथुसेन से, रुद्रधीर पराजित होता है। ग्रीवा झुकाये वह चिन्तामग्न बैठे ही रहते हैं।

समाज से प्रताड़ित नारी दिव्या को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिये भिक्षुक पृथुसेन उपस्थित होता है। दिव्या के यह पूछने पर कि भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है, भिक्षु पृथुसेन उत्तर देता है—'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है!'[1]

पृथुसेन का चरित्र, दिव्या की भाँति दिल और दिमाग को प्रभावित नहीं करता। उसके चरित्र के कुछ उज्ज्वल पक्ष आकर्षक अवश्य हैं, परन्तु दृढ़ निश्चय का उसमें अभाव है। पिता के कहने पर वह अपनी प्रेयसी को छोड़, सीरो को पत्नी रूप में ग्रहण करता है। यहाँ पर उसका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व बहुत हृदय-ग्राही एवं प्रभावशाली रूप से अंकित मिलता है। लेकिन फिर वह 'दिव्या' की कोई खोज-खबर नहीं लेता, उसके भाग जाने पर भी तटस्थ रहता है, यह उसके चरित्र का दुर्बल पक्ष है। उसका मदुलिका के प्रति उच्छृंखल व्यवहार, उसके चरित्र की गरिमा को हल्का बनाता है। शक्ति का मद स्वाभाविक था। परन्तु अन्त में 'दिव्या' के प्रति आकृष्ट होकर, उसे पुनः अपनाने के लिए आगे बढ़ना, फिर सिद्धान्तवादिता या दार्शनिक दुराग्रहवश पीछे हट जाना, उसके चरित्र का अत्यंत साधारण और अस्पष्ट पक्ष है। कुल मिलाकर पृथुसेन का चरित्र एक साधारण मानव के चरित्र से कुछ विशिष्ट माना जा सकता है, अपनी कुछ विशेष भंगिमाओं के कारण!

मारिश

सागल का सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार नास्तिकता और अनैतिकता के प्रतिपादन का अपवाद पानेवाला, श्रेष्ठी उपासक पुण्यकान्त का पुत्र युवक मारिश था। वह ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करता। केवल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य और जन्मा-

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ २१३।

न्तर में कर्मफल को असत्य मानता। चारवाक् मारिश लोकायत का दृढ़ समर्थक था। वह वैराग्य को भीरू की आत्म-प्रवंचना मात्र मानता। मारिश आरम्भ से अन्त तक भौतिकतावादी दर्शन की व्याख्या करता है। उपन्यासकार ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना तथा विवेचना मारिश द्वारा करवाई है।

मारिश संकट से पराभूत होना नहीं जानता। मनुष्य को स्वतंत्र कर्ता मानता है। स्वतंत्रता का अनुभव करना ही जीवन मानता है। वह सागलवासियों से कहता है—'···तुम अपने लिये लड़ो! अपने अन्न के लिये, अपने वस्त्र के लिये, अपने आश्रय के लिये। उस स्त्री के लिये जिसे अंक में ले सुख पाते हो। उस सन्तान के लिये जिसमें अपने आप को जीवित पाते हो। मरना तो है ही, अपने मनुष्यत्व और अधिकार के लिये मरो। जो बिना विरोध किये दूसरे के उपयोग में आता है, वह जड़ और निर्जीव है, पशु से भी हीन। तुम सामन्तों के राज्य में आधे मनुष्य हो, पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयत्न करो।······जो मारता है, वह सबल है। जो भय करता है, वह निबल है।'[1]

मारिश के अनुसार असमर्थ को जीने का अधिकार नहीं। वह नाश को परिवर्तन मानता और मनुष्य की परम्परा को ही उसकी अमरता मानता। मनुष्य की विवशता को ही वह भाग्य कहता।

सागल में मारिश ने दिव्या के प्रति आकर्षण अनुभव किया था। परन्तु दिव्या उसकी पहुँच से परे थी। बीच में एक चौड़ी खाई थी। रत्नप्रभा के प्रासाद में दिव्या सम-भूमि पर आ गई थी और मारिश समवेदना का हाथ बढ़ाकर उसे स्पर्श कर सकता था। पाँच वर्ष पूर्व मारिश ने मधुपर्व उत्सव पर दिव्या की सफलता के आदर में कहा था—'भद्रे, तुम्हारी कला तुम्हारी आकर्षण शक्ति का निखार मात्र है जो नारी में सृष्टि की आदि शक्ति है।'[2]

मारिश के अनुसार नारी के जीवन को सार्थकता के लिये पुरुष का आश्रय आवश्यक है। कला जीवन की पूर्ति में है। यह जीवन ही सत्य है। जो पाना है, इसी जीवन में पाओ। नारी सृष्टि का साधन है। वह समाज और कुल का केन्द्र है। पुरुष उसके चारो ओर घूमता है, जैसे कोल्हू का बैल। शिलाखण्ड के मध्य नारी का एक उन्नत स्तन दिखाकर, मारिश कहता है—'यही अंग नारी के नारीत्व की सार्थकता के लिये पुरुष का आह्वान करता है और फिर उस फलीभूत सार्थकता का पोषण करता है!······'[3]

मारिश नश्वर जीवन में संतोष की अनुभूति का आश्वासन देकर, दिव्या को ग्रहण करता है। वह दिव्या के नारीत्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। यही उसके जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। दिव्या, आचार्य रुद्रधीर और भिक्षु पृथुसेन

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ५५, २. वही—पृष्ठ १४४, ३. वही—पृष्ठ १५८।

को छोड़कर उसे अपनाती है। सम्पूर्ण उपन्यास में 'दिव्या' के बाद 'मारिश' का चरित्र ही विशेष प्रभावकारी एवं व्यंजक ढंग से चित्रित मिलता है। यशपालजी ने मारिश को अपनी पर्याप्त सहानुभूति भी प्रदान की है।

कथोपकथन

उपन्यास के कथानक की भाँति संवाद भी अत्यन्त कलात्मक ढंग से नियोजित मिलते हैं। पात्रानुकूल संवादों में अवसर के अनुकूल ही लघुता, व्यंग एवं आक्रोश मिलता है। पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त संवादों द्वारा तत्कालीन दर्शन पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। संवादों से भी ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में लेखक को सहायता मिली है।

व्यंगपूर्ण कथोपकथन की तनिक छटा देखिये—

प्रतूल— 'क्या कहते हो मित्र! क्या तुम उसके अवयवों का लास्य, उसका चम्पाकली सा वर्ण नहीं देखते? गर्भिणी होने के कारण मलिन है तो क्या! यह नहीं देखते कि एक के मूल्य में दो जीव पा रहे हो!......माणिक पर धूल रहने से क्या वह माणिक नहीं रहता! उसके नेत्र और वर्ण......शुद्ध द्विज रक्त को लजाते हैं।... मैं जानता हूँ, चार मास पश्चात् तुम उसके पाँच सौ स्वर्ण मुद्रा पाओगे!'

भूधर—'मित्र, वही सब देख रहा हूँ। गोधन और अश्वधन नहीं, मनुष्यों का ही व्यवसाय करता हूँ। उसकी जाति देखते हो......पर्यङ्क पर पली है। द्विज कन्या है मित्र! गर्भिणी......और वह भी प्रथम गर्भ! तिस पर यह दीर्घ यात्रा! यदि फिसल गई तो!......बीस मुद्रा भी गये।'[1]

लघु परन्तु अर्थपूर्ण सम्वादों का उदाहरण देखिये—

अंशु—'आर्य, उचित अनुचित का विचार कर कुछ स्वीकार नहीं किया...... यह भाग्य है!'

मारिश—'भाग्य!......देवी, भाग्य का अर्थ है विवशता!'

'हाँ आर्य, विवशता!'

'भाग्य का अर्थ, असामर्थ्य।'

'हाँ आर्य, असामर्थ्य!'

'असामर्थ्य का अर्थ है, प्रयत्न और चेष्टा न करना।'

'नहीं आर्य! प्रयत्न और चेष्टा की। सामर्थ्य की सीमा-पर्यंत प्रयत्न किया और चेष्टा की और असमर्थ होकर असामर्थ्य को स्वीकार किया।'[2]

भावपूर्ण कथोपकथनों में सुन्दर शब्दावली में पिरोये हुए मुहावरे तथा लोकोक्तियों की छटा देखते ही बनती है—

अंशुमाला—'आर्य, सागल के शैविल्य वंश की कुमारी दिव्या मतिभ्रम से

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ११७, २. वही—पृष्ठ १४८।

अथवा भाग्य से जीवन की सरिता के अजाने प्रवाह में प्रवेश कर गई। जब वह उस प्रवाह में से निकली तो वह वेश्या नर्तकी अंशुमाला थी। वह अपने कौमार्य की पवित्रता भी खो चुकी। एक द्विज-स्वामी के लिये अर्पित न होकर वह समाज और जन की सम्पत्ति बन गई।'

रुद्रधीर—'भद्रे, काँचन की खान से लौह उत्पन्न नहीं हो सकता। वंश और कुल मनुष्य की शक्ति से ऊपर देवता की कृति है। मनुष्य न कुल दे सकता है, न ले ही सकता है। तुम्हारी धमनियों में विप्र का रक्त है। कीचड़ में गिरकर भी स्वर्ण पत्थर नहीं हो सकता। रुद्रधीर प्रतिज्ञा करता है, सागल के आचार्य पद पर वह तुम्हें पत्नी रूप से ग्रहण करेगा!'

अंशु—'आर्य की भावना के प्रति दासी अत्यंत कृतज्ञ है। अपनी प्रवृत्ति के कारण दासी कुल-वधू के सम्मान के योग्य नहीं। दुर्भाग्य की अग्नि में जलकर दासी ने स्वतंत्र नारी का कलंक पाया है। वही उसे प्रिय है।'

'क्या कहती हो कुमारी? तुम विप्र-कन्या हो!'

'आर्य! नदी का जल एक बार उच्छृङ्खल होकर प्रदेश में फैल जाने पर पुनः लौट कर नदी के तटों में नहीं सिमिट सकता!'[1]

यशपालजी ने छोटे संवादों के माध्यम से, सरल ढंग से दार्शनिक उक्तियाँ, सूक्तियाँ एवं व्यंगोक्तियाँ प्रकट की हैं। 'वैराग्य भीरू की आत्म प्रवंचना मात्र है', 'परिग्रह और त्याग केवल मन की दशा है', 'शत्रु तो आर्य, मन से होता है', 'कुत्ता कुत्ते को काटता है और मालिक के अन्न की रक्षा करता है' आदि।

'दिव्या' के संवाद चुटीले व्यंगपूर्ण एवं अर्थमय हैं।

भाषा-शैली

'दिव्या' की भाषा ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत है। भाषा में सहज प्रवाह मिलता है। शब्द-चयन में विशेष सतर्कता एवं परिष्कृत रुचि का आभास मिलता है। यशपाल का यह पहला उपन्यास है जिसमें तत्सम तथा अर्ध-तत्सम शब्दों का भाषा में विशेष आग्रह मिलता है। उस बौद्ध-काल के सांस्कृतिक वातावरण को सजीव करने के लिये ही कुछ असाधारण भाषा और शब्दों का प्रयोग आवश्यक समझा गया। संस्कृत की कोमल-कांत पदावली से युक्त भाषा में भी अपूर्व व्यंजक-शक्ति, चित्रण की सजीवता एवं सरस प्रांजल प्रवाह भी मिलता है। 'शब्द-माणिक' ही नहीं 'शब्द-कुसुम' भी मिलते हैं। वर्णन-शैली का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

'छिले हुए कदली के समान स्निग्धवर्ण दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया। उसका वेश और रूप रुचिर था। ग्रीवा से एक मुक्तावली और नये स्फुटित गलती कुसुमों की मालायें, गुलाबी कौशेय पट से पीठ-पीछे बँधे सुगोल उरोजों पर

१. 'दिव्या'—पृष्ठ १६६-६७।

झूल रही थीं। निरावरण क्षीणोदर की त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वर्तुल उभार। कटि पर पीत कौशेय शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्हलता हुआ। उसके कोमल बाहुओं पर मुक्तावली के अंगद और वलय थे। उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्तावलियों से गुँथे हुए थे। शरीर पर कठोर-स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नहीं, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे।'[1]

अंग्रेजी के मुहावरों का हिन्दी अनुवाद भी मिलता है। जैसे—'अवसर के देवता का मुण्डमस्तक से लटके केशों में छिपा रहता है। उसे पहचानना कठिन अवश्य है, परन्तु उसे वश किया जा सकता है तो केवल अग्रकेशों से। अवसर के सिर का पिछला भाग केशहीन है!'[2] 'जागती हुई चींटी की शक्ति सोते हुए हाथी से अधिक होती है।'[3] आदि!

'कषा' (कोड़े), 'पिप्परणी' (शहनाई), 'स्थूण' (खम्भा) 'शकट' (गाड़ी); 'निष्क' (सिक्का-मोहर) 'ईषत्' (बहुत थोड़ा) आदि अनेक असाधारण शब्दों का भी बहुल-प्रयोग मिलता है। कुछ प्रयोग खटकते भी हैं। जैसे—'श्मश्रु मुण्डे हुये'[4] (दाढ़ी मूँछ मुँडाये हुए) इस वाक्य में 'श्मश्रु' से अधिक 'मुण्डे' और उससे भी अधिक 'हुये' प्रयोग खटकता है। इसीप्रकार कहीं-कहीं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी मिलते हैं। दिव्या सोचती है—'अब मेरा शरीर आर्य का है, मेरा मन आर्य का है, मेरा आत्मा आर्य का है!'[5]

कुल मिलाकर 'दिव्या' की भाषा-शैली में ऐसी मनोहारी प्रांजलता एवं परिनिष्ठित शब्दावली का भव्य संभार मिलता है, जो दिल और दिमाग को गहराई से स्पर्श करता है। प्रारम्भ से अन्त तक शैली में एक विशेष लय और संगीत की हल्की सी गूँज मिलती है। सभी पात्र एक सी भाषा बोलते हैं।

देश-काल

'दिव्या' का देश-काल अत्यन्त व्यापक एवं सजीव है। बौद्धकालीन भारत की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक परिचय इस उपन्यास में मिलता है। यथार्थ ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण में लेखक को अकथनीय सफलता मिली है। उस समय एक ओर ऊँची जातियों में वर्णाश्रम धर्म के नियमों को पालन कराने की प्रबल महत्त्वाकांक्षा थी तो दूसरी ओर निम्न वर्ग के लोगों में उसे समूल नष्ट कर देने की कामना थी। धन से भी अधिक वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा थी। धन-संचय कर भी कोई निम्न-श्रेणी का व्यक्ति, वर्णाश्रम धर्म में प्रतिष्ठा नहीं अर्जित कर सकता था। ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मौर्य-कुल के अन्तिम राजा बृहद्रथ के वध और मगध की राज्य-क्रान्ति के समाचार सुदूर मद्र में अतिरंजित

---

१. 'दिव्या'—पृष्ठ ५७, २. वही—पृष्ठ ४५, ३. वही—पृष्ठ १७५, ४. वही—पृष्ठ १०, ५. वही—पृष्ठ ७४।

होकर पहुँचे। मगध में वर्णाश्रम का पुनरुत्थान होने के उत्साह से मद्र में भी चिर उपेक्षित यज्ञ-समारोह बलि सहित आरम्भ हो गये। मुण्डी-धर्म के विरुद्ध द्विजों का रोष प्रबल हो उठा। अपने को देवता का अंश समझनेवाले द्विज शासन और शक्ति को अपना जन्मजात अधिकार मानते। फलतः धर्म के नाम पर संघर्ष होते। बौद्धों का घटता हुआ प्रभाव तथा वर्णाश्रम धर्म की पुनः प्रतिष्ठा, इतिहास का एक ज्वलंत सत्य है, जिसे बहुत कुछ अविकल ढंग से हम 'दिव्या' में पाते हैं।

केन्द्रस के आक्रमण के प्रसंग में तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों पर लेखक ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। ग्रामों की जनता से सैनिकों के रक्षण के लिये 'कर-बलि' के रूप में जो कुछ प्राप्त किया जाता, वह सामन्तों के विलास में व्यय होता। राजपुरुष पहले जनता को लूटकर अपना घर भर लेना चाहते थे। शोषित जनता में आत्म-रक्षा का भाव नहीं रह जाता। और बिना जन-शक्ति के सहयोग के कोई राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता। इसी प्रसंग में बौद्धधर्म के प्रति निम्न लोगों के आकर्षण का रहस्य भी व्यंजक ढंग से लेखक ने प्रस्तुत किया है।

उस युग में 'न्याय' के प्रचलित विभिन्न रूपों पर भी लेखक ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। न्याय का उद्देश्य भी धर्म की रक्षा था। वह व्यक्ति की इच्छा का अनुसरण न करता था। ब्राह्मण को मृत्यु और कारावास का दण्ड शास्त्रानुसार नहीं दिया जाता था। उस युग में तांत्रिकों का भी व्यापक प्रभाव था। दिव्या अपनी दासी छाया से पृथुसेन की सुरक्षा के लिये तांत्रिक से एक 'महाशक्ति-कवच' प्राप्त करती है। प्रख्यात तांत्रिक बभ्रु से रत्नप्रभा ने अंशुमाला के मन का अवसाद दूर करने के लिये अनेक उपचार कराये थे। समाज के अन्दर वैयक्तिक समानता का बौद्ध-काल में अभाव था।

उस समय 'दास-प्रथा' वर्तमान थी। दास-दासियों के साथ पाशविक व्यवहार किया जाता। उनका जीवन हर समय खतरे में रहता। राज्य 'दासी' (दिव्या) को आत्महत्या करने से रोक सकता है, उस पर स्वामी (चक्रधर) की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने का अभियोग लगा सकता है, समाज दास-दासियों का निर्माण कर सकता है, 'धर्मस्थान' (बौद्ध-संघ) उसे अपनी शरण में लेने से पूर्व उससे पति तथा स्वामी की स्वीकृति माँग सकता है, परन्तु राज्य, समाज और धर्मस्थान सब मिलकर उस दूषित दास-प्रथा को नहीं रोक सकते? इसे न रोकने के मूल में शोषण की प्रवृत्ति थी। उपन्यासकार ने इसे केन्द्र-बिन्दु बनाकर सारी ऐतिहासिक परिस्थितियों की विवेचना की है।

उस युग में राज्य, शासन एवं समाज में 'कला' को विशेष महत्ता दी जाती थी। राजनर्तकी का राज्य में यथेष्ट सम्मान होता। वह कला, सौन्दर्य एवं अन्य योग्यताओं को दृष्टिगत रखकर अपनी उत्तराधिकारिणी की घोषणा करती। वर्ण-व्यवस्था

का बन्धन इतना कड़ा था कि कोई भी अभिजात-कुल की कन्या, ... चाहकर भी वेश्या-जीवन की स्वच्छंदता का उपयोग नहीं कर सकती थी।

उपन्यासकार ने तत्कालीन वेश-भूषा आदि के चित्रण में अत्यंत सतर्कता से काम लिया है। कलात्मक चित्रण मिलता है। उस युग में ... का भी यशपालजी ने सुन्दर प्रयोग किया है। परन्तु कुछ शब्दों का प्रयोग ... 'परम भट्टारक' यह शब्द पहली बार गुप्त-वंश के सम्राटों ने अपने नाम के ... किया। अतएव उस बौद्ध-युग में राजा के लिये इस उपाधि का प्रयोग ... लगता है।

उपन्यासकार ने अपने दर्शन के अनुरूप ऐतिहासिक तथ्यों ... है। 'दिव्या' को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि उस युग में यौन-पवि... महत्त्व न था। कामिनी और कदम्ब विलास के मुख्य उपकरण थे। ... दिन लेखक ने राजनर्तकी मल्लिका के प्रासाद में जो 'रास' अर्थ... सम्मिलित नृत्य (बाल-डांस) कराया है, ऐसे रासों की चर्चा इतिहा... नहीं मिलती। यौन-स्वच्छंदता के प्रमाण भले ही इतिहास में ढूँढ़ने पर ... लेकिन पाश्चात्य शैली के इस 'बाल-डांस' की कहीं चर्चा नहीं मिलती। ... का यह चित्रण भारतीय संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध एवं अतिरंजित ऐतिह... है। 'भोगवाद' के जिस दर्शन का लेखक ने मारिश द्वारा प्रतिपादन करा... तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाता। डा० भागवतशरण उ... अनुसार उस काल में सब दर्शन 'मोक्ष-प्रधान' थे।

परन्तु लेखक ने प्राक्कथन में यह स्पष्ट कर दिया है—'दिव्या' इति... ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज ... और गति का चित्र है। लेखक ने कला के अनुराग से काल्पनिक चित्र में ... वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।"[1]

और इन पंक्तियों के प्रकाश में ही हम 'दिव्या' का सही मूल्यांकन क... कल्पनाजीवी भावुक लेखक इतिहास के खँडहर में भी नवीन का अंकु... है। सहृदय समालोचक को इसे उसकी सीमा न मानकर, सफलता ... समझना चाहिये।

'दिव्या' यशपाल की ही एक श्रेष्ठ कृति नहीं है, वरन् हिन्दी का ए... कारी, महत्त्वपूर्ण एवं अपने ढंग का अकेला सरस उपन्यास है।

———

1. 'दिव्या'—पृष्ठ ५।